पाश्चात्य काव्यशास्त्र

इतिहास, सिद्धान्त और वाद

डॉ० भगीरथ मिश्र

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

इतिहास, सिद्धान्त और वाद

डॉ० भगीरथ मिश्र
पूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
तथा
पूर्व कुलपति
सागर विश्वविद्यालय, सागर

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

PĀSHCHĀTYA KĀVYASHĀSTRA

ITIHĀS, SIDDHĀNTA AURA VĀDA

by

Dr. Bhagirath Mishra

ISBN : 81-7124-435-1

पंचम संस्करण : 2007 ई०

मूल्य : अस्सी रुपये (Rs. 80.00)

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी-221 001

फोन व फैक्स : (0542) 2413741, 2413082

E-mail : vvp@vsnl.com ● sales@vvpbooks.com

Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-221 001

प्राक्कथन

पाश्चात्य काव्यशास्त्र का परिप्रेक्ष्य, भारतीय काव्यशास्त्र से काफ़ी भिन्न है। भारतीय काव्यशास्त्र का विवेचन भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से हुआ जिसमें नाट्य-रचना पर उतनी सामग्री नहीं मिलती जितनी नाट्याभिनय पर। इस नाट्यशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य रस या रसानुभूति था। पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आरम्भ यूनान में हुआ जिसमें महाकाव्य और विषादान्त नाटक के आधार पर उसके सामाजिक पक्ष पर विचार किया गया। विवेचन, मनोवृत्तियों को शुद्ध और परिष्कृत करता है, जो कि विषादान्त नाटकों द्वारा प्रतिपादित होता है। भारतीय नाटक रस-प्रधान होने के कारण आनन्दप्रद या सुखान्त ही माने गये। भय, रौद्र आदि मध्य में आनेवाले अन्तिम सिद्धि की सफलता को अधिक आनन्दप्रद बनाने की दृष्टि से रखे गये। रसानुभूति ही नाटक का मुख्य लक्ष्य था। रस आरम्भ में नाटक का ही प्रतिपाद्य समझा जाने के कारण, काव्य-विवेचन की सीमा से बाहर रखा गया और अलंकार या चमत्कार, काव्य का मुख्य विषय रहा। आगे अलंकार को बाह्य तत्त्व मानकर रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, रस, औचित्य आदि को काव्य की आत्मा सिद्ध किया गया और इन्हीं तत्त्वों का सैद्धान्तिक विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र का मूल लक्ष्य रहा। काव्यशास्त्र का व्यापक क्षेत्र काव्यसौन्दर्य और नाट्य-रस के विवेचन से परिव्याप्त रहा।

परन्तु पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य के मूल तत्त्व को लेकर उस प्रकार का सैद्धान्तिक विवेचन नहीं हुआ। वहाँ काव्यशास्त्र काव्य और नाटक से प्रारम्भ अवश्य हुआ; परन्तु आगे चलकर काव्यशास्त्र, कलाशास्त्र के रूप में विकसित हुआ जिसमें काव्य के साथ-साथ चित्र और संगीत का भी विवेचन हुआ। कला का मूल प्रतिपाद्य सौन्दर्य है, इस आधार पर सौन्दर्य का दार्शनिक विवेचन पाश्चात्य काव्यशास्त्र की विशिष्टता ही नहीं, वरन् उसका एक विकसित पक्ष है। सौन्दर्य क्या है? उसके मूल तत्त्व कौन-कौन हैं? उसका प्रभाव क्या है? सौन्दर्य वस्तुपरक है या व्यक्तिपरक? वह वस्तुनिष्ठ है या व्यक्तिगत आस्वाद है? आदि प्रश्नों पर गहराई से विचार पाश्चात्य सौन्दर्य-दर्शन या ईस्थिटिक्स में किया गया। भारतीय रस-सिद्धान्त में इन प्रश्नों पर कुछ विचार हुआ है; पर व्यापक कलानिष्ठ सौन्दर्ग पर इतनी गहराई से विचार नहीं किया गया, जबकि पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय विचारणा में सौन्दर्य-मीमांसा मुख्य अंग है। दर्शन से जुड़े होने के कारण परम सत्य, गोचर सत्य और अनुकृत सत्य पाश्चात्य विचारणा के प्रस्थान-बिन्दु ही नहीं, वरन् पूरे काव्यशास्त्रीय इतिहास में विचार-सूत्र बने रहे—चाहे वह यूनानी इतिहास हो, चाहे रोमन, फ्रेञ्च, जर्मन या रूसी काव्य-चिन्तन हो। काव्य या कला को प्रकृति की अनुकृति ही माना गया। अनुकृति की व्याख्या अवश्य अलग-अलग हुई। कुछ ने यथावत् अनुकृति माना और कुछ ने कला और

काव्य को प्रकृति की पुनः सर्जना के रूप में स्वीकार किया। भारतीय काव्यशास्त्र में ऐसा नहीं हुआ। नाटक के लिए दशरूपककार ने अवश्य लिखा—

अवस्थाऽनुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समारोपात्।

इस प्रकार मनःस्थिति की अनुकृति को नाट्य कहा गया है। काव्य में प्रकृति का अनुकरण स्वीकार न करके जीवन के चित्रण में प्रकृति का यथावश्यक समावेश अवश्य किया गया। इसके विपरीत पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रकृति को काव्य और कला का आदर्श या 'मॉडेल' स्वीकार किया गया। उसी का वास्तविक और जीवन्त चित्रण कलाकार के लिए आदर्श माना गया। यह पाश्चात्य काव्यशास्त्र का दूसरा भेदक तत्त्व है।

शास्त्रीयता और स्वच्छन्दता का द्वन्द्व भी पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इतिहास में देखा जा सकता है। शास्त्रीयता से ग्रस्त काव्य और कला-रचना को मुक्त करने का कार्य इटैलियन कवि दान्ते से आरम्भ हुआ जिन्होंने इटालवी जनभाषा में काव्य-रचना को महत्त्व प्रदान किया। इसी प्रकार प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काण्ट की इस मान्यता और स्थापना से कि प्रतिभा, नियम या शास्त्र का अनुगमन नहीं करती, यूरोप में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का आरम्भ हुआ और उससे रोमाण्टिक या स्वच्छन्दतावादी काव्यशास्त्र या कला-सम्बन्धी मान्यताओं को बड़ा बल मिला। इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप अनेक कवि यूरोपीय भाषाओं में, विशेष रूप से फ्रेञ्च और अंग्रेजी भाषाओं में हुए। वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली और कीट्स जैसे अंग्रेजी कवियों का विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा और समयान्तर से भारतीय साहित्य भी उनसे प्रभावित हुआ। कवीन्द्र रवीन्द्र पर स्वच्छन्दतावाद रहस्य-भावना के साथ नवीन लय प्रयोग के रूप में आया तथा हिन्दी के छायावादी कवि प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी के काव्य में उसने अपना नया रूप ग्रहण कर लिया। स्वच्छन्दतावाद के साथ-साथ ही कलावाद, अभिव्यंजनावाद और अस्तित्ववाद के मतों का विकास हुआ। अस्तित्ववाद एक प्रकार से स्वच्छन्दतावाद के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा मनोविश्लेषण के अहंवाद का परिणाम है। अस्तित्ववाद में आस्तिकवाद के साथ-साथ परोक्ष सत्ता का स्वीकार-भाव था; परन्तु मार्क्सवाद के प्रभाव से ईश्वरीय या अन्य परोक्ष सत्ता का खण्डन हुआ; परन्तु व्यक्तिवाद की डटकर स्थापना हुई; जबकि मार्क्सवादी विचारधारा में समाज के लिये व्यक्ति के निषेध का भाव है। व्यक्तिवाद और समाजवाद का द्वन्द्व ही वास्तव में पूँजीवाद और साम्यवाद के राजनीतिक वादों के मूल में है। वह आज भी बरकरार है।

व्यक्तिवाद का एक रूप यथार्थवाद के अन्तर्गत देखा जाता है जो अस्तित्ववादी साहित्य का प्रधान प्रदेय बन गया। कुण्ठा, निराशा, अविश्वास, घृणा, विरोध, मर्यादाविघटन आदि के नग्न चित्रण इसके प्रभावस्वरूप सामने आये। इनके प्रतिक्रिया-स्वरूप, मूल्य-सिद्धान्त, निर्वैयक्तिकता का मत, इतिहास और परम्पराबोध तथा सम्प्रेषणीयता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। साथ ही साथ मनोविज्ञान ने जो व्यक्ति-मनोविश्लेषण को महत्त्व देकर कवि और कलाकार के जीवन और मनोवृत्तियों के

विश्लेषण पर बल दिया था, उसके विरोध में आधुनिक नयी समीक्षा ने रचनाकार के स्थान पर उसकी रचना या कृति के विवेचन को अतिशय महत्त्व प्रदान किया। यह विवेचन भी कृति के शब्द-विन्यास और बिम्ब-योजना से विशेष सम्बद्ध है। काव्य-सौन्दर्य के विवेचन का स्थान धीरे-धीरे शैली-विज्ञान लेता जा रहा है जिसमें कभी मनोतत्त्व पर बल दिया जाता है, तो कभी भाषा-तत्त्व पर। वस्तु-तत्त्व नयी समीक्षा में गौण हो गया है। परन्तु समाजवादी चिन्तकों के बीच, वस्तु और विचार का विशेष महत्त्व बना हुआ है।

इस प्रकार पाश्चात्य काव्य-कला-चिन्तन समुद्र के ज्वार-भाटे के समान ऐतिहासिक और सामाजिक परिवर्तनों की क्रिया-प्रतिक्रिया के थपेड़ों के साथ चिन्तन को बढ़ाता हुआ, उसे नये-नये दृष्टिकोणों के क्षितिजों से जोड़ता जा रहा है। यदि हम ध्यान से देखें, तो इनमें प्रायः पुरानी मान्यतायें अपने नये परिधान में प्रस्तुत की गयी हैं। फिर भी चिन्तन के तथाकथित नयेपन ने कला और रचना को प्रभावित अवश्य किया है, इसमें सन्देह नहीं।

एक बात और ध्यान देने की है कि पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिन्तन में प्रायः सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण रहा है। उसने रचना और कला के देखने-परखने के अनेक मार्ग उद्घाटित किये हैं। प्रायः कविता और चित्रकला के आन्दोलन साथ-साथ चलते रहे हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते रहे हैं। इन दोनों कलाओं में वस्तुवादी और भाववादी विचारधारायें साथ-साथ चलती रही हैं और आज भी चल रही हैं।

मेरा इस पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इतिहास, सिद्धान्त और वाद पर कुछ लिखने का उद्देश्य यही है कि हम सिद्धान्तों और वादों को इतिहास और परम्परा के प्रकाश में देख सकें और पाश्चात्य कला-साहित्य-चिन्तन को उसकी समग्रता में हृदयंगम कर सकें।

अपने इस कार्य को पूर्ण करने में मुझे अनेक ग्रन्थों और लेखों से सहायता लेनी पड़ी है। मैं उनके लेखकों के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

एच-9, पद्माकरनगर, मकरोनिया
सागर (म.प्र.)

भगीरथ मिश्र

❑

विषय-सूची

द्वितीय खण्ड
सिद्धान्त और वाद

❑

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

प्रथम खण्ड

इतिहास

: 1 :

पाश्चात्य काव्यशास्त्र का इतिहास
प्राचीन काल

(क) यूनानी काव्य-चिन्तन

पाश्चात्य काव्य-चिन्तन का श्रीगणेश यूनान में हुआ। यों तो काव्यशास्त्र का स्वरूप प्लेटो और अरस्तू की रचनाओं में ही प्राप्त होता है; परन्तु काव्य के स्वरूप और काव्य-विषयों पर समीक्षा और आलोचना तो काव्य-रचना के साथ ही आरम्भ हो गयी थी। श्रव्य या दृश्य काव्य जब से आरम्भ हुआ, तभी से उसके सौन्दर्य की प्रशंसा, दोषों की आलोचना तथा उससे प्राप्त आनन्द एवं आस्वाद का विश्लेषण भी होने लगा। वास्तव में किसी वस्तु, दृश्य या रचना को देखकर, उस पर अच्छी, बुरी या तटस्थ प्रतिक्रिया व्यक्त करना मानव का स्वभाव है। *हिस्ट्री ऑफ ईस्थिटिक्स* के लेखक 'बोसानके' ने अपने ग्रन्थ में यूनान के प्रथम महाकवि 'होमर' के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ *इलियड* से एक उद्धरण देकर बताया है कि काव्य-ग्रन्थ में भी सौन्दर्य का विवेचन मौजूद है।[1] काव्य अथवा कलाकृति के सौन्दर्य का विवेचन सौन्दर्य-शास्त्र की मूलभूत प्रक्रिया है। इसी के आधार पर सौन्दर्य-शास्त्र और काव्य-शास्त्र का निर्माण होता है।

यूनान का सबसे पहला महाकवि 'होमर' था। यूनान ही नहीं, सारे यूरोप में वह सर्वोत्कृष्ट कवि और महाकवि माना जाता है। होमर की दो महाकाव्य-कृतियाँ हैं—एक *इलियड* और दूसरी *ओडेसी*। इन दोनों महाकाव्यों के वस्तु-वर्णन, चरित्र-चित्रण, भावों का प्रभावशाली उद्‌घाटन तथा जीवन का विवेचन और भाषा-शैली का आधार लेकर महाकाव्य और काव्य के लक्षणों का आगे चलकर निर्माण हुआ। होमर की महान् रचनाओं का उद्देश्य आनन्द प्रदान करना है। इसमें साहित्यिक उत्कृष्टता तो है ही, समकालीन यूनानी संस्कृति, धर्म और दर्शन का भी विवेचन हुआ है। यह शौर्य और वीरता के साथ-साथ उच्च चरित्रों तथा जीवन के उदात्त स्वरूप का चित्रण करता है—इसी से उसका साहित्य में शाश्वत महत्त्व है।

होमर का समय ई.पू. नवीं शताब्दी माना जाता है। उसके उपरान्त 'हैसियड'

---

1. Natural commonsense expressed this faith in use of the earliest aesthetic judgment that western literature contains, when on the 'shield of Achilles' the Homeric poet says, "That earth looked dark behind the plough and like to ground that had been ploughed, although it was made of gold, that was a marvellous piece of work". (11,17,358)

—*History of Aesthetics* by Bosanquet, p. 12.

की रचनायें प्राप्त होती हैं। इसका समय ई.पू. आठवीं शताब्दी माना जाता है। इनकी सुप्रसिद्ध रचना *थ्यागोनी* है। साथ ही अन्य रचनायें भी प्राप्त होती हैं। हैसियड की रचनाओं में आनन्द के साथ ही साथ नैतिकता पर बल है। आनन्द के साथ-साथ शिक्षा प्रदान करना भी साहित्य का उद्देश्य है, यह उनकी मान्यता है। काव्य के द्वारा मानव का हित सम्पन्न होना चाहिए। वास्तव में जीवन-दर्शन इस समय के कवियों का मुख्य प्रेरक तत्त्व रहा है।

ई.पू. छठीं शताब्दी के ग्रीक साहित्य में काव्य-सौन्दर्य के समीक्षा-सम्बन्धी छुट-पुट विचार प्राप्त होते हैं। परन्तु इन विचारों का स्वरूप शास्त्रीय न होकर काव्यात्मक है।[1] वास्तव में छठीं शती ई.पू. तक यूनान में काव्य-रचना का ही प्रयत्न दिखाई देता है, सिद्धान्त-रचना या समीक्षा का नहीं।

जिस प्रकार होमर और हैसियड अपने महाकाव्यों के लिए प्रख्यात हैं, उसी प्रकार यूनानी साहित्य के अन्तर्गत 'पिण्डार' का नाम महान् गीतिकार के रूप में सुप्रसिद्ध है। इनका समय छठीं शती ई.पू. का उत्तरार्द्ध और पाँचवीं शती ई.पू. के पूर्वार्द्ध के बीच माना जाता है। इनकी सुविख्यात कृति *इपीनिका* है जिसने परवर्ती लैटिन कवियों और विशेष रूप से *होरेस* को प्रभावित किया है। उनके फुटकर वक्तव्यों में प्रकट विचारों से काव्य-सम्बन्धी कुछ धारणायें स्पष्ट होती हैं। उनके विचार से काव्य-रचना आन्तरिक प्रेरणा से ही होती है। ऐसी रचनाओं में कला का समावेश स्वतः हो जाता है। अन्तः-प्रेरणा से रचा गया काव्य निश्चय ही उस रचना से अधिक उत्कृष्ट होता है जो कला का ज्ञान प्राप्त कर कला के लिए लिखी गयी है। पिण्डार के ही समकालीन 'गॉर्जियस' ने भी अपने भाषणों में काव्य के प्रभाव के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनका कहना है कि काव्य से मानव-मन पर एक विशेष प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव के कारण भय और चिन्ता से मुक्ति मिलती है और एक विशिष्ट प्रकार के आनन्द की प्राप्ति होती है। काव्य के इस प्रभाव की निर्मिति शब्द-रचना और छन्द-विधान के द्वारा होती है। नैतिक भय और करुणा का संचार करने की काव्य में अद्भुत शक्ति है। इन विचारों का आगे चलकर अरस्तू पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा।

---

1. "We find as might be expected, some isolated remarks which may be called critical as implying an aesthetic judgment. But Simonides for example defined poetry as vocal painting and painting as silent poetry, or when Coriana gave her pupil Pindar the advice to sow (myths) with hand, notwith the whole sack. These criticisms do not, ofcourse, imply any reasoned or systematic theory of art; they are simply deductions which any poet might easily draw from his own experience. In general the great Lyricists of the 6th Century B.C. were too busy with their own magnificient practice to feel need for theoretic effort."

—*Greek View of Poetry* by E.E. Sikes, p. 11.

पाँचवीं शती ई.पू. के लगभग अलंकार-शास्त्र (रिटैरिक्स) या वक्तृत्व-कला का प्रचार आरम्भ हुआ। कुछ विद्वानों के विचार से 'सोफिस्ट' को पहला अलंकार-शास्त्री कहा जा सकता है।[1] परन्तु कुछ अन्य का विचार है कि 'एम्पीडॉकिल्स' ने ही अलंकार-शास्त्र का अन्वेषण किया था।[2] अलंकार-शास्त्र यूनानी लोगों के जीवन में व्यावहारिक उपयोग में आनेवाली कला का शास्त्र था। अपनी बात को प्रभावशाली ढंग से कहकर मनवा लेना तथा सत्य को झूठ और झूठ को सत्य सिद्ध कर देना, उनकी प्रवृत्ति थी। सोफिस्ट के प्रभाव से इस कला का खूब प्रचार हुआ; क्योंकि मुकदमेबाज यूनानी, इस कला से अपने मुकदमे जीतते थे। धीरे-धीरे यही शास्त्र गद्य-शैली-निर्माण की ओर झुका और अलंकार का प्रयोग गद्य-रचनाओं में होने लगा। यह अलंकार-शास्त्र या वक्तृत्व-कला-शास्त्र का प्रतिद्वन्द्वी बन गया। इस अलंकार-शास्त्र या भाषण-शास्त्र पर अनेक ग्रन्थ भी लिखे गये जिससे भाषा की प्रभावशाली शैलियों का विकास हुआ।

अरिस्टोफनीज़ : परवर्ती विचारकों में 'अरिस्टोफनीज़' का विशेष महत्त्व है। इसका समय 445 ई.पू. से लेकर 385 ई.पू. तक माना जाता है। 'अरिस्टोफनीज़' एक मनोविनोदी और व्यंग्य-लेखक था। इसने अपने नाटकों में प्रसिद्ध चिन्तक सुकरात और 'यूरोपिडीज़' की हँसी उड़ाई है जिन्होंने नये ज्ञान को प्रचारित और जिज्ञासु प्रवृत्ति को प्रेरित किया था। इनका कार्यक्षेत्र एथेन्स रहा, पर वह एथेन्स का नागरिक था, इसमें सन्देह है। कहा जाता है कि इन्होंने 54 हास्य-नाटक लिखे जिनमें केवल 19 प्राप्त होते हैं। इन्होंने समकालीन घटनाओं और प्रसंगों पर ही प्रायः लिखा है, पर इनकी भाषा काव्यात्मक और प्रभावशाली है।

कुछ विद्वान् इन्हें उत्कृष्ट आलोचक मानते हैं। इनके विचार से ह्रासोन्मुख साहित्य सामाजिक पतन का कारण होता है। उनकी आलोचना का मुख्य आधार यूरोपिडीज़ के नाटक रहे। उनके संकेतात्मक विचार महाकाव्य, गीतिकाव्य तथा सुखान्त-दुःखान्त नाटकों पर भी प्राप्त होते हैं। साहित्य रचना में उन्होंने कल्पना के महत्त्व का प्रतिपादन किया तथा रूढ़ि, आडम्बर और वैचारिक संकीर्णता का विरोध किया। वे साहित्य में चमत्कार-प्रदर्शन के घोर विरोधी थे। उन्हें काव्य और नाटक में अनावश्यक भूमिका, वाग्विलास, कृत्रिम शब्दावली तथा बनावटीपन बिलकुल नापसन्द थे। वे सहज

---

1. "That the Sophist was the first Rhetorician, would be allowed by his accusers as well as his apologists; and though Rhetoricians long fallowed wandering fires before it recognised its star and became literary criticism, yet nobody doubts that we must look to it for what literary criticism we shall find in these times."
—*A History of Literary Criticism* by George Saintsbury, p. 14.
2. "Empedocles, according to some tradition was the inventor of Rhetoric—who certainly was a native of the island where Rhetoricarose—the Chief Speaker among the old philosophers."
—*A History of Literary Criticism* by G. Saintsbury, p. 13.

स्वाभाविक संवादों और भाषा-शैली के समर्थक थे। वे उदात्त मूल्यों और धार्मिक आदर्शों की प्रतिष्ठा के लिए सुखान्त आनन्दप्रद नाटकों की रचना के पक्षपाती थे, क्योंकि इनसे लोगों के हृदय में आशा और उत्साह का संचार होता है, जबकि दुःखान्त नाटक यथार्थपरक होने के कारण, निराशा और विषाद के भाव जगाकर लोगों में जीवन के प्रति उत्साह और संकल्प को कम करनेवाले होते हैं। उनका स्पष्ट मत था कि जिस प्रकार शिक्षक और शिक्षा, अशिक्षित और अपरिपक्व बुद्धि वालों को शिक्षित बनाकर मार्गदर्शन करते हैं, उसी प्रकार साहित्य विकसित और परिपक्व बुद्धि वालों का मार्गदर्शन करता है। उनका विचार था कि साहित्य, युगीन जीवन की सामाजिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों का आकलन तो करता ही है, साथ ही साथ वह नयी सम्भावनाओं का भी उद्घाटन करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पाँचवीं और चौथी शताब्दी ई.पू. के साहित्य-चिन्तकों में 'अरिस्टोफनीज़' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। काव्यशास्त्रीय चिन्तन के बीज हमें उनके साहित्य में उपलब्ध होते हैं। वे महात्मा सुकरात, नाटककार 'यूरीपिडीज़' तथा राजनीतिक चिन्तक प्लेटो के समकालीन थे।

सुकरात (Socrates) : सुकरात यद्यपि एक सन्त, महात्मा, दार्शनिक चिन्तक, और तार्किक व्यक्ति थे; पर काव्यशास्त्र-सम्बन्धी उनके कोई प्रत्यक्ष विचार नहीं मिलते। उनका विश्वास था कि शिक्षा सद्गुणों का विकास करती है। ज्ञान वास्तव में सद्वृत्ति ही है। मनुष्य को प्रेरणा अपनी आत्मा की आवाज़ से लेनी चाहिए। सत्य ही शिव है और सुन्दर भी। अपने जीवन और उपदेशों से सुकरात ने नैतिकता, सदाचार एवं सचाई के ज्ञान पर बल दिया तथा अपने युग के युवकों में नैतिक संस्कार डाले जिसके परिणामस्वरूप साहित्य में मनोरंजन की अपेक्षा सचाई और नैतिकता का महत्त्व बढ़ा। परन्तु उनकी चिन्तना उनके पट्टशिष्य प्लेटो के माध्यम से सामने आयी जो एक आदर्शवादी विचारक और राजनीतिक दार्शनिक थे। उनके आदर्श राज्य की कल्पना सुप्रसिद्ध है। सुकरात का समय 469 ई.पू. से 399 ई.पू. तक माना जाता है।

प्लेटो : प्लेटो, सुकरात के प्राणदण्ड के पश्चात् व्यावहारिक राजनीति छोड़कर राजनीतिक-दर्शन की ओर मुड़े। उनका ग्रन्थ 'रिपब्लिक' राजनीतिक चिन्तन और आदर्श राज्य का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। उनके अधिकांश ग्रन्थ संवादों के रूप में हैं। प्लेटो का जन्म ई.पू. 428 में हुआ था। यह निश्चित नहीं कि उनका जन्म 'एथेन्स' में हुआ या 'एजिना' में। उनके पिता 'अरिस्टोन' और माता 'पेरिक्टियोन' थीं। पिता और माता दोनों के परिवार एथेन्स के सुप्रसिद्ध परिवार थे। माता के भाई-बन्धु सुकरात के मित्र थे। सम्भवतः इसी कारण से प्लेटो महान् दार्शनिक सुकरात के इतने निकट रहे तथा उनके विचारों और तर्क-पद्धति से इतने अधिक प्रभावित हुए। सुकरात को नवयुवकों को मार्ग-भ्रष्ट करने के अपराध में मृत्युदण्ड दिया गया। प्लेटो ने सुकरात को कारावास से बाहर निकल जाने की पूरी व्यवस्था कर ली थी, पर सुकरात ने उसे स्वीकार नहीं किया और यह कहा कि राजकीय कानून हमारे ही बनाये हैं और वे खड़े होकर हमें धिक्कार रहे हैं कि तुम्हीं ने हमें बनाया और तुम्हीं हमें अपमानित कर रहे हो। मेरे पास उनके लिए जवाब नहीं है।

ऐसा कहकर सुकरात ने विष का प्याला पी लिया। सुकरात की मृत्यु के पश्चात् प्लेटो को विश्वास हो गया कि सच्चे और ईमानदार व्यक्ति के लिए सक्रिय राजनीति में कोई स्थान नहीं है। सुकरात के प्राण-दण्ड के उपरान्त प्लेटो एथेन्स के बाहर चले गये और मिस्र, सिसली, इटली और यूनान के अनेक स्थानों की यात्रा की। यात्रा के दौरान लोगों के विलासी जीवन को देखकर उनके मन में विरक्ति जाग्रत् हुई और एथेन्स लौटकर उन्होंने ई.पू. 387 में 'अकादमी' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य दार्शनिक और वैज्ञानिक अनुसन्धान का व्यवस्थित विकास करना था। अपने जीवन के शेष 40 वर्षों तक प्लेटो 'अकादमी' में ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन-अध्यापन और शोध-कार्यों का संचालन करते रहे। कहते हैं कि प्लेटो बिना किसी आलेख के ही 'अकादमी' में व्याख्यान दिया करते थे। प्लेटो की मृत्यु ई.पू. 348/347 में एक वैवाहिक भोज के समय हुई। कुछ विद्वानों का मत है कि लेख लिखते हुए ही प्लेटो की मृत्यु हुई।

प्लेटो की 'अकादमी' यूरोप की प्रथम युनिवर्सिटी मानी जा सकती है। इसी में काम करते हुए प्लेटो ने अपने सुप्रसिद्ध संवाद (Apologia) और आलेख (Epistles) लिखे जिनमें उस समय के ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी विविध विषयों पर व्यवस्थित विचार प्रकट किये गये हैं। प्लेटो पर सुकरात के विचारों का गहरा प्रभाव था। प्लेटो के कुल 36 ग्रन्थ माने जाते हैं जिनमें 23 संवाद और 13 आलेख या पत्र हैं।[1] इनमें दर्शन, विज्ञान और राजनीति पर चिन्तक और दार्शनिक प्लेटो के विचार प्रकट हुए हैं। इनमें 'पोलिटिया' (दि रिपब्लिक) और 'नोमोइ' (लॉज) अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। काव्यशास्त्र पर प्लेटो ने अलग से नहीं लिखा, वरन् राज्यशास्त्र पर विचार करते हुए ही उन्होंने प्रायः कवि, कलाकार और उनकी कलाओं पर अपना मत प्रकट किया है। वे कवि, कलाकार तथा उनकी कृतियों को राजनीति, शासन-व्यवस्था और नैतिकता के परिप्रेक्ष्य में ही देखते रहे। कलाओं के सम्बन्ध में उनके विचार 'आयोन' और 'रिपब्लिक' में पाये जाते हैं। प्लेटो के विचार से कवि तर्करहित होकर आवेग और भावनाओं से अपनी रचना करता है, अतः वे रचनाएँ वैज्ञानिक नहीं होतीं और समाज को उत्तेजित कर उसे अनैतिक तथा अनुशासनहीन बनाती हैं। इस प्रकार उनकी कृति वांछनीय नहीं।[2]

प्लेटो *दैवी प्रेरणा* पर विश्वास करते थे। उनके विचार से इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटनाओं के पीछे दैवी प्रेरणा काम करती है। कवि भी दैवी प्रेरणा के वशीभूत होकर ही काव्य-रचना और कलाकार कला की सृष्टि करता है।[3] उनका विचार है कि कवि

---

1. *Encyclopaedia Britannica*—Vol. 14 (Plato), p. 538.
2. वही, पृ. 534.
3. For not by art does the poet sing, but by power Divine; had he learned by rules of art, he would have known how to speak not of one theme only, but of all. And reason is no longer with him, no man while he retains that faculty has the oracular gift of poetry.

   —*Dialogues of Plato* by B. Jowett, p. 108.

के भीतर नयी उद्भावना और भावावेश कला से नहीं, वरन् दैवी प्रेरणा से ही आविर्भूत होता है। उत्कृष्ट काव्य उच्च भावनाओं, उच्च विचारों और ज्ञान का संचार करता है; अतः वह समाज के लिए उपयोगी होता है। इसके विपरीत निम्न कोटि का काव्य अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को नहीं निभाता और समाज में अनैतिकता और भ्रष्टाचार को फैलाता है तथा उच्च आदर्शों को क्षीण बनाता है। उनके प्रति अनास्था का भाव जगाता है। अतः समाज के लिए घातक है। वह ज्ञान, धर्म, नीति और ईश्वर-विरोधी होने से अग्राह्य है।[1] कवि की कविता भले आदमियों को भी प्रभावित करती है और उन्हें भी धर्म और नीति के मार्ग से विचलित कर सकती है। अतः प्रभावशाली होने के कारण यह भयावह है।[2] पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वे कवियों की निन्दा करते हैं। वे उन्हें परमात्मा या दैवी भावना को व्यक्त करनेवाला मानते हैं। वे उन्हें सन्तों और पैगम्बरों की कोटि में रखते हैं और यह मानते हैं कि उनके माध्यम से परमात्मा स्वयं हमसे बात करता है।[3]

प्लेटो कला को 'अनुकृति' मानते हैं। उनका यह मत है कि हमारा उत्तम अंश (उनका तात्पर्य बुद्धि से है) तर्क का अनुसरण करता है, जबकि तर्कहीन भावनापक्ष या संवेग-पक्ष हमारे कष्टों से उद्वेलित हो जाता है और शोक-दुःख आदि से ग्रस्त हो जाता है। दुर्भाग्य से यही पक्ष अनुकृत्यात्मक कलाओं के लिए प्रमुख सामग्री उपलब्ध कराता है। हम नाटक और काव्य में लोगों के अनुचित और ऐसे कुकर्मों को देखते-सुनते हैं जिनसे हमें घृणा है। कविता अपनी शक्ति से ऐसी बातों का चित्रण कर हमारे संवेगों और वासनाओं को प्रेरित करती तथा हमें आघात पहुँचाती है।

---

1. This is enough to show that we shall be right in refusing to admit him into a state, which is to be well-ordered, because he awakens and nourishes this part of the soul of each man, and by strengthening it impairs the reason..... . So in the soul of each man, as we shall maintain; for he indulges the irrational nature which has no discernment of greater and less but thinks the same thing at one time great and at another small.

   —*Dialogues of Plato,* Vol. II, p. 481.

2. But we have not yet brought forward the heaviest count in our accusation :— The power which poetry has of harming even the good (and there are very few who are not harmed), is surely and awful thing. —*Dialogues of Plato,* Vol. II, p. 481.

3. God takes away reason from poets, and uses them as his ministers, as he also uses the pronouncers of oracles and Holi prophets, in order that we who hear them may know them to be speaking not of themselves who utter these priceless words, while bereft to reason, but that God himself is the speaker and through them, he is addressing us. —*Dialogues of Plato,* p. 108.

कवि या कलाकार जिसका चित्रण करता हैं, उसका सही वास्तविक पूर्ण ज्ञान हो, यह आवश्यक नहीं। वह योद्धाओं और शस्त्रास्त्रों का चित्रण करता है, पर युद्ध-विद्या और शस्त्र-चालन का पूरा ज्ञान उसे हो, यह आवश्यक नहीं। वह डॉक्टर का चित्रण करता है, योगी और साधु पुरुषों का चित्रण करता है। पर वह उनके समान उन विद्याओं और गुणों का पालन करता हो, यह अपेक्षित नहीं। उसका चित्रण काल्पनिक और बाह्यरूपात्मक है। जो उन बातों का वास्तविक ज्ञान नहीं रखते, वही उससे प्रभावित होते हैं, क्योंकि वह वास्तविकता या सत्य का काल्पनिक प्रतिरूप या अनुकृति है। अतएव प्लेटो की मान्यता यह है कि कवि या कलाकार का चित्रण वास्तविकता और सत्य से तिगुना दूर होता है; क्योंकि यह वास्तविक सत्य की अनुकृति की अनुकृति है। उनका विचार है कि ईश्वर ही सत्य है। उसने एक अखण्ड सत्य की रचना की जो मानसिक है। प्रकृति या सृष्टि उसकी अनुकृति या प्रतिरूप है। कलाकार और कवि का प्रेरक तत्त्व जीवन और प्रकृति है जो ईश्वर ने वास्तविक सत्य के अनुरूप बनाई है। अतः कवि और कलाकार की रचना सत्य से तिहरे आवरण में है—तिगुनी दूरी पर है। इसलिए उसका महत्त्व दार्शनिक सत्य से घटकर है।[1]

प्लेटो का मत है कि जब हम आपत्ति में फँसे होते हैं और दुःखी और शोकग्रस्त होते हैं, तब हम रोते और विलाप करते हैं। उस समय जो हमें सान्त्वना देता है और दुःख को दूर करता है, उसका हम स्वागत करते हैं। दुःख और शोक का शमन करना ही मानव को सुख-शान्ति देनेवाला तथा सत्कार्य में प्रवृत्त करनेवाला होता है। पर, कविता हमारी इस प्रकार की शोक, दुःख, क्रोध की वासनाओं को और भी उभारती एवं उत्तेजित करती है, उनका शमन नहीं करती। वह अपनी मधुर शब्दावली और लयात्मक भाषा के प्रभाव से मनुष्यों को उद्दण्ड, असंयत, कामी, क्रोधी और झगड़ालू बनाती है जो किसी भी राज्य-व्यवस्था के लिए हानिकर है। हम उस कविता का स्वागत करते हैं जो आनन्द प्रदान करने के साथ-साथ लोगों में संयम, सद्भाव, नैतिकता और सदाचार को भी प्रेरित करे। उसका उद्देश्य लोगों की आत्मा में संयम और न्यायप्रियता, कर्त्तव्य-निष्ठा एवं सद्भावना के संस्कार डालना तथा अन्याय, असंयम, दुराचार और अपराध की प्रवृत्तियों को दूर करना है।

प्लेटो संगीत को बड़ा महत्त्व देते हैं। लय को वे एक नियमित गति मानते हैं, क्योंकि वह किसी सिद्धान्त पर आधारित होती है। यही बात काव्य-रूप और शैली के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। लय और काव्य-रूप, अच्छे भी होते हैं और बुरे भी होते हैं। प्लेटो का विचार है कि अच्छाई और बुराई का सम्बन्ध अच्छे चरित्रों और उनके उचित कार्यों से रहता है। अतः अच्छी रचना वही है जिसमें सचाई के साथ अच्छे चरित्र का वर्णन हुआ है।[2]

---

1. And so, if the tragic poet is an imitator, he too is thrice removed from truth and so are all other imitators.
—*Dialogues of Plato*, Vol. II, p. 470-71.
2. The Republic of Plato by F.M. Cornford, p. 87.
Lectures on Plato's Republic by R.L. Nettleship, p. 113-14.

पूर्वोक्त सभी बातों को लेकर प्लेटो के काव्यशास्त्रीय विचारों को संक्षेप में हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :—

1. कवि दैवी प्रेरणा और आवेश में आकर काव्य की रचना करता है। उसकी वाणी ईश्वर की वाणी होती है; परन्तु उसके वर्णन सच्चे, वास्तविक और तर्क पर आधारित नहीं रहते। अधिकांश यह मानव-वासनाओं को उभारकर लोगों को असंयत, अनैतिक और संघर्षशील बनाता है। उसकी संवेगात्मक उत्तेजना से पारस्परिक झगड़े होते हैं और मानसिक व्यवस्था भंग होती है। अतः उसकी वांछनीयता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है।
2. कवि का वर्णन सत्य न होकर काल्पनिक, अतिरंजित, भावुक और अज्ञानजन्य होता है जो समाज को गलत दिशा में ले जाता है।
3. प्लेटो ऐसे काव्य का स्वागत करता है जिसमें सत्य और ज्ञान की पूर्ण प्रतिष्ठा हो। पर प्रायः उसका वर्णन ऐसा होता है जिससे सामाजिक और नैतिक मूल्यों का विघटन होता है तथा कानूनी और व्यवस्था-सम्बन्धी समस्यायें पैदा होती हैं।
4. प्लेटो के विचार से वस्तु के तीन रूप होते हैं—1. आदर्श (Ideal, Model), 2. वास्तविक और 3. अनुकृत। प्रकृति और सृष्टि भी ईश्वर के किसी आदर्श या माडेल के आधार पर रची गयी अपूर्ण सृष्टि है। कला और काव्य उसकी भी अनुकृति होने से, सत्य से तिगुनी दूर हैं।
5. प्लेटो अनुकरण के दो पक्ष मानता है—एक वह तत्त्व जिसका अनुकरण किया जाता है और दूसरा अनुकरण का स्वरूप। अगर अनुकरण का तत्त्व मंगलकारी है और अनुकरण पूर्ण एवं उत्तम है, तो वह स्वागतयोग्य है। परन्तु प्रायः अनुकृत्य वस्तु अमंगलकारी होती है और अनुकरण अधूरा और अपूर्ण होता है—तब ऐसी कला सत्य से दूर और हानिकारी है। इस प्रकार प्लेटो का दृष्टिकोण नैतिक और सामाजिक है।
6. कविता और कला में वस्तु के साथ-साथ उसका रूप (Form) भी महत्त्वपूर्ण होता है। काव्य में वह लय और छन्द को भी विशेष महत्त्व देता है; पर रूप के तत्त्वों, भाषा, लय तथा कथा का संगठन औचित्यपूर्ण और तर्कसंगत समीचीन होना चाहिए यह उनका विचार है।

इस प्रकार प्लेटो की काव्यशास्त्रीय दृष्टि समाज-परक एवं नैतिक है। उसके विचार से न्याय, व्यवस्था, संयम, अनुशासन में उसका योगदान होना चाहिए। इसके विपरीत होने पर वांछनीय नहीं।

आइसोक्रेटीज़ : प्लेटो और अरस्तू के समकालीन एक प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री था, परन्तु यह प्लेटो के काल्पनिक आदर्शवाद के सिद्धान्त से सहमत नहीं था। प्लेटो तथा अरस्तू के 'वक्तृत्व-शास्त्र' सम्बन्धी विचारों से भी वह सहमत नहीं था। इसका समय ई.पू. 436 से 338 तक था। इसके आदर्श की नींव व्यावहारिकता पर आधारित

थी। यह वक्तृत्व-शास्त्र के पक्ष में था और इसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानता था। इस शास्त्र के तत्वों, विषय, शैली, भाषा, अनुकरण आदि विषयों पर इसने विस्तारपूर्वक विचार प्रस्तुत किये हैं।

ईस्किलस : प्लेटो के पूर्व यूनान के प्राचीन दार्शनिकों और नाटककारों में ईस्किलस का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका समय ई.पू. 525 से 456 तक माना जाता है। उस समय यूनान पर अत्याचारी राजाओं का साम्राज्य था। उसने देश को नष्ट-भ्रष्ट होने के दृश्य देखे जो इनके नाटक 'पर्शियन्स' में प्रतिबिम्बित हैं। ईस्किलस प्रसिद्ध गीतकार पिण्डार के भी सम्पर्क में रहा तथा अपने दुःखान्तक नाटकों से सोफोक्लीज़ तथा अन्य यूनानी नाटककारों को प्रभावित भी किया। यह एक सफल नाटककार था जिसने समकालीन राजनीतिक तथा अन्य पौराणिक घटनाओं को लेकर सफल नाटक लिखे। इसकी 80 कृतियाँ कही जाती हैं जिनमें 52 पुरस्कृत हुई थीं। इसे 'विषादान्त नाटकों का जनक' भी कहा जाता है। इसने नाटकों में नयी शिल्पविधि भी विकसित की थी। इसने अंपने साहित्य से ईटैलियन, फ्रेञ्च और अंग्रेज कवियों और लेखकों को भी प्रभावित किया था। इसने अपने नाटकों में समूह-गान या वृन्दगान के महत्त्व को कम करके संवादों को विशेष महत्त्व प्रदान किया तथा उन्हें अधिक वास्तविक और अभिनेय वनाया। अतः कई दृष्टियों से विषादान्त नाटकों के शिल्पपक्ष में ईस्किलस का योगदान महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट माना जाता है।

नाट्य-रचना के क्षेत्र में सोफोक्लीज़ और यूरीपिडीज़ का भी महत्त्व है। सोफोक्लीज़ ईस्किलस का प्रतिद्वन्द्वी था तथा उसने कई सफल नाटक लिखे जो पुरस्कृत भी हुए। यूरीपिडीज़ ने लगभग 100 नाटकों की रचना की और ईस्किलस के द्वारा किये गये नवीन नाट्य शिल्प-प्रयोगों को आगे बढ़ाया। यह सब होते हुए भी इन नाटककारों का काव्य-शास्त्र, नाट्यशास्त्र अथवा सौन्दर्य-शास्त्र पर अलग से कोई शास्त्रीय ग्रन्थ नहीं मिलता। इन नाटककारों ने वास्तव में अरस्तू के काव्यशास्त्रीय और नाट्यशास्त्रीय चिन्तन के लिए प्रभूत सामग्री उपलब्ध करायी और विचारक अरस्तू ने उसका भरपूर उपयोग किया।

अरस्तू : यूरोपीय चिन्तना और पाश्चात्य व्यवस्थित विचारधारा के आदिप्रवर्तक, यथार्थवादी दार्शनिक तथा व्यापक ज्ञान के विश्वकोश अरस्तू ई.पू. 384 में उत्तरी यूनान के मैसीडोनिया प्रायद्वीप में स्थित यूनानी बस्ती स्टैगिरस में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता 'निकोमैकस', मैसीडोनिया के राजा तथा सिकन्दर महान् के पितामह 'अमिन्तास' तृतीय के राज-चिकित्सक थे। चिकित्सक के पुत्र होने के नाते 200 वर्ष पूर्व से प्रचलित चिकित्सा-विज्ञान के अरस्तू जन्मजात उत्तराधिकारी हुए। चिकित्सा-शास्त्र के जनक 'हिपोक्रैटीज़' के ग्रन्थ 'एपीडेमिक्स' में दी हुई रोग-प्रकरणों की प्रक्रिया के माध्यम से अरस्तू चिकित्सा और जीव-विज्ञान से किशोरावस्था में ही परिचित हो गये। पिता की मृत्यु के उपरान्त ई.पू. 367 में अरस्तू, प्लेटो की अकादमी में भेजे गये, जहाँ वे 20 वर्षों तक प्लेटो के सम्पर्क में रहे तथा उनके मन पर सुकरात और प्लेटो की विचारधारा का गहरा

प्रभाव पड़ा। आगे चलकर सुकरात, प्लेटो और अरस्तू पाश्चात्य चिन्ताधारा की तीन पीढ़ियों और महान् विचारकों के रूप में विख्यात हुए।

ई.पू. 348/347 में प्लेटो की मृत्यु के उपरान्त अरस्तू को 'अकादमी' का अध्यक्ष बनने की आशा थी, पर इसके विपरीत प्लेटो के भतीजे स्प्यूसिपस को अध्यक्ष बनाया गया, अतः अरस्तू एथेन्स छोड़कर चले गये और 'ऐसस' में नयी अकादमी स्थापित की। यहीं पर अरस्तू ने 'पोलिटिका' ग्रन्थ की रचना की। 37 वर्ष की अवस्था में अरस्तू ने वहाँ के राजा की भतीजी 'पाइथियास' से विवाह किया। 42 वर्ष की अवस्था में मैसिडोन के राजा फिलिप द्वितीय ने अरस्तू को अपने 13 वर्षीय पुत्र सिकन्दर के शिक्षक बनने के लिए आमन्त्रित किया, जो सिकन्दर महान् के रूप में प्रसिद्ध हुआ। आगे चलकर वे एथेन्स लौट आये और लाइसियम में नयी अकादमी स्थापित की। यहाँ पर उन्होंने इतिहास और जीव-विज्ञान पर ग्रन्थ लिखे। आगे चलकर विविध विषयों पर अरस्तू ने 47 ग्रन्थ लिखे और उनका देहान्त 63 वर्ष की अवस्था में ई.पू. 321 में हुआ।

काव्यशास्त्र पर अरस्तू की दो पुस्तकें हैं—*रिटोरिक* और *पोइटिका।* रिटोरिक या वक्तृत्व-कला या अलंकार-शास्त्र का कोई निश्चित विषय न होने से अरस्तू इसे विज्ञान की कोटि में नहीं रखते।[1] परन्तु अरस्तू की दृष्टि वैज्ञानिक एवं तर्कपूर्ण है। जिस प्रकार संसार के विजेताओं में सिकन्दर महान् का नाम अग्रणी है उसी प्रकार काव्यशास्त्रीय सैद्धान्तिक विवेचन में अरस्तू अग्रगण्य है। भारतीय काव्यशास्त्र का प्रारम्भ ई.पू. प्रथम शताब्दी के आसपास माना जाता है जिसे विद्वान् भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का निर्माण-काल मानते हैं।[2] यह भी ध्यान देने की बात है कि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में सबसे पहले नाटक पर ही विस्तार से विचार हुआ। यद्यपि अरस्तू ने नाट्य-शास्त्र—विशेष रूप से विषादान्त नाटक (ट्रैजेडी) पर ई.पू. चौथी शंती में विस्तार से लिखा है; परन्तु भरत के नाट्यशास्त्र-जैसा नाट्य या रूपक की कला, विद्या और प्रविधिशास्त्र पर विशद, विस्तृत विवेचन उसमें नहीं। उसमें नाट्य-शास्त्र के अंग-प्रत्यंग पर बड़ा सूक्ष्म और व्यवहारोपयोगी प्रकाश डाला गया है।

अरस्तू की *पोइटिक्स* में काव्य के स्वरूप, भेदों और उनके अंगों पर व्यवस्थित विचार किया गया है। यह ग्रन्थ पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रकाश-स्तम्भ है और इसमें प्रकट अवधारणा पर ही काव्य और नाटक के सम्बन्ध में आगे चलकर पाश्चात्य देशों में चिन्तन का विकास हुआ है। यह काव्यशास्त्र परविश्व की प्रथम व्यवस्थित रूप से विचार करनेवाली पुस्तक है। *पोइटिक्स* के दो भाग हैं—पहले में नाटक (ट्रैजेडी)

---

1. *Encyclopaedia Britannica* : Plato.
2. "He (Bharat Muni) has been variously assigned to periods ranging from the 2nd century B.C. to the 2nd century A.D. That he is the oldest writer on Dramaturgy, music and kindred subjects whose work has survived, is generally admitted."
— S.K. De's *Sanskrit Poetics,* Pt. I, p. 23.

और महाकाव्य (एपिक) पर विचार हुआ है और दूसरे में सुखान्त नाटक (कॉमेडी) तथा अन्य काव्य-भेदों पर विचार हुआ है। यह दूसरा भाग अब उपलब्ध नहीं है। अरस्तू की दूसरी पुस्तक *रिटरिक* अलंकार या वक्तृत्व-कला पर है जिसमें गद्य में दिये गये भाषणों के अलंकरण और प्रभावशीलत्व पर विचार है। काव्य-कला का विवेचन उसमें नहीं है।

पोइटिक्स में काव्य की अनेक शाखाओं, तत्त्वों और काव्यरूपों के रचनाविधान तथा काव्य के प्रभाव आदि विषयों पर विचार किया गया है। अरस्तू के विचार से कवि रचयिता है और कथावस्तु की रचना करता है। कथावस्तु को वह प्रत्यक्ष जीवन से ग्रहण करता है। यही कथावस्तु महाकाव्य की आत्मा है। जीवन से लिये जाने पर भी काव्य का सत्य जीवन में घटित ऐतिहासिक सत्य से भिन्न होता है, क्योंकि वह यथार्थ का आभास देनेवाला काल्पनिक सत्य होता है। काव्य का यह सत्य सम्भाव्य सत्य है। इसी प्रकार जीवन का अनुकरण करनेवाले पात्र भी वास्तविक चरित्र नहीं होते। कथानक और चरित्र ऐतिहासिक न होने पर भी, काव्य का सत्य, अधिक महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर होता है, क्योंकि वह देखे हुए तथा अनुभूत जीवन पर आधारित होता है।

काव्य जीवन और प्रकृति का अनुकरण है। अन्य कलायें भी जीवन की अनुकृति हैं। काव्य की मूल प्रेरणा भी वे अनुकरण को ही मानते हैं। अनुकृति की अवधारणा को यद्यपि प्लेटो ने प्रवर्तित किया, पर अरस्तू ने उसके वास्तविक रूप का विस्तार किया तथा अनुकरण की प्रक्रिया को नया रूप और नया आयाम प्रदान किया। काव्य, इतिहास की अपेक्षा दर्शन के अधिक निकट है, क्योंकि इतिहास सत्य का तथ्यपरक ऊपरी रूप प्रकट करता है, जबकि काव्य और दर्शन सत्य की सूक्ष्म मीमांसा करते हैं। दर्शन, सत्य का बुद्धिग्राह्य रूप प्रस्तुत करता है और काव्य सत्य का संवेद्य एवं इन्द्रियग्राह्य रूप। इस प्रकार सत्य को हृदयंगम करने के लिए दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अरस्तू के विचार से काव्य का उद्देश्य आनन्द प्रदान करना एवं अपने ढंग से उपदेश देना है। काव्य इन दोनों की पूर्ति करते हुए जीवन के सत्य का उद्घाटन करता है। काव्य-प्रयोजन के साथ-साथ अरस्तू काव्य-रचना के कारणों को भी स्पष्ट करता है। उसके विचार से काव्य-रचना दो कारणों से होती है—एक कारण है मनुष्य की अनुकरण की प्रवृत्ति और दूसरा कारण है अनुकरणात्मक कार्यों और रचनाओं में मनुष्य की अभिरुचि। इन दोनों कारणों से ही काव्य और कलाओं की सृष्टि होती है।

अरस्तू ने काव्य के तीन भेद किये हैं—एक विषादान्त नाटक (ट्रैजेडी), दूसरा प्रसादान्त नाटक (कॉमेडी) और तीसरा महाकाव्य (इपिक)। विषादान्त नाटक मानव-भावनाओं का परिष्कार करता है। वह भाषा के माध्यम से जीवन की विषम परिस्थितियों और भूलों तथा नासमझी के कारण उपस्थित संकटपूर्ण घटनाओं का अनुकरण है। विषादान्त नाटक के छः तत्त्व होते हैं—कथावस्तु (प्लॉट), चरित (कैरेक्टर), भाषाशैली

(डिक्शन), विचार (थॉट), प्रदर्शन (स्पेक्टेकिल) और संगीत (मेलॉडी)। इनमें से प्रत्येक पर अरस्तू ने विस्तार से विचार किया है। कथानक में आदि, मध्य और अन्त होता है। उसका स्थायी भाव शोक और भय हैं। ये बड़ी भावुकता के साथ व्यक्त किये जाते हैं जिसका गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः अरस्तू ने इसे महाकाव्य से बढ़कर माना है, यद्यपि प्रायः महाकाव्य में भी यही छः तत्त्व होते हैं, जो विषादान्त नाटक में हैं।

प्रसादान्त नाटक (कॉमेडी) प्रायः हास्य-व्यंग्यप्रधान होता है। इसमें दोषपूर्ण जीवन और चरित्रों का अनुकरण प्रस्तुत किया जाता है। इसमें जीवन की दुःखद और संकटपूर्ण परिस्थितियों का प्रदर्शन न होकर सुखमय, हास्यजनक, उल्लासमय दृश्यों का प्रदर्शन होता है। इसमें चरित्रों की दुर्बलताओं का, मूर्खतापूर्ण कार्यों का अनुकरण प्रस्तुत किया जाता है, जिनको देखकर दर्शक के मन में हँसी उत्पन्न होती है। किसी को दुःख पहुँचाने का उद्देश्य इसमें नहीं रहता। सुखमय होने पर भी अरस्तू ने इसे प्रभाव और चिन्तन की दृष्टि से सामान्य तथा विषादान्त नाटक एवं महाकाव्य से हल्के स्तर का माना है।

महाकाव्य (इपिक) में भी छः अंग या तत्त्व होते हैं, पर छन्द-प्रयोग तथा विस्तार में, वह विषादान्त नाटक से भिन्न होता है। वह भी जीवन का अनुकरण होता है। उद्देश्य, तत्त्व और प्रकार में समान होते हुए भी, महाकाव्य इस बात में विषादान्त नाटक से भिन्न होता है कि इसमें अभिनय और प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं। वह विषादान्त नाटक से इस बात में बढ़कर है कि वह शिष्ट और शिक्षित समाज के लिए ही होता है, नाटक के समान सर्वसाधारण के लिए नहीं। वह पढ़ा भी जा सकता है और देखा भी। महाकाव्य के विस्तार की सीमा नहीं। परन्तु कार्यसिद्धि की निश्चयता, भावों की यथार्थता और अनुकरण की प्रभावात्मकता के कारण अरस्तू विषादान्त नाटक को महाकाव्य से अधिक उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करते हैं। महाकाव्य में कथावस्तु का समुचित संगठन, चरित्र-चित्रण, भाषा और छन्दों का सुष्ठु, सुन्दर और ओजपूर्ण प्रयोग तथा उदात्त विचारधारा, आवश्यक तत्त्व होते हैं। इसमें आश्चर्यकारी विचित्र घटनाओं का वर्णन तथा शाश्वत सत्य का निरूपण हो सकता है। परन्तु अरस्तू दैवी-चरित्रों की सृष्टि की अपेक्षा उदात्त मानव-चरित्रों को महाकाव्य में विशेष महत्त्व देते हैं।

अनुकृति और भावोत्तेजना के सम्बन्ध में अरस्तू के विचार प्लेटो से भिन्न हैं। दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर है। प्लेटो की कई मान्यताओं का उन्होंने खण्डन किया है। उसका खण्डन वास्तव में अपने दृष्टिकोण से प्लेटो के विचारों की व्याख्या है। संक्षेप में उसके तीन पक्ष हैं—

1. (क) काव्य के सम्बन्ध में प्लेटो का आरोप था कि कवि अज्ञानवश वास्तविक सत्य का वर्णन नहीं करता। अरस्तू का मत है कि कवि द्वारा वर्णित काव्यगत सत्य, ऐतिहासिक तथ्यात्मक सत्य और वैज्ञानिक वस्तुगत सत्य से भिन्न होता है। वह भावगत सत्य है और उसकी अलग गरिमा एवं महत्ता होती है।

(ख) कवि के लिए, जो घटित हुआ या प्रत्यक्ष है, वही सत्य नहीं है; वरन् उसके लिए जो घटित हो सकता है और सम्भाव्य है, वह भी सत्य है।
(ग) मानवीय आदर्श, विश्वास, धारणायें और निष्ठायें भी सत्य हैं।
(घ) कभी-कभी काव्य में वह भी सत्य होता है, जो सामान्य जीवन में असंगत और असम्भव लगता है।
(ङ) काव्यगत सत्य, संवेद्य और इन्द्रिय-गोचर होने से घटनाओं, चरित्रों और बिम्बों के माध्यम से प्रकट होता है, पर वह सीमित न होकर सार्वभौम सत्य होता है, जबकि इतिहास का सत्य केवल तात्कालिक और सीमित सत्य होता है।
(च) दर्शन सत्य का बुद्धिगत रूप प्रकट करता है। काव्यगत सत्य पूर्ण होता है तथा वह दार्शनिकता से भरा होता है।

2. अनुकरण के सम्बन्ध में भी अरस्तू का दृष्टिकोण नैतिक और सामाजिक की अपेक्षा (जो प्लेटो का दृष्टिकोण है) सौन्दर्यशास्त्रीय है। काव्य या कला प्रकृति की अनुकृति है, पर एकदम नकल न होकर उसका पुनः प्रस्तुतीकरण है। अतः काव्य या कला में उतारा हुआ प्रकृति का रूप, वास्तविक रूप की कमी को दूर कर उसे अधिक पूर्ण रूप प्रदान करता है। कवि या कलाकार प्रकृति के तीन रूपों में किसी का भी वर्णन करने में स्वतन्त्र है—(1) जैसी वह है या दिखाई देती है, (2) जैसी वह समझी जाती है और (3) जैसी उसे होना चाहिए। प्लेटो इसके तीसरे रूप को कला में स्थान देने के पक्षपाती थे, जबकि अरस्तू तीनों प्रकार के अनुकृत रूपों को मान्य करते हैं। अरस्तू के विचार से अनुकृति, वास्तव में कल्पना द्वारा जीवन की पुनः सर्जना है।

3. अरस्तू ने प्लेटो के इस आक्षेप का भी खण्डन किया कि आवेश-युक्त कवि हमारी वासनाओं को जाग्रत् और उत्तेजित करता है और कभी-कभी अनुचित और असामाजिक कार्यों का वर्णन कर गलत उत्तेजना लोगों में भर देता है। अरस्तू का इसके विपरीत कहना है कि जिस प्रकार शरीर के विकारों को हम रेचक पदार्थों को खाकर निकाल देते हैं और बाद में पेट शुद्ध और स्वस्थ हो जाता है, उसी प्रकार भय, त्रास, करुणा, क्रोध, घृणा आदि के भाव भी जब काव्य या नाटक में अतिरञ्जित रूप में आते हैं, तब किसी चरित्र द्वारा उन भावों की डटकर अभिव्यक्ति दर्शक के भीतर के भावों का भी विरेचन कर देती है। इन प्रबल भावों में दर्शक बह जाते हैं तथा उनके अन्य भाव शान्त हो जाते हैं। अतः कवि या नाटककार के अतिरञ्जित भावोद्दीपन से दर्शक या श्रोता के मानसिक विकार दूर हो जाते हैं और वह शुद्ध विकाररहित होकर प्रभाव ग्रहण करता है। इस प्रकार अरस्तू ने कवि और काव्य-सम्बन्धी प्लेटो के कवि-विरोधी

विचारों का परिमार्जन किया। प्लेटो के कई सिद्धान्तों की अरस्तू ने अधिक व्यापक और संगत व्याख्या की।

अरस्तू के काव्य और कला-सम्बन्धी विचार यूरोपीय काव्य-चिन्तन के लिए मील के पत्थर बनकर मार्गदर्शन करते रहे तथा उसे आगे बढ़ाते रहे। उनके कथन बड़े प्रामाणिक एवं तर्कसंगत हैं और आज भी उनका अलग और विशिष्ट महत्त्व है।

लांजाइनस : अरस्तू के उपरान्त लांजाइनस यूनान के एक महान् विचारक और काव्यशास्त्री माने जाते हैं। इनका समय ई.पू. तीसरी शताब्दी माना जाता है, परन्तु इनके सम्बन्ध में विशिष्ट विवरण प्राप्त नहीं होता। कुछ विद्वान् इन्हें पालमारा की महारानी जेनोविया का मन्त्री मानते थे, पर अन्यों ने इसे असिद्ध कर दिया। यहाँ तक कि कुछ लोग इन्हें ईसा की पहली सदी में रोम का रहनेवाला भी मानते हैं। लांजाइनस के समय में लोग नवीनता और चमत्कार का प्रदर्शन काव्य में अधिक करने लगे थे, अतः उस प्रवृत्ति के विरोध में इन्होंने काव्य में एक नवीन तत्त्व का प्रतिपादन किया, जो है 'उदात्त तत्त्व'। अपने ग्रन्थ *पेरिइप्सुस* (ऑन दि सब्लाइम) में उन्होंने उदात्त (Sublime) का विस्तृत विवेचन किया है। उनकी इस पुस्तक का केवल दो-तिहाई भाग ही उपलब्ध है। इसमें इन्होंने दो भागों में अपने सिद्धान्त को स्पष्ट किया है—प्रथम भाग में उदात्त शैली का विवेचन है और द्वितीय भाग में कला के आधारभूत तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। लांजाइनस के अनुसार भावों और विचारों की उदात्तता ही साहित्य-सर्जना को प्रेरित करती है तथा उसी से दर्शक या पाठक प्रभावित होता है। उदात्त प्रभाव डालना ही काव्य का उद्देश्य होना चाहिए।

किसी कृति में उदात्त गुण के सम्पादन के लिए पहली आवश्यकता यह है कि रचनाकार में महान् और उदात्त विचारों की धारणा करने की क्षमता हो। दूसरी बात है उन विचारों और भावों को उदात्त शैली में अभिव्यक्ति देने की शक्ति। अतः किसी रचना के दो पक्ष हो जाते हैं—एक अनुभूति-पक्ष और दूसरा अभिव्यक्ति-पक्ष। दोनों में ही उदात्त गुणों की अपेक्षा होती है। इसके अन्तरंग-पक्ष में ओज, उल्लास, विस्मय, आदर और अभिभूति तथा बहिरंग-पक्ष में शब्दावली या भाषा, रचना-विधान और अलंकृति है। इन दोनों ही पक्षों में उदात्तता का गुण होना आवश्यक है, तभी कोई रचना महान् और प्रभावशाली हो सकती है।

काव्य-रचना में अनेक दोष होते हैं—जैसे अतिशयोक्ति, शब्दाडम्बर, क्षुद्रता, भावुकता, पुनरुक्ति आदि। महान् रचनाकार को इन दोषों से बचना चाहिए। परन्तु दोष-हीनता ही उत्कृष्ट रचना की विशेषता नहीं है, जब तक कि उसमें उदात्त भावों और विचारों को प्रभावशाली पदावली, उचित अलंकार-विधान और औचित्यपूर्ण रचना-विधान के साथ गरिमामय अभिव्यक्ति प्रदान न की जाय। इस प्रकार उत्कृष्ट रचना में दोनों ही बातों की आवश्यकता है। प्लेटो और अरस्तू की विचारधारा में काव्य और कला का उद्देश्य जीवन को प्रेरित करनेवाली उपदेशात्मकता और आनन्द माना गया है, परन्तु लांजाइनस ने आनन्दानुभूति को ही कला की मूल शक्ति माना है,

उपदेशात्मकता को नहीं। कला के प्रयोजन की श्रेष्ठता की खोज ही लांजाइनस का मुख्य लक्ष्य जान पड़ता है। उसके विचार से कल्पना काव्य में आवश्यक है, पर उसका औचित्यपूर्ण उपयोग वांछनीय है। कल्पना के द्वारा ही कवि अपनी अनुभूति को पाठकों के भीतर सम्प्रेषित करता है। उसके विचार से उत्कृष्ट साहित्य वह है जो पाठक को सदैव सार्वकालिक आनन्द प्रदान कर सके। छन्द और लय को भी वह प्रमुख महत्त्व देता है।

संक्षेप में हम लांजाइनस के उदात्त तत्त्व को उच्च विचारों और उत्कृष्ट भावों की विशिष्ट, उत्कृष्ट और प्रभावशाली अभिव्यक्ति में देख सकते हैं। उसकी व्याप्ति निम्नांकित पाँच बातों में देखी जा सकती है—

1. उदात्त मनोभाव (उत्कृष्ट संवेग)—इनमें हर्ष, उल्लास, शौर्य, विस्मय, ओज आदि हैं। ये उदात्त मनोभावों को जन्म देते हैं।
2. उदात्त विषय—विषय और चरित्र उच्च, गरिमामय होने पर सभी बातें उदात्त हो जाती हैं। उनके हीन होने पर वर्णन और उसका प्रभाव घटिया हो जाता है।
3. उदात्त अलंकृति—अलंकारों का समुचित प्रसंगानुरूप प्रयोग ही उदात्त तत्त्व को प्रेरित करता है।
4. उत्कृष्ट भाषा-शैली—जिसमें प्रभावशाली शब्द-चयन, मुहावरे, छन्द-लय का उचित प्रयोग आदि है—उदात्त गुण को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।
5. गरिमामय रचना-विधान—इसमें विभिन्न घटनाओं, विचारों और कार्यों तथा दृश्य विधान का समुचित संगठन और सगुंफन आवश्यक है। इस गुण के सम्पादन में कल्पना का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है।

इस प्रकार उदात्त सिद्धान्त को प्रतिपादित करके लांजाइनस ने अपने समय और परवर्ती काल में उत्कृष्ट कला और काव्य की रचना को प्रेरणा प्रदान की।

(ख) लैटिन का काव्यशास्त्रीय चिन्तन

'लांजाइनस' यूनान का अन्तिम काव्यशास्त्री एवं सौन्दर्य-शास्त्र का महान् चिन्तक था। उसके बाद काव्य और कला का विकास तो यूनान में होता रहा और उसकी समीक्षा भी होती रही, परन्तु सौन्दर्यशास्त्रीय उच्च चिन्तन का केन्द्र यूनान से हटकर रोम में आ गया। रोम के प्राचीन सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तकों को सुविधा यह थी कि उनके सामने भरा-पूरा यूनानी काव्य-शास्त्र था जिसको उन्होंने आगे बढ़ाया। प्रसिद्ध यूरोपीय समीक्षा-शास्त्र के इतिहास—लेखक 'जार्ज सेण्ट्सबरी' का कहना है कि भाषा की दृष्टि से यद्यपि लैटिन ग्रीक के निकट है, परन्तु साहित्य की दृष्टि से वह उसकी बेटी और शिष्या दोनों ही एकसाथ है।[1] कई प्रसिद्ध कवि और विद्वानों ने एथेन्स में

1. Latin as a language was in extremely close connection with Greek and as literature was daughter and pupil in one.
—*A History of Criticism* by G. Saintsbury, Vol. I, p. 355.

जाकर 'अकादमी' में शिक्षा प्राप्त की थी। इस प्रकार यूनानी ज्ञान-विज्ञान का लैटिन-साहित्य के रचयिताओं पर प्रभाव था।

यूनान के होमर (ई.पू. नवीं शताब्दी) के महाकाव्यों 'इलियड' और 'ओडेसी' के समान लैटिन के वर्जिल (ई.पू. प्रथम शती) का 'ईनियड' महाकाव्य भी यूरोपीय साहित्य में प्रसिद्ध है। उसने लैटिन काव्य और काव्यशास्त्र को प्रेरित किया था तथा पूरे यूरोपीय काव्य और काव्य-चिन्तन को प्रभावित किया था। वर्जिल, होरेस के समकालीन थे और उनसे पाँच वर्ष बड़े थे। लैटिन काव्यशास्त्रीय चिन्तन को यूनानी काव्य-चिन्तन के साथ-साथ वर्जिल के काव्य ने भी प्रभावित किया था।

मारकस टुलियस सिसरो (Marcus Tullius Cocero) ई.पू. 106 से 43 तक : लैटिन काव्यशास्त्र का आरम्भ ई.पू. दूसरी शताब्दी से होता है। इसके अन्तर्गत सबसे पहले विचारक सिसरो हैं जिनका समय ई.पू. 106 है। इनका समय रोम के प्रसिद्ध सम्राट् जूलियस सीज़र के समकालीन है; परन्तु ये साम्राज्यवाद और सीज़र के विरोधी थे। 43 ई.पू. में सिसरो की मृत्यु हुई। ये वकालत करते थे तथा उच्च पदों पर भी रहे। वकील होने के नाते इन्होंने अन्य शास्त्रों के साथ-साथ अलंकारशास्त्र या वक्तृत्व-शास्त्र पर भी ग्रन्थ लिखे। ये प्लेटो से अधिक प्रभावित थे। सिसरो ने लैटिन भाषा में वैज्ञानिक शब्दावली का निर्माण किया। भाषण-कला पर लिखी इनकी पुस्तक *डि ओरेटर* काफी प्रसिद्ध है। सिसरो का सम्बन्ध काव्यशास्त्रीय परम्परा से उतना नहीं है जितना वक्तृत्व-कला या अलंकार-शास्त्र से है। इन्होंने अपनी पुस्तक में अपने युग के अनुसार भाषण-कला के लिए यूनानी परम्परा के नियमों में परिवर्तन करके, उसे अधिक व्यवहारोपयोगी बनाया।

सिसरो के अनुसार वक्तृत्व-कला द्वारा मनुष्य अपनी मनुष्यता का परिचय देने में समर्थ होता है, साथ ही साथ उसके द्वारा वह मानव-सभ्यता और संस्कृति का प्रचार-प्रसार भी करता है। इसके लिए वक्ता को अपने विषय का सम्यक् ज्ञान तथा भाषा पर अच्छा अधिकार होना चाहिए। फिर भी उनका विचार है कि ये साधन हैं और वक्ता के अन्तर्गत प्राकृतिक वाक्प्रतिभा का होना भी आवश्यक है।

काव्य के सम्बन्ध में भी सिसरो प्लेटो की विचारधारा से सहमत जान पड़ते हैं। काव्य-रचना को वे दैवी प्रेरणा का परिणाम मानते हैं। काव्य, कल्पना और वाणी की शक्ति से लोगों को प्रभावित करने की अद्भुत शक्ति रखता है। अतः कवि के लिए कल्पना तो दैवी देन है, भाषा उसके प्रयत्न और संस्कार से आती है। वे प्लेटो और अरस्तू के समान काव्य का उद्देश्य, समाज का मार्गदर्शन करना तथा आनन्द प्रदान करना दोनों ही मानते हैं। वास्तव में सिसरो की विशेषता यही है कि उन्होंने परम्परागत काव्य और कला-सम्बन्धी धारणाओं को युगीन सन्दर्भों से मिलाकर प्रस्तुत किया है।

होरेस : होरेस इटली के सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री और महापुरुष थे। इनका जन्म दक्षिण इटली के 'बेनुसिया' नगर में 8 दिसम्बर 65 ई.पू. में हुआ था। इनका पूरा

नाम 'क्विन्टस होरेशियस फ्लैक्स' था। होरेशियस इनके पिता का नाम था और क्विन्टस इनका निजी नाम। परन्तु आगे चलकर ये 'होरेस' के नाम से विख्यात हुए। इनके पिता यद्यपि एक कृषि-फार्म में काम करते थे, परन्तु अपने पुत्र को अच्छी-से-अच्छी शिक्षा दिलाने की उनकी महत्त्वाकांक्षा थी। अतः उन्होंने छः वर्ष तक इनकी शिक्षा रोम में दिलाने के पश्चात् 28 वर्ष की उम्र में यूनान के शहर एथेन्स में भेज दिया। वहाँ पर इन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की और अपने पिता की आकांक्षाओं को पूरा किया तथा रोम वापस लौट आये। रोम के गृह-युद्ध में इन्होंने जूलियर सीज़र के विरुद्ध ब्रूटस का साथ दिया। पिता की मृत्यु और सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर, होरेस साहित्य की ओर झुके और समकालीन परिस्थितियों के कारण इन्होंने व्यंग्य-काव्य लिखकर अधर्म, अनीति और अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाई। इससे इनके शत्रु बढ़ गये। परन्तु होरेस के गीतिकाव्य ने, जिसमें अप्रतिम काव्य-सौन्दर्य और मोहक प्रकृति-चित्रण था, रोम की जनता को मुग्ध कर लिया।

होरेस लैटिन के सर्वश्रेष्ठ महाकवि वर्जिल के समकालीन थे। उनके माध्यम से इनका परिचय तत्कालीन सम्राट् 'आगस्तस' तथा उनके मन्त्री 'मेसिनस' से हुआ। मेसिनस साहित्यकारों का उदार संरक्षक था। इनकी मैत्री प्राप्त कर होरेस ने अनेक उत्तम रचनायें लिखीं। आगे मेसिनस की मृत्यु के कुछ समय बाद ही 26 नवम्बर ई.पू. को होरेस का भी देहावसान हो गया।

होरेस की ख्याति यों तो कवि के रूप में ही अधिक है, क्योंकि एक तो उनकी कविता में लैटिन छन्दों का बड़ा सुन्दर और उत्तम प्रयोग हुआ है और दूसरे उनकी रचनाओं में जीवन-दर्शन, मानव-स्वभाव तथा उसकी मनोवृत्तियों का अद्भुत विश्लेषण एवं संयत निष्कर्ष प्राप्त होने के साथ-साथ उसमें लोगों की मूर्खता और दुष्टता को उजागर करने की बड़ी शिष्ट प्रतिभा देखने को मिलती है। उनकी कई पंक्तियाँ कहावतों के रूप में प्रयुक्त होने लगी हैं।

परन्तु कवि होने के साथ-साथ वे मर्मज्ञ समालोचक भी थे। उनकी पुस्तक *आर्स पोइटिका* में उनके काव्यकला और काव्यशास्त्र से सम्बद्ध विचार प्राप्त होते हैं। यह उन्होंने निम्न कोटि के कवि 'पिसो' के लिए लिखे सन्देशपत्र के रूप में लिखी थी। इसीलिए इसमें दोषनिरूपण अधिक है; काव्य-सिद्धान्त कम है। इसका वैसा ही उद्देश्य है जैसा केशवदास की *रामचन्द्रिका* तथा *कविप्रिया* का है। परन्तु होरेस ने अपनी पुस्तक में औचित्य पर बहुत बल दिया है। कवि को स्वतन्त्रता है, पर उसमें उचितानुचित का विवेक होना आवश्यक है; साथ ही उसे सदैव व्यावहारिक बुद्धि से काम लेना चाहिए। वे यूनानी अनुकरण-सिद्धान्त को व्यापक रूप से स्वीकार करते हैं। यों भी वे यूनानी विचारधारा और परम्पराओं से प्रभावित थे।

होरेस का काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण एक शिक्षक का है। उनका कथन है कि यदि वे स्वयं बहुत बड़े कवि नहीं हो सकते, तो वे दूसरों को बड़ा कवि बना सकते हैं। उन्होंने अपनी *आर्स पोइटिका* तथा अन्य ग्रन्थों में काव्यकला के अनेक विषयों

पर विचार किया है, जैसे—कला का समञ्जित औचित्यपूर्ण प्रयोग, प्रकृति-चित्रण, प्रतिभा के अनुकूल विषय-निर्वाचन, विषय के अनुरूप शब्दों और छन्दों का चयन, भाषा की स्वाभाविकता, शब्द-भण्डार का महत्त्व आदि। नाटक के सम्बन्ध में 'होरेस' के विचार कहीं-कहीं अरस्तू से भिन्न पड़ते हैं। अरस्तू जहाँ घटनाओं पर जोर देते हैं, वहाँ पर होरेस कार्य पर अधिक बल देते हैं। नाटक को पाँच अंकों में ही सीमित रखने का उनका विचार है। होरेस अरोचक, कुरूप और घृणित वस्तुओं और दृश्यों का प्रदर्शन वर्जित करते हैं। शिष्टता और सौन्दर्य उनके मूल प्रतिपाद्य हैं।

समस्त विश्लेषण के उपरान्त हम उन्हें सुरुचिपूर्ण, औचित्यवादी विचारक कह सकते हैं। उनके औचित्य को हम छः भागों में रख सकते हैं—विषय और कथानक चयन का औचित्य, चरित्र-चित्रण का औचित्य, घटना-दृश्य-विधान का औचित्य, भाषा-शैली का औचित्य तथा विभिन्न भावों के लिए अलग-अलग छन्द-चयन का औचित्य। इस प्रकार काव्य या नाटक के सभी अंगों का औचित्यपूर्ण प्रयोग और संगठन उसे उत्कृष्टता प्रदान करता है। होरेस मुख्यतः उत्तम काव्य-रचना के साधनों का विवेचन करनेवाले आचार्य कवि हैं और इसी रूप में उन्हें देखा जाना चाहिए।

क्विंटिलियन : क्विंटिलियन के पिता स्पेन-निवासी थे। ये प्रसिद्ध वक्ता थे। और इनकी ख्याति रोम में फैल गयी थी। ये भी वक्तृत्व-कला के अध्ययन-हेतु रोम आये और वहीं अपनी निजी शाला खोल ली। क्विंटिलियन का समय ई.पू. सन् 35 से 35 ईसवी तक माना जाता है। ये वास्तव में होरेस की परम्परा के न होकर सिसरो की परम्परा में थे। इनका विवेचन अलंकार या वक्तृत्व-कला से अधिक सम्बद्ध है। वे आदर्शवादी के स्थान पर उपयोगितावादी अधिक थे। उपयोगिता और सौन्दर्य—दोनों ही एकसाथ काव्य और कलाओं में समाविष्ट रहते हैं। वे कट्टर शास्त्रीयतावाद के पक्ष में नहीं थे। उनका मत था कि साहित्य को समकालीन सामाजिक आवश्यकताओं के प्रति जागरूक रहना चाहिए। उन्होंने साहित्य के अन्तर्गत शुद्ध, परिनिष्ठित भाषा के साथ-साथ जनभाषा के व्यवहार पर बल दिया। वे काव्य को दर्शन, उपदेश, नैतिकता आदि से बोझिल बनाने के भी विरोधी थे। उनका विचार था कि गद्य में प्रकट प्रायः सभी विचार छन्दोबद्ध काव्य में प्रकट किये जा सकते हैं। इसी प्रकार वे सिसरो के इस मत से भी सहमत थे कि गद्य में भी लय होती है, परन्तु काव्य में छन्द और लय के समावेश से उसमें विशेष लालित्य आ जाता है। क्विंटिलियन सुन्दर वाणी और सुन्दर लेख—दोनों के ही प्रशंसक थे। उनके विचार से शैली तीन प्रकार की होती है—एक साधारण, दूसरी भव्य और तीसरी सम—जो दोनों के बीच की शैली है। भव्य शैली उदात्त एवं उचित अलंकारों से युक्त होती है। साधारण शैली में ओज और आलंकारिकता नहीं होती तथा सम में ओज और अलंकृति का सामान्य समावेश रहता है। अतिशयोक्तिपूर्ण एवं शब्दाडम्बरयुक्त शैली—कभी-कभी असाहित्यिक भी हो जाती है।

क्विंटिलियन का प्रसिद्ध ग्रन्थ, दे *इंस्तीत्यूशन औरैटोरिया* एक महान् कृति है। इसकी प्रशंसा अंग्रेजी के महाकवि मिल्टन ने भी की है। इसमें यूनान और रोम के इतिहास के साथ-साथ लैटिन-साहित्य सम्बन्धी मान्यतायें भी मिलती हैं। इसमें क्विंटिलियन ने देश के आधार पर भी शैलियों के भेद किये हैं, जैसे एटिक, एशियाटिक, रोडियन आदि। भाषा और साहित्य से सम्बद्ध उनके विचार महत्त्वपूर्ण हैं, यद्यपि उसमें कोई सिद्धान्त-निरूपण नहीं है।

क्विंटिलियन के उपरान्त लैटिन-साहित्य में कोई महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय चिन्तक नहीं हुआ। उसके बाद अर्थात् ईसवी सन् के आरम्भ के अनन्तर काव्यशास्त्रीय चिन्तन का केन्द्र बदल गया। मध्ययुग के पूर्व दान्ते के पहले तक इटली में काव्य और कला-सम्बन्धी विचार कोई विशिष्ट महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन प्राप्त नहीं कर सके।

भारतीय काव्यशास्त्र के समान पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अन्तर्गत चिन्तन और विचार केवल काव्य और साहित्य तक ही सीमित नहीं रहा, वरन् महत्त्वपूर्ण पाश्चात्य विचारकों ने काव्य के साथ-साथ समस्त कलाओं पर एकसाथ विचार किया। यह विचार-परम्परा प्लेटो और उसके पूर्व भी यूनानी विचारकों में रही। अतः प्राचीन यूनानी साहित्य में तो पोइटिक्स और 'रिटोरिक' शब्दों के द्वारा इन चिन्तकों के विचारों को अभिहित किया गया, परन्तु आगे चलकर इस प्रकार की कला और काव्य की दार्शनिक विवेचना को सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics) कहा गया। यों सौन्दर्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र के विषय और दृष्टिकोण में अन्तर है। सौन्दर्यशास्त्र, सौन्दर्य-मात्र का चाहे वह वस्तु, व्यक्ति, चित्र, संगीत या काव्य किसी का भी हो, दार्शनिक विवेचन करता है। उसे एक प्रकार से कला का दर्शन मानना चाहिए, जबकि काव्यशास्त्र ललित-साहित्य (काव्य) के स्वरूप, कारण, प्रयोजन, भेदोपभेदों, उनके तत्त्व और उपकरणों का सामान्य विवेचन करता है। उनके सौन्दर्यशास्त्र या कलादर्शन (ईस्थिटिक्स) में साहित्य और कला—दोनों पर विचार किया गया है, अतः हम काव्यशास्त्र की परम्परा में उसको भी समाविष्ट करेंगे।

ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी पूरी होने तक काव्यशास्त्रीय चिन्तन और कला-विवेचन की दो धारायें स्पष्ट हो गयी थीं। एक तो शास्त्रीय (क्लासिकल) और दूसरी स्वच्छन्दतावादी (रोमाण्टिक)। ई.पू. यूनानी विचारधारा में ही दोनों शाखायें स्पष्ट होने लगी थीं। प्लेटो और अरस्तू की चिन्तना शास्त्रीय थी, पर अरस्तू के कुछ विचारों तथा लांजाइनस और होरेस के प्रतिपादनों में स्वच्छन्दतावादी बीज थे। इन स्वच्छन्दतावादी विचारणाओं से आशंकित होकर कुछ विद्वानों ने प्लेटो की परम्परा को फिर से उज्जीवित किया। इनकी इन पुनःस्थापनाओं को 'नव-प्लेटोवाद' कहा जाता है। इन व्यक्तियों में तीन अधिक प्रसिद्ध हैं—प्लोटिनस, सेण्ट आगस्टाइन और टामस एक्वाइनस। इनमें कला और धर्म का समन्वय मिलता है। यहाँ हम संक्षेप में इनके विचारों को प्रस्तुत कर रहे हैं। वास्तव में ये सौन्दर्य-चिन्तन की परम्परा में आते हैं।

प्लोटिनस : इनका समय 205 ई. से 270 ई. तक माना जाता है। इनका जन्म मिस्र में सन् 205 ई. में हुआ था। इनकी रचनायें यूनानी भाषा में हैं। इनके विचार से

अद्वय सत्ता ही परम सत्य है। उससे प्रज्ञा का विकास होता है। फिर आत्मा का और तदनन्तर पदार्थों का विकास होता है। मनुष्य का सम्बन्ध आत्मा और पदार्थों, दोनों से है। प्रामाणिक ज्ञान बौद्धिक ज्ञान है, पर अद्वय सत्ता से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आध्यात्मिक ज्ञान ही सक्षम है। सहजानुभूति और रहस्यानुभूति, इसी के रूप हैं, जो बौद्धिक ज्ञान से अधिक उच्च स्तर के हैं। सौन्दर्यानुभूति भी उसी का एक रूप है। सौन्दर्य का सम्बन्ध दृष्टि और श्रवण से हैं। औचित्य और सन्तुलन—सौन्दर्य के उपकरण हैं, परन्तु सौन्दर्य आध्यात्मिक है, वह इन्द्रिय का विषय नहीं, प्रज्ञा का विषय है। प्लेटो के समान वे कला को अनुकृति नहीं मानते, वरन् उसे सर्जना मानते हैं। साकार सुन्दर वस्तुओं से परम सौन्दर्य की झलक मिलती है। उन्हें देखकर आत्मा विकसित होती है जबकि कुरूप वस्तुओं को देखकर वह संकुचित होती है। कुरूपता दोषपूर्ण संगठन या समन्वय का परिणाम होती है। सौन्दर्य, एक प्रकार की ज्योति या प्रकाश है। उसी की आभा से वस्तुएँ चमकती हैं तथा उसी की आभा से अनन्त सौन्दर्य की झलक प्राप्त होती है। इस प्रकार प्लोटिनस के विचार रहस्यवादी और आध्यात्मिक हैं। वे कला में वस्तुओं के या उसके उपकरणों के उचित समन्वय को सौन्दर्य मानते हैं जो काव्य के लिए भी सत्य है जिसमें शब्दार्थ तथा अनुभूति का समुचित समन्वय अपेक्षित है। प्लोटिनस के सौन्दर्यशास्त्र-सम्बन्धी विचारों का प्रवाह उनके समय में तो रहा ही, उसका प्रभाव ईसाई दार्शनिकों पर पड़ा जो उनके समकालीन थे तथा उनके बाद मध्ययुग तक हुए।

सेण्ट आगस्टाइन : इनका समय 354 ई. से 430 ई. तक है। इन पर भी प्लेटो और प्लोटिनस की विचारधारा का प्रभाव पड़ा। सेण्ट आगस्टाइन ने चित्रकला और काव्यकला को विलासमय असत्य कहा, परन्तु एक प्रकार के सत्य के दर्शन वे इन कलाओं में भी करते थे। असत्य वह है जो सत्य होने का भ्रम पैदा करता है। चित्र, कविता, अभिनय, वाक्पटुता, प्रहसन आदि इसी प्रकार के असत्य हैं। कला, मनोरंजन की प्रवृत्ति से उत्पन्न भ्रम है, वह अपनी असत्यता के आधार पर सत्य की ओर बढ़ने का प्रयत्न करती है। उनके विचार से सौन्दर्य सामंजस्य, सन्तुलन और अनुपात का उचित समन्वय है। सौन्दर्य वस्तु के अंगों की आपसी आनुपातिक सुसंगति तथा रंगों की माधुरी से उत्पन्न होता है।

आगस्टाइन ने कुरूपता का तिरस्कार नहीं किया। सौन्दर्य के साथ उसके सामंजस्य का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि कुरूपता चित्रित होकर आनन्दप्रद हो जाती है। प्लोटिनस ने उसे असत्य और रूपहीन माना था। पर आगस्टाइन ऐसा नहीं मानते। साँप, चीते, गैंडा जो भयंकर और असुन्दर होते हैं, चित्रित होकर सुन्दर लगते हैं। कुरूपता भी उचित जगह पर प्रस्तुत होकर सौन्दर्य को नष्ट नहीं करती, बल्कि बढ़ाती है। कुरूपता, अलग अस्तित्व नहीं रखती। उसकी स्थिति तुलनापरक है। सुन्दरता की बगल में कुरूपता, उसके प्रभाव को बढ़ाती है। कुरूपता की तुलनात्मक व्याख्या सेण्ट आगस्टाइन की अपनी है। सौन्दर्य का प्रभाव उसके विरोधी तत्त्व के कारण होता है। इसी से असत्य के माध्यम से कला, सत्य का आभास कराती है।

टामस एक्वाइनस : इस धारा का प्रभाव मध्यकालीन धार्मिक आचार्यों पर भी पड़ा। इनमें से प्रमुख हैं टामस एक्वाइनस। इनका समय सन् 1226 से 1274 ई. तक माना जाता है। इनके विचार सौन्दर्य-दर्शन पर भी हैं। उनके अनुसार सत्य और शिव एक ही हैं। दोनों का केन्द्र रूप है। अतः सौन्दर्य की प्रशंसा परोक्ष में शिव और सत्य की ही प्रशंसा है। शिव वही है जिसकी सभी कामना करते हैं। सौन्दर्य के सम्बन्ध में भी यही बात सत्य है। सौन्दर्य सानुपातिक संगठन से उत्पन्न होता है—इसलिए इन्द्रियों को सुन्दर लगता है। सौन्दर्य के मूल तत्त्व तीन माने गये हैं—(1) पूर्णता—जो वस्तुएँ कुरूप हैं, उनमें पूर्णता की कमी होती है। (2) अनुपात या सामंजस्य—अनुपात में सामंजस्य-हीनता, वस्तु को कुरूप बना देती है। (3) प्राञ्जलता—सुन्दर वस्तुएँ आभापूर्ण होती हैं, अतः वे कान्ति और प्रभावयुक्त होती हैं तथा हमारी दो प्रमुख इन्द्रियों—दृष्टि और श्रवण—द्वारा ग्राह्य होती हैं।

एक्वाइनस के विचार से सौन्दर्य नग्न रूप में वांछनीय नहीं है। यह तभी वांछनीय होता है, जब वह शिव से युक्त हो। यही बात सत्य के सम्बन्ध में भी ठीक है। इनके सौन्दर्यशास्त्रीय विचार धर्म और नैतिकता से पूर्ण हैं। शिव सर्वोच्च तत्त्व है और सौन्दर्य उसकी अभिव्यक्ति का प्रतीक है। उनके विचार से सर्वश्रेष्ठ कला वह है जो धार्मिक भावनाओं से अनुप्राणित होती है। काव्य भी तभी श्रेष्ठ होता है, जब वह धार्मिक भावनाओं की अभिव्यंजना करता है। इनका मत उपयोगितावादी है। इनके मत में ललित कला और उपयोगी कला में कोई भेद नहीं है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि काव्य आलंकारिकता अथवा शैली के चमत्कार और ओज से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। उनका यह भी मत है कि काव्यात्मक ज्ञान पूर्ण सत्य से सम्बन्ध नहीं रखता, अतः बुद्धि से परे है। वह कल्पनात्मक सादृश्य से बुद्धि को भुलावा देता है। धर्मशास्त्र भी बुद्धि से परे है। अतः दोनों के लिए ही प्रतीकात्मक माध्यम आवश्यक है। इसीलिए काव्य का धर्म से सम्बन्ध है। वह उस तत्त्व की अनुभूति करता है जो बुद्धिग्राह्य नहीं है और यही बात धर्म के लिए भी सत्य है। अतः कहा जा सकता है कि यह नवप्लेटोनिक विचारधारा परम्परागत नैतिकतावादी और धार्मिक है।

: 2 :

मध्ययुगीन कला-साहित्य-चिन्तन

(क) मध्ययुगीन इटैलियन काव्यशास्त्र

मध्ययुग का समय प्रथम से लेकर अठारहवीं शती के अन्त तक माना जाता है। इस युग में दान्ते का योगदान महत्त्वपूर्ण है। इसके पूर्व मध्ययुग में कोई महान् विचारक नहीं हुआ।

दान्ते अलीगियरी : दान्ते का जन्म सन् 1265 ई. में इटली में हुआ था। वे फ्लोरेन्स के नागरिक थे। उनका परिवार प्राचीन होते हुए भी वे उच्चवर्गीय नागरिक के घर में नहीं जन्मे थे। उनका जन्म उस समय हुआ था जब मध्ययुगीन विचारधारा और संस्कृति के पुनरुत्थान का प्रारम्भ हो रहा था। राजनीति के विचारों और कला-सम्बन्धी मान्यताओं में भी परिवर्तन हो रहा था। दान्ते, वर्जिल के बाद इटली के सबसे महान् कवि थे। वे इटली के राष्ट्रकवि भी थे। उनका सुप्रसिद्ध महाकाव्य *डिवाइन कमेडिया (Divine Comedia)* अपने ढंग का अनुपम प्रतीक महाकाव्य है। इसके अतिरिक्त उनका गीतिकाव्य *विटा नुवोवा (Vita Nuova)* जिसका अर्थ नई जिन्दगी है, अत्यन्त मार्मिक कविताओं का संग्रह है जिसमें उन्होंने अपनी प्रेमिका 'सीट्रिस' की प्रेम-कथा तथा 23 वर्षों में ही उसके देहावसान पर मार्मिक विरह-व्यथा का वर्णन किया है। वे इटली के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं जिनके सम्बन्ध में अंग्रेज़ कवि 'शेली' ने लिखा है कि "दान्ते का काव्य उस सेतु के समान है जो काल की धारा पर बना है और प्राचीन विश्व को आधुनिक विश्व से मिलाता है।"

दान्ते ने लैटिन भाषा में न लिखकर बोलचाल की इतालवी भाषा में अपना महाकाव्य लिखा और मातृभाषा और लोकप्रचलित भाषा को अपनी महान् कृतियों से गौरवान्वित किया। यह कार्य तुलसीदास के रामचरितमानस के भाषा में लिखने के समान था। वास्तव में यह समय विश्वभर में लोकभाषा की प्रतिष्ठा के आन्दोलन का समय था। भारत में भी रामानन्द, ज्ञानेश्वर, नामदेव, विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी आदि ने इसी प्रकार लोकभाषा में साहित्य-रचना का आन्दोलन किया। वास्तव में दान्ते का यह कार्य युग-परिवर्तन का शंखनाद था। इतालवी भाषा में 'डिवाइन कमेडिया' के द्वारा दान्ते का स्थान अमर है, क्योंकि उन्होंने अनगढ़ और ग्राम्य बोलचाल की इतालवी भाषा को परिष्कृत करके महाकाव्य का माध्यम बनाकर उसे गरिमा प्रदान की।

दान्ते केवल कवि और विचारक ही नहीं थे, वरन् वे राजनीतिक नेता और प्रशासक भी थे। उन्होंने फ्लोरेन्स राज्य में शासन भी किया। परन्तु उनके कला और काव्यशास्त्र-सम्बन्धी विचार उनकी कृति *दे वल्गारी एलोकुओ (De Valgari Eloquio)* में प्राप्त होते हैं। वे उत्कृष्ट कविता से ही सन्तुष्ट न होकर यह भी बताते हैं कि सर्वोत्कृष्ट

कविता किन बातों पर निर्भर करती है। इसमें उन्होंने काव्य की भाषा पर भी विचार किया है। भाषा कोई भी हो सकती है। उसमें यदि उत्कृष्ट विषयों, जैसे युद्ध, प्रेम, शील, चरित्र की उदात्तता, सौन्दर्य आदि की उत्तम अभिव्यक्ति हुई है, तो वह भाषा काव्योपयोगी है। प्रेम जैसे विषयों को और लोकभाषा को अपनी रचनाओं में महत्त्व प्रदान करके उन्होंने ग्रीक और लैटिन परम्परा के विरुद्ध एक क्रान्तिकारी पदन्यास किया। अपने ग्रन्थ दे *वल्गरी एलोकुओ* में दान्ते ने काव्य के उद्देश्य, काव्य की भाषा-शैली, छन्द, काव्यभेद, काव्य-कोटि आदि विषयों पर भी प्रकाश डाला है। नैतिक मूल्यों और आदर्शों की प्रतिष्ठा उत्तम काव्य का ध्येय होता है। ज्ञान और बुद्धि-विलास (wit) दोनों ही उत्तम काव्य के लिए आवश्यक हैं। स्वाभाविक और प्रचलित जनभाषा ही उत्तम भाषा बन सकती है। दान्ते के विचार से लय और कल्पना के अधीन रहकर ही आलंकारिकता का काव्य में प्रयोग होना चाहिए। कृत्रिम परम्परागत भाषा के स्थान पर अनुभव की चुभन से भरी शब्दावली अधिक जीवन्त और प्रभावशाली होती है।

दान्ते का विचार है कि काव्य का अनुवाद उचित और प्रभावशाली नहीं हो सकता। क्योंकि एक भाषा का काव्य उसके लय-सिद्धान्तों के अनुसार रचा जाता है, उसे दूसरी भाषा की लयों में ढालना तथा अर्थ और भाव की चुटीली अभिव्यक्ति करना सम्भव नहीं है। ऐसा करने से उसकी मधुरता और व्यंजकता नष्ट हो जाती है।

दान्ते के विचार से परिष्कृत सौष्ठवपूर्ण भाषा, उत्तम अभिव्यंजना-शैली तथा उपयुक्त विषय-वस्तु का सामंजस्य होने पर ही श्रेष्ठ रचना सम्भव हो सकती है। इस प्रकार दान्ते ने श्रेष्ठ रचना के लिए भद्दे और ग्राम्य शब्दों को छोड़कर लोकभाषा से और शिष्ट भाषा से भी उत्तम शब्दों का चयन कर अपने काव्य की रचना की है। दे *वल्गरी एलोकुओ* ग्रन्थ की जॉर्ज सेण्ट्सबरी ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[1] दान्ते के बाद इटली में उतना बड़ा महत्त्वपूर्ण काव्य-चिन्तक क्रोचे के पूर्व नहीं हुआ। मध्ययुग में जो कुछ विशेष योगदान करनेवाले हैं, उनमें पेट्रार्क, विडा, डैनियल्लो, ट्रिसेनो, जिराल्डी शिंटो, कैसेल वेत्रो, तारक्वैतो टैसो आदि प्रमुख हैं। पेट्रार्क ने प्रायः दान्ते के विचारों को ही आदर्श माना। यों उन्होंने नवीन कवियों के मूल्यांकन के लिए प्राचीन मानदण्डों को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया। परम्परावाद और नैतिक धार्मिक दृष्टिकोण की उनके विचारों में प्रधानता है।

---

1. For myself I am prepared to claim for it, not merely the position of the most important critical document between Longinus and the Seventeenth Century at least, but one of the intrinsic importance on a line with that of the very greatest critical documents of all the history. There is no need at all to lay much stress on the mere external attractiveness unusual as that may be; of the combination in one person of the greatest poet and the first, if not the sole great critic of the middle Ages. The tub can stand on its own bottom.

—*A History of Criticism* by G. Saintsbury, Vol. I, p. 444.

पूर्वोक्त विद्वानों ने प्रायः महाकाव्य के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। विडा (Vida) का विचार है कि काव्यकला का सर्वोच्च रूप महाकाव्य है। अरस्तू के समान विषादान्त नाटक को वे महाकाव्य से बढ़कर नहीं मानते। डैनियल्लो (Daniello-1535) के विचार से महाकाव्य में राजाओं और महापुरुषों के उच्चचरित्रों का अनुकरण होता है। अतः वह हमें वास्तविक ऐतिहासिक जीवन के समान सत्य मालूम पड़ता है। ट्रिसेनो (Trissino-1563) के विचार से मुक्तक और वर्णनात्मक ये काव्य के दो भेद होते हैं, परन्तु वर्णनात्मक काव्यों में महाकाव्य इस बात में भिन्न और श्रेष्ठ है कि इसमें कथावस्तु और कार्य सुसंगठित और एकान्वित रहता है। इस युग के इटैलियन विंचारकों में 'जिराल्डी शिंटो' (Giraldi Cinto-1554) के काव्य-सम्बन्धी विचार महत्त्वपूर्ण हैं। वे प्राचीन यूनानी परम्परा के अनुसार काव्य को जीवन की अनुकृति मानते हैं। महाकाव्य प्रख्यात चरित्रों की अनुकृति है। महाकाव्य के उन्होंने तीन भेद किये हैं—(1) एक प्रख्यात व्यक्ति के एक चरित्र की अनुकृति करनेवाला महाकाव्य, और (2) एक महान् व्यक्ति के अनेक और विविध चरित्रों की अनुकृति करनेवाला महाकाव्य, और (3) अनेक महापुरुषों के अनेक चरित्रों की अनुकृति करनेवाला महाकाव्य। इनमें जो तीसरे प्रकार का महाकाव्य है उसमें घटनाओं और मनोभावों का उतना विस्तृत वर्णन नहीं किया जाता, जितना कि प्रथम प्रकार के महाकाव्य में। शिंटो का यह विभाजन बड़ा ही व्यावहारिक और सर्वमान्य है।

कैसेल वेत्रो (Castle Vetro-1570) ने भी काव्यभेदों के प्रसंग में महाकाव्य को महत्त्वपूर्ण माना है। उनके विचार से ऐतिहासिक आधार महाकाव्य के लिए आवश्यक नहीं, वरन् वांछनीय हो सकता है। इस प्रकार महाकाव्य के दो भेद हैं—(1) चरित महाकाव्य (Biographical Epic), (2) काल्पनिक महाकाव्य (Romantic Epic)। तारक्वैतो टैसो का समय भी सोलहवीं शताब्दी है। इन्होंने भी काव्य के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किये हैं। मुक्तक और वर्णनात्मक काव्यों में महाकाव्य का विशिष्ट स्थान है। महाकाव्य के विभिन्न अंगों का संगठन उसी प्रकार होना चाहिए जैसा कि किसी प्राणी या जीवधारियों के अंगों का सुन्दर और सानुपातिक संगठन होता है। टैसो का विचार है कि आश्चर्यकारी और काल्पनिक घटनाओं का समावेश महाकाव्य में रमणीयता को बढ़ानेवाला होता है। महाकाव्य में सामयिक घटनाओं का वर्णन उचित नहीं होता। ऐसी घटनायें भी महाकाव्य में नहीं होनी चाहिए जो विचित्र किन्तु अविश्वसनीय हों। उनका विचार है कि महाकाव्य में किसी न किसी रूप में ऐतिहासिकता का समावेश होना चाहिए। ऐतिहासिक घटनाओं से वर्णन वास्तविक प्रतीत होते हैं। दैवी और अद्‌भुत घटनाओं से महाकाव्य में चमत्कार और रोचकता बढ़ जाती है। ऐसा विश्वसनीय कथानक जिसमें कवि-कल्पना स्वच्छन्दता के साथ कार्य करे, महाकाव्य में अधिक उपयोगी है। विषादान्त नाटक के समान महाकाव्य में करुणा और भय के भाव आवश्यक नहीं होते। इसी प्रकार टैसो के विचार से महाकाव्य का नायक उच्च उदात्त गुणों से सम्पन्न एवं सद्भावनाओं से युक्त होना चाहिए, जबकि विषादान्त

नाटक के लिए इस प्रकार के नायक की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार टैसो ने महाकाव्य की धारणा की विशद व्याख्या प्रस्तुत की है।

मध्ययुग में साहित्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ तो नहीं मिलतीं फिर भी इस काल में साहित्य-रूपों एवं काव्य-तत्त्वों का सैद्धान्तिक विवेचन अवश्य हुआ। इस समय प्रायः परम्परागत काव्य-सिद्धान्तों की व्याख्या हुई और पक्ष-विपक्ष में विचार प्रकट किये गये। धीरे-धीरे काव्य-शास्त्र, समीक्षा और सौन्दर्य-शास्त्र के प्रसंग में वैज्ञानिक दृष्टि का विकास हुआ। 'आर्केडियन अकादमी' की स्थापना इस युग की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसके माध्यम से काव्यशास्त्रीय चिन्तन में गतिशीलता आयी। कहा जा सकता है कि यह पुनर्जागरण-आन्दोलन का परिणाम थी। वास्तव में मध्ययुग आन्दोलनों का युग था। नवशास्त्रवादी और स्वच्छन्दतावादी आन्दोलनों के उतार-चढ़ाव को लेकर ही काव्य और कलाओं की व्याख्या होती रही। परन्तु यह कहा जा सकता है कि इसके परिणामस्वरूप मानवतावादी दृष्टिकोण का विकास हुआ तथा काव्य-चिन्तन, परम्परा से हटकर नयी भूमि पर प्रतिष्ठित हुआ जिसके साथ ही आधुनिक युग का प्रवेश हुआ।

(ख) मध्यकालीन फ्रान्सीसी साहित्य-चिन्तन

इटली के समान फ्रान्स में भी प्राचीन काल में यूनानी और लैटिन चिन्तना का प्रभाव रहा। इसके अन्तर्गत वक्तृत्व-कला, काव्य और शैली-शास्त्र पर विशेष विचार किया गया। उस समय मूलतः दृष्टिकोण धार्मिक और नैतिक था। प्राचीन यूनानी और ईसवी सन् के प्रारम्भिक शताब्दियों की विचारधारा में अन्तर यह था कि परवर्ती विचारों में ईसाई-धर्म और नैतिकता की जकड़ थी, जबकि ईसवी पूर्व यूनानी चिन्तन शुद्ध, तटस्थ दार्शनिक आधार पर था। मध्ययुग के आने पर उसमें कुछ परिवर्तन हुआ। सोलहवीं शताब्दी में फ्रान्स में बोकेशियो, शेविये आदि का प्रभाव रहा। ग्रेवे का भी नाम उल्लेखनीय है। पर उस समय की स्थिति यह थी कि काव्य-रचना के अन्तर्गत काव्यकला के साथ-साथ धर्म, दर्शन, नीति, राजनीति आदि सभी विषयों का समावेश था।

काव्य के सम्बन्ध में यही मान्यता प्रधान थी कि वह एक अलौकिक दैवी शक्ति या प्रतिभा के परिणामस्वरूप रचा जाता है तथा वह काव्य-रचना हर एक के वश की नहीं। इसके साथ ही साथ यह भी एक निर्विवाद मान्यता थी कि काव्य में नैतिक और धार्मिक विचारों और भावों का ही प्रतिपादन होना चाहिए। काव्य में ही धर्म और नीति की शिक्षा देने की शक्ति होती है। काव्य के ही समान नाटक में भी धार्मिकता और नैतिक भावनाओं के प्रचार का दृष्टिकोण निहित था।

अलंकार या वक्तृत्व-कला पर भी विचार हुआ और यूनानी वक्तृत्व-शास्त्र की अपेक्षा यहाँ यह विकास दिखलायी देता है कि वक्तृत्व-कला जो पहले गद्य के लिए थी वह अब काव्य में भी आकर अलंकार के रूप में समाविष्ट हो गयी; परिणामस्वरूप फ्रान्स में स्टाइलिस्टिक या शैली-शास्त्र का बड़ा विकास हुआ। प्लेटो और अरस्तू के अनुकृति-सिद्धान्त पर भी विचार-विमर्श इस समय होता रहा।

आगे चलकर दान्ते के प्रभाव से ग्रीक और लैटिन का मोह छोड़कर फ्रेञ्च लेखकों ने फ्रेञ्च भाषा की उन्नति में अपना विशिष्ट योगदान किया। फ्रेञ्च भाषा में ही साहित्य और कला-सम्बन्धी चर्चा और विचार भी आरम्भ हुए तथा सैद्धान्तिक चिन्तन भी प्रचलित हुआ। मध्ययुग में अनेक काव्यशास्त्रीय विचारक भी फ्रान्स में हुए। इनमें सर्वप्रथम नाम बोइलो का लिया जा सकता है। बोइलो का समय सन् 1636 ई. से 1711 तक का माना जा सकता है। ये अपने समय के यूरोप के सर्वश्रेष्ठ समीक्षक थे। फ्रान्सीसी साहित्य-चिन्तकों में उन्हें सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। इनकी प्रसिद्ध काव्य-रचनायें *पेरिस नगर से एक कवि की बिदाई* (1660 ई.) तथा *रोमीय नायकों के संवाद* (1664 ई.) मानी जाती हैं, पर काव्यशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उनकी कृति *एल. आर्ट पोइतीक (El. Art Poetique)* है जो सन् 1674[1] में अंग्रेजी कवि मिल्टन के महाकाव्य के प्रकाशित होने के कुछ वर्षों बाद ही लिखी गयी थी। इसमें 'बोइलो' ने यह विचार व्यक्त किया था कि पारलौकिक तत्त्वों के वर्णन में ईसाई अध्यात्मवाद का समावेश नहीं होना चाहिए, क्योंकि उनके काल्पनिक आलंकारिक वर्णनों से आध्यात्मिकता को आघात पहुँच सकता है।

'बोइलो' ने अरस्तू और होरेस की अपेक्षा काव्य के अधिक भेद प्रस्तुत किये, जिनमें प्रमुख हैं—महाकाव्य, नाटक (विषादान्त और प्रहसन), पैस्टोरल एलेजी (गोचारण विरहगीत), ओड (सम्बोध-गीति), सानेट (चतुर्दशपदी), एपीग्राम, बैलेड, रोंडू, मैड्रीगल, सैटायर (व्यंग्य-काव्य), वोदविल आदि। इन भेदों का विरोध फ्रान्सीसी शास्त्रीयतावादियों ने किया। अरस्तू और होरेस के मूलभूत सिद्धान्तों के साथ व्यंगात्मक चुभन ने 'बोइलो' की रचनाओं और विचारों में एक विशिष्ट अधिकृत प्रभाव का समावेश हो गया था।[2] वे स्वयं नव्यशास्त्रवादी थे। प्रकृति और भावना का उदात्तीकरण उनका मूल उद्देश्य था।

बोइलो ने काव्य-रचना में विवेक को परम्परा से अधिक महत्त्व प्रदान किया। विवेकपूर्ण रचना ही स्थायी होती है। यथार्थ जीवन और प्रकृति पर आधारित काव्य ही सौन्दर्ययुक्त होता है। बोइलो ड्राइडन के समकालीन थे। उनके विचारों से अनेक अंग्रेज कवि और समीक्षक भी प्रभावित हुए। वे प्राचीन साहित्य और परम्परा से उत्तम तत्त्वों को ग्रहण करने के पक्ष में थे; फिर भी वे एक युग-प्रवर्तक साहित्य-चिन्तक थे। महाकाव्य में वे नायक के विशेषता, साहस और सद्गुणों के चित्रण को विशिष्ट

---

1. "Bailcau, whose Horatian art Poetique and translation of Longinus, had both appeared in 1674........... was most authoritative summation of 17th century epic theory, a kind of dried essence of epic, as a romantic historian has termed it." —*Literary Criticism : A Short History* by William K. Wimsatt, J.R. and Cleanth Brooks (Yale University, 1964), p. 205.
2. वही, पृ. 235.

महत्त्व प्रदान करते हैं, क्योंकि यही बातें महाकाव्य को गरिमा प्रदान करती हैं। उन्होंने लांजाइनस के 'ऑन दि सब्लाइम' के अनुवाद में उदात्त तत्त्व की अपने ढंग से व्याख्या की है, फिर भी वोइलो को परम्परावादी ही माना जायगा।

बोइलो के अतिरिक्त मोलिये, कारनेथी आदि फ्रान्सीसी लेखकों ने काव्य के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किये थे। आगे चलकर वाल्तेयर, आवेज्यूबीलीलौ, दिदरो, देअलेम्बर्त, मारमोवेल, रूसो आदि ने भी काव्य के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये। इन अठारहवीं शताब्दी के विचारकों में शास्त्रीयतावाद (क्लासिसिज्म) का विरोध भी पाया जाता है। इन साहित्य-चिन्तकों में वाल्तेयर का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

वाल्तेयर : इनका वास्तविक नाम प्रान्सिस मेरी ऐरोयेत था, पर इन्होंने वाल्तेयर (Voltaire) नाम से ही लिखना शुरू किया। इनका जन्म पेरिस में सन् 1694 की 21 नवम्बर को हुआ था तथा इनकी मृत्यु 30 मई सन् 1778 में 83 वर्ष 6 माह की आयु भोगकर हुई थी। अपने लेखन और विचारों के कारण इन्हें दो-तीन बार कारावास में रहना पड़ा। इन्होंने काफी समय इंगलैण्ड में व्यतीत किया और वहीं इनकी ख्याति बढ़ी। सन् 1760 के अनन्तर ये प्रायः स्विट्जरलैण्ड में रहे, जहाँ इन्होंने घड़ियों और रेशम के व्यापार से पर्याप्त धन अर्जित किया और उससे जरूरतमन्द, पीड़ित और निर्धन लोगों की सहायता की। इन्होंने नाटक, दर्शन, व्यंग्य-कथा तथा काव्यशास्त्रीय रचनायें लिखीं। इन्होंने बँधी-बँधायी परम्पराओं का विरोध किया। उनकी साहित्यिक अभिरुचि के निर्माण में अंग्रेजी-साहित्य का विशेष महत्त्व है। वे परिवर्तन के पक्षपाती थे, पर सौन्दर्यशास्त्रीय कोई निश्चित सिद्धान्त वे नहीं दे सके, क्योंकि उनका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी था। पर उनकी नई दृष्टि सुन्दर में असुन्दर, और असुन्दर में सुन्दर की खोज में मिलती है। उनके विचार से कला को पूर्णता विषयवस्तु एवं शैली के सामञ्जस्य से प्राप्त होती है। शैली की तीनों कोटियाँ—सहज, अलंकृत एवं उदात्त (Natural, Tempered and Elevated) के वे समर्थक थे; जो उनकी रचनाओं में मिलती हैं; वे गद्य और पद्य दोनों ही रचनाओं में स्पष्टता के पक्षपाती थे। अठारहवीं शती की रचना और आलोचना पर वाल्तेयर का गहरा प्रभाव देखा जाता है।

देनिस दिंदरो (Denis Diderot) का समय 1713 से 1748 ई. तक रहा। इन्होंने साहित्य के विविध रूपों की विवेचना प्रस्तुत की। संवेदनशीलता (Emotionalism) को इन्होंने विशेष महत्त्व प्रदान किया और करुणा को साहित्यरचना के मूल में स्वीकार किया, क्योंकि वह भाव को आन्दोलित भी करती है और उसका परिष्कार भी। भाषा के स्वच्छन्द एवं निरंकुश रूप को उन्होंने विशेष समर्थन दिया। उनका मत था कि सहज ध्वनियों और प्रतीकों की भाषा, हमारें विचारों को मूर्त बनाती है और स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त करती है। इस प्रसंग में सर्जनात्मक कल्पना अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। वही बिम्बों और प्रतीकों की सृष्टि करती है तथा विचारों को रूपायित करती है। अपनी भावात्मकता और संवेगात्मकता की दृष्टि के साथ रचना

में नैतिकता का भी उन्होंने आगे चलकर समावेश किया। उन्होंने अन्तिम समय तक खुले मस्तिष्क से नयी चेतना के परिप्रेक्ष्य में नवीन विचारों का स्वागत किया। अपने उदात्त दृष्टिकोण के कारण फ्रान्सीसी साहित्य-चिन्तन को उन्होंने आगे बढ़ाया। उनका मत था कि कला और साहित्य हमें सद्गुणों की ओर गतिमान करते हैं।

शास्त्रवाद और स्वच्छन्दतावाद के पक्ष-विपक्ष में इस समय दिवाद भी चलते रहे। परन्तु रूसो जैसे विचारकों ने इस युग के साहित्य-चिन्तन को व्यापकता और विस्तार प्रदान किया।

रूसो (Rousseau Jean Jacques) का जन्म स्विट्ज़रलैण्ड के जिनेवा नगर में सन् 1712 ई. में हुआ था। बचपन में ही माता की मृत्यु के पश्चात् और पिता के अन्यत्र चले जाने पर इनका पालन-पोषण सम्बन्धियों ने किया। ये घुमक्कड़ थे। जब सन् 1841 ई. में वे फ्रान्स में आये, तो वहाँ के निवासियों के बनावटी जीवन से उन्हें बड़ा विक्षोभ हुआ। विशिष्ट धनी-मानी नागरिकों को विशेष सुविधाएँ थीं, जबकि सामान्य जन उपेक्षित थे। इस विषय पर सन् 1762 ई. में उन्होंने *ले काण्ट्रेक्ट सोशियल (Social Contract)* नामक पुस्तक लिखी जिसका मुख्य सूत्र था कि बिना लोक-स्वीकृति के कोई कानूम उन पर लागू नहीं हो सकता। यह पुस्तक ही फ्रान्स की क्रान्ति की प्रेरक सिद्ध हुई जिसका नारा था स्वतन्त्रता, समानता और भाई-चारा। रूसो ने और भी विचारपूर्ण साहित्य लिखा जिसने लोगों का दृष्टिकोण और व्यवहार ही बदल दिया।

साहित्य के क्षेत्र में भी रूसो के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। अपने विचारों के कारण वे स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के जनक माने जाते हैं। उनका विचार था कि प्रकृति के सौन्दर्य को काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिए। उन्होंने अपने निजी भावों को तीव्रता के साथ व्यक्त किया। उनके *कन्फेशन्स* (आत्मनिवेदन) उत्कृष्ट रचना माने जाते हैं। अपने स्वतन्त्र धार्मिक विचारों के कारण उनका दमन किया गया। वे सन् 1762 ई. में फ्रान्स छोड़कर चले गये और फिर वापस आने पर पेरिस के निकट 2 जुलाई 1778 ई. में उनका देहावसान हो गया। पर उनके विचार समाज और साहित्य में क्रान्ति फूँकते रहे।

19वीं शताब्दी में कई महत्त्वपूर्ण नाम फ्रान्सीसी-साहित्य-चिन्तन में जुड़ जाते हैं। इनमें प्रमुख हैं सेण्ट ब्यूव (Saint Beauve), एच. तेन (H. Taine), गुस्ताव फ्लाबेयर (Gustava Flaubert), ज़ोला (Zola), बादलेयर (Baudelaire), स्टीफेन मलार्मे (Stephane Mallarme), पाल वर्लेन आर्थर रिम्बो (Paul Verlaine, Rimbaud), तथा बर्गसाँ (Bergson)।

सेण्ट ब्यूव का समय सन् 1804 से 1869 ई. तक था। इनका मत था कि किसी भी कलाकृति को बिना उसके कलाकार के सम्बन्ध में पूरी जानकारी के सही ढंग से व्याख्यायित और विवेचित नहीं किया जा सकता; क्योंकि जैसा वृक्ष होगा, वैसा ही उसका फल होगा। अतः कलाकार को छोड़कर कलाकृति का मूल्यांकन दुष्कर

होता है। कृति की समीक्षा के पूर्व कृतिकार या लेखक का जीवन-वृत्त, वंश-परम्परा, चरित्र, वातावरण, शिक्षा और बौद्धिक स्तर को जानना आवश्यक है। सेण्ट ब्यूव प्रायः प्रभाववादी समीक्षा को महत्त्व देते हैं तथा कला कला के लिए है—इस सिद्धान्त का भी समर्थन करते हैं जिसका समर्थन जर्मन दार्शनिक काण्ट द्वारा भी किया गया।

हाइपोलाइट तेन का समय सन् 1828 से 1893 ई. तक था। ये भी सेण्ट ब्यूव के समान यह मानते थे कि कलाकार पर देश, काल, वातावरण, जाति आदि का प्रभाव पड़ता है। अतः साहित्य के अध्ययन के लिए इन सब बातों का ज्ञान होना आवश्यक है। उनका मत क्षणप्रभावी शक्ति (Theory of Moment) का था पर इस मत को बहुत मान्यता नहीं मिली।

गुस्ताव फ्लाबेयर का समय सन् 1821 से 1880 ई. तक रहा। इन्होंने अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास *मादाम बावरी* द्वारा यथार्थवाद को एक नयी व्याख्या दी। इन्होंने साहित्य में जीवन की ऐसी परिस्थितियों तथा चरित्रों के व्यक्तित्व का ऐसा चित्रण किया, जो स्वाभाविक न होकर कृत्रिम और विशिष्ट था। उन्हें वैचित्र्यवाद का लेखक भी कहा जा सकता है। इस प्रकार जीवन से पलायन कर जिस काल्पनिक जीवन का उन्होंने चित्रण किया, वह वास्तविकता से भिन्न था। उन्हें अनुकरणीय नहीं कहा जा सकता। उनका यह मत अवश्य था कि सौन्दर्य अपरिमेय है और उसे किसी भी पृष्ठभूमि में अंकित किया जा सकता है।

ज़ोला का समय सन् 1840 से 1902 ई. तक माना जाता है। ये प्रकृतवादी चिन्तक थे, जो यथार्थवाद का एक और अगला कदम है। ये अकृत्रिम एवं नग्न सत्य के चित्रण के पक्षपाती थे। स्वच्छन्दतावाद के विरोध में आयी इस प्रवृत्ति का उस समय तो स्वागत नहीं हुआ; परन्तु मोपासाँ (Maupassant) जैसे चिन्तकों ने इसके महत्त्व को समझा; क्योंकि इसके अन्तर्गत सत्य का बनावटी और आवृत रूप न होकर उसका खुला रूप होता है, जो चिन्तन को प्रेरणा देनेवाला होता है। वास्तविकता तो यह है कि ज़ोला का दृष्टिकोण परम्परागत दार्शनिक चिन्तन से उतना प्रभावित नहीं था जितना विज्ञान के शरीरशास्त्र और रसायनशास्त्र से, जहाँ भौतिक सत्य अपने नग्न रूप में प्रकट होता है।

ज़ोला के बाद स्वच्छन्दतावाद का पुनः उभार हुआ और प्रतीकवादी प्रवृत्ति का उदय हुआ। सत्य को फिर प्रकृत रूप में न कहकर उसे आवृत करके विचित्र रहस्यमय परिवेशों में प्रस्तुत करने का प्रचलन बढ़ा। इससे नये प्रयोगों और नये मूल्यों के उद्‌घाटन की लालसा पुनः पनपी। अस्पष्टता के साथ-साथ इसमें स्वच्छन्दतावादी आशायें पुनः पल्लवित हुईं और साहित्य में नयी अभिव्यक्ति-भंगिमाओं का विकास हुआ।

चार्ल्स बादलेयर (Charles Baudelaire) (1821-1867) : चार्ल्स बादलेयर का जन्म 9 अप्रैल 1821 ई. को हुआ। उनके पिता बचपन में ही नहीं रहे। 7 वर्ष की अवस्था में उनकी विधवा माँ ने एक सैनिक राजनीतिज्ञ से विवाह कर लिया। इस नये पिता से बादलेयर का संघर्ष चलने लगा। पिता के बताये मार्ग इन्हें नहीं

रुचे। पहले पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त द्रव्य दो वर्षों में ही उड़ा डाला। अपनी माँ से प्राप्त पैसे पर ही गुजर-बसर करने लगे। पेरिस में इनके दिन बड़े कष्ट में बीते, पर उसे ये इतना चाहते थे कि छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाना चाहते थे। पेरिस की कलात्मक एवं साहित्यिक गतिविधियों में ये बराबर भाग लेते थे; पर अपने स्वभाव के कारण किसी के साथ घुल-मिल नहीं पाये और एकाकी जीवन व्यतीत करते रहे। इनकी 160 कविताओं का संग्रह 25 जून 1857 ई. को *फ्लावर्स ऑफ ईविल* नाम से प्रकाशित हुआ। इससे परम्परावादी समुदाय में हलचल मच गयी। उनके इस संग्रह के तीन संस्करण प्रकाशित हुए जिनके लिए इन्होंने तीन आलेख तैयार किये थे; पर कोई भी संग्रह के साथ प्रकाशित नहीं हो पाये। फिर भी इन भूमिका-आलेखों में व्यक्त इनके विचार रोचक भी हैं और महत्त्वपूर्ण भी। बादलेयर की मृत्यु 31 अगस्त 1867 ई. में हो गयी।

बादलेयर का विचार था कि कवि किसी संस्था का नहीं होता; अन्यथा वह भी क्षण-स्थायी होता। काव्य-जगत् को कुछ कवियों ने अपने प्रदेशों में बाँट लिया है। वे अमर हैं। कविता छन्दशास्त्र के माध्यम से संगीत से सम्बद्ध है। छन्दशास्त्र की जड़ें किसी कालजयी सिद्धान्त में उतनी नहीं, वे मानव-आत्मा में बहुत गहराई तक प्रविष्ट हैं। सुखात्मक और दुःखात्मक अनुभूति प्रदान करने में कविता चित्रकला, पाकशास्त्र और सौन्दर्य-रचना की कलाओं के समान ही है।

बादलेयर के विचार से नैतिकता कलाओं के भीतर समाहित और ओतप्रोत रहती है, जैसे वह जीवन में रहती है। साथ ही कवि भी अपने न चाहने पर भी नैतिक रहता है; क्योंकि वह प्रकृति से ही अपनी समृद्ध भावराशि को लुटाता रहता है।

सुन्दरता और भव्यता तर्कसंगत चिन्तना की अनुवर्ती होती है। कला को प्रकृति की अनुकृति नहीं मानना चाहिए। कला एक जादुई चमत्कार है।

बादलेयर का समय ह्रासोन्मुखी काल था। उस समय पुरानी परम्पराओं के प्रति अविश्वास हो गया था, पर नयी परम्पराओं की नींव पड़नी थी। इस दिशा में बादलेयर की महत्त्वपूर्ण देन है। उन्होंने यथार्थवादी स्वच्छन्दतावाद को प्रतिपादित किया। वह 'कला के लिए कला' सिद्धान्त को मानवता-विरोधी मानते थे। कल्पना को उन्होंने विशेष महत्त्व प्रदान किया। उनकी दृष्टि से नये संसार की रचना करना कल्पना का ही काम है। कला का सम्बन्ध वास्तविक अनुभूतियों से है जो सहज रूप में मानव-जीवन में प्राप्त होती है। प्रतीक-रचना को काव्य में उन्होंने विशेष महत्त्व दिया। जीवन की वास्तविक अनुभूतियों के आधार पर कवि अपने बिम्बों और प्रतीकों के लिए दृष्टि प्राप्त करता है। अपने ह्रासोन्मुख युग में भी बादलेयर ने नये चिन्तन के द्वारा काव्य को एक नयी चेतना प्रदान की। इनका सादृश्य सिद्धान्त (Theory of Correspondence) एक प्रेरक दृष्टिकोण प्रदान करने की विशिष्टता से युक्त है। इसमें यह माना गया है कि कवि के लिए सौन्दर्य सहजवृत्ति है और उसी से वह प्रकृति और संसार को देखता है तथा विविध प्रकार की सौन्दर्य-झलकें प्राप्त करता है।

स्टीफेन मलार्मे (Stephane Mallarme) : 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, फ्रान्स के अन्तर्गत कला के क्षेत्र में अनेक प्रयोग हुए। यह एक प्रकार से परिवर्तन का युग था। उन कलाकारों में जिन्होंने अपनी पूर्ववर्ती सीमाओं का विस्तार किया था, स्टीफेन मलार्मे का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने काव्य के वस्तुपक्ष और रूप-रचनापक्ष दोनों ही में जो प्रयोग किए, उनके कारण फ्रान्सीसी साहित्य में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मलार्मे का जन्म 18 मार्च सन् 1842 को पेरिस में हुआ था। पाँच वर्ष के बाद ही उनकी माता का देहान्त हो गया और 21 वर्ष की अवस्था होने पर सन् 1863 में वे अपने पिता की छत्रछाया से भी वंचित हो गये। इन विषादपूर्ण घटनाओं का प्रभाव उनकी कविता में भी देखा जा सकता है जिसके अन्तर्गत वे इस कठोर सांसारिक वास्तविकता से दूर, एक नया संसार खोजते हैं। उन्होंने लंदन जाकर अंग्रेजी सीखी और एक अध्यापक का जीवन व्यतीत करने लगे। इसके साथ ही साथ पत्रकारिता, सम्पादन और अनुवाद का कार्य भी उन्होंने किया। जीविकोपार्जन के इन सभी कार्यों के साथ उनकी काव्य-रचना बराबर चलती रही। आरम्भिक काव्य-रचनायें चार्ल्स बादलेयर से प्रभावित थीं जिनका विषय भी वास्तविकता से पलायन का था। मलार्मे बादलेयर से प्रभावित अवश्य थे, परन्तु उनकी भावुकता के स्थान पर इन्होंने अपने नये संसार में वास्तविकता के लिए एक आदर्श रूप या पूर्णता ढूँढ़ने का प्रयत्न किया। अतः उनके किसी वस्तु या रूप के वर्णन में एक सार्वभौमता और पूर्णता का आभास मिलता है। इसके लिए उन्हें एक नयी भाषा का निर्माण करना पड़ा जिसके द्वारा वे विशिष्ट रूप के स्थान पर उसके पूर्ण स्वरूप के गुणों का आभास करा सके। भाषा के इस सूक्ष्म और जटिल स्वरूप को खोज निकालने में ही उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसके लिए उन्होंने अपने जीवन का शेष भाग अर्पित कर दिया। उनकी मृत्यु 9 सितम्बर 1898 ई. में हुई।

सामान्यतया यह विश्वास है कि जीवन की यथार्थता के बाद शून्य है। इसको मानते हुए भी मलार्मे ने जीवन की सजीवता से शून्यता को भी ओतप्रोत करने का प्रयत्न किया। इस कार्य में उनकी कल्पनाशीलता एवं शब्द-रचना दोनों ही का अद्भुत योगदान है। उनकी कल्पना ने जहाँ वास्तविकता का आधार लेकर उसकी कमियों को दूर कर नये पूर्ण रूप को बिम्बित किया; वहीं उनकी सूक्ष्म शब्द-दृष्टि से उसका आभास देने के लिए नये शब्द-रूपों और बिम्बों का प्रयोग किया। यह बात कि नयी चेतना का आभास देने के लिए नयी भाषा-रचना की आवश्यकता होती है—मलार्मे ने सिद्धान्त रूप में तो कम कही; पर अपनी काव्य-रचना द्वारा व्यवहार में अधिक उतारा, जिसका प्रभाव आगे के रचनाकारों पर भी पड़ा, विशेष रूप से प्रतीकवादी आन्दोलन को इनकी विचारधारा से बड़ा बल मिला।

आर्थर रिम्बो तथा पाल वर्लेन (Rimbaud-Paul Verlaine) : रिम्बो तथा वर्लेन ने प्रतीकवादी आन्दोलन को विशेष समर्थन दिया। इसमें संगीत की विशिष्टताओं

का समावेश रिम्बो के द्वारा सम्पन्न हुआ। उनके विचार से कवि द्रष्टा होता है और समय की चिन्तनगत वैचारिक उपलब्धियों को वह साहित्य में साकार और संवेध रूप प्रदान करता है।

पाल वेलारी (Paul Valery) : 19वीं शती के विचारकों में वेलारी का भी नाम उल्लेखयोग्य है। बादलेयर और मलार्मे के साथ प्रतीकवादियों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने गद्य और पद्य की भाषा में भेद बताते हुए कहा कि गद्य की भाषा बोलचाल की सामयिक समस्याओं से सम्बद्ध उन पर विचार का माध्यम होती है, जबकि पद्य या कविता की भाषा, एक सृजन की भाषा है, वह कल्पना से प्रेरित एवं संवेदना से ओतप्रोत रहती है। कविता में सुन्दर लय और संगीत को उन्होंने आवश्यक भाना। वे शुद्ध कविता के पक्षपाती थे।

बर्गसाँ हेनरी (Bergson, Henri) का समय 1859 से 1941 तक है। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध के फ्रेञ्च विचारकों में बर्गसाँ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनका विचार है कि बुद्धि का कार्य वाह्य विविधता की पर्तों को उद्‌घाटित करना है और इस प्रकार विज्ञान या व्यवस्थित ज्ञान को प्रस्तुत करना है। उसका यह कार्य हमारे नित्यप्रति के व्यावहारिक जीवन में उपयोगी होता है। परन्तु बुद्धि द्वारा गृहीत तथ्य, वास्तविकता का विकृत और विद्रूप रूप होकर हमारे सामने आते हैं। परन्तु आन्तरिक सघन विविधता को व्यक्त करने में बुद्धि अक्षम होती है। इस आन्तरिक वैविध्य का स्वरूप कला या काव्य के द्वारा उद्‌घाटित होता है।

प्रहसन के सम्बन्ध में बर्गसाँ के विचार बड़े रोचक हैं। उनकी मान्यता है कि हम किसी पर तब तक हँसते हैं, जब वह मानव-सुलभ प्रतिक्रियायें व्यक्त करने में असफल होता है। वह यान्त्रिक, बँधे-बँधाये ढंग से काम करता है और बदली परिस्थितियों के हिसाब से परिवर्तित उचित मानव-सुलभ व्यवहार नहीं करता। प्रहसन की स्थिति में हम संवेदनहीन हो जाते हैं। प्रहसन में आये विकलांग पर हम हँसते हैं, जबकि जीवन में किसी विकलांग को देखकर उसके प्रति हम संवेदना व्यक्त करते हैं। लेखक हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है, भावना या संवेदना को नहीं। वह हमारी संवेदना को शून्य कर देता है। इस प्रकार प्रहसन व्यक्ति को सुधारता है और उसे समाज में मान्य व्यवहार के विपरीत आचरण करने पर दण्ड देता है। बर्गसाँ का इस प्रकार का दृष्टिकोण परम्परावादी और नैतिकतापूर्ण है।

इस प्रकार बर्गसाँ का विचार है कि प्रहसन सामाजिक व्यवहार को स्वीकार करता है, जबकि कला, समाज में कुछ नया करती है और शुद्ध प्रकृति के क्षेत्र में पहुँचती है। उनके विचार से शुद्धकला प्रकृत और सहजस्फूर्त होती है। प्रहसन या नाटक सामाजिक व्यवहारों से बँधे होते हैं। इस प्रकार उनके विचार से प्रबुद्ध कला या काव्य विलक्षणता से युक्त वैयक्तिक होता है।

फ्रान्सीसी काव्य-कला-चिन्तन का यह युग एक प्रकार से विवाद और द्विविधा का काल था। इसे संक्रान्ति-काल भी कहा जा सकता है, क्योंकि प्राचीन और नवीन

मान्यताओं के बीच विवाद चल रहा था। प्राचीन मूल्यों और स्थापनाओं का ह्रास हो रहा था; औद्योगीकरण और वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणामस्वरूप, एक नवीन भौतिकवादी चेतना का विकास होने लगा था; परन्तु उसके परिणामस्वरूप नये मूल्य और नयी स्थापनायें स्थिर नहीं हो पायी थीं। मनोवैज्ञानिक रहस्यों के उद्घाटन के फलस्वरूप कला और साहित्य में एक नवीन अन्तर्जगत् का उद्घाटन होने लगा। इस प्रकार बीसवीं शती के प्रवेश के साथ-साथ कला और साहित्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण में मूलभूत परिवर्तन परिलक्षित होता है। बीसवीं शती का प्रथम चरण बीत भी नहीं पाया था कि प्रथम विश्व-युद्ध हुआ और इसके दूसरे चरण के पूरे होने के पहले द्वितीय विश्वयुद्ध तथा आणविक अनुसन्धान और विस्फोट सामने आया। अतः बीसवीं शती का आरम्भ और मध्य, विज्ञान की विजय और मानवता की पराजय का युग वन गया। साहित्य और कला विराट् के इस ताण्डव नृत्य से एक प्रकार से हतप्रभ हो गयी। विज्ञान ने मनुष्य की दृष्टि बदल दी। विश्व की विशालता तिरोहित हो गयी। नर-नारी के सम्वन्धों और अधिकारों में नयी चेतना जागी। राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद के प्रति दृष्टिकोण बदला और एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय परिवार की भावना जाग्रत् हुई। अतः साहित्य और कला के सम्मुख एक ही दृष्टिकोण रह गया और वह था मानवतावाद का। कलाकार का कर्त्तव्य हो गया कि क्षुद्र पारस्परिक संघर्ष और मनुष्य-मनुष्य के बीच के वैमनस्य को दूर कर व्यापक मानवता का विकास करें। इस प्रकार का कुछ कार्य ही बीसवीं शती में हो सका जिसका आधुनिक काल के प्रसंग में हम प्रस्तुत करेंगे।

(ग) मध्यकालीन स्पेनी साहित्य-चिन्तन

साहित्य-सम्बन्धी विचार स्पेन में छठीं शताब्दी के आसपास मिलते हैं, पर उनमें धर्म-भावना का प्राधान्य था। 'सेण्ट आइसीडोर' के विचारों का काफी समय तक प्रभाव रहा। उसके विचार से काव्य-रचना के तत्त्वों का समुचित समन्वय ही कला है। 'क्विण्टिलियन' जैसे लैटिन विचारकों के मत का प्रभाव उस युग में परिलक्षित होता है। 'आइसीडोर' काव्य की उत्कृष्टता उसमें धर्म और नैतिक विचारों के समावेश से आँकते थे। ईश्वरीय प्रेरणा और धर्म ही उनके विचार से काव्य-रचना का कारण भी होता है। वे एकेश्वरवादी थे और उसी का प्रचार काव्य के माध्यम से करना उनका लक्ष्य था।

सेण्ट आइसीडोर का प्रभाव काफी समय तक रहा। ग्यारहवीं शताब्दी तक स्पेन में काव्य और कला धार्मिक भावना से प्रभावित रही। तदनन्तर धर्म के स्थान पर दर्शन का प्रभाव बढ़ा। 'आवेम्पेस' ने जिनका समय बारहवीं शताब्दी है, यह स्पष्टतया प्रतिपादित किया कि काव्य का स्थान अन्य कलाओं से बढ़कर है। उनका मत था कि काव्य हमारी अन्तःकरण की अनुभूतियों को गहराई के साथ प्रभावित करता है, जैसा कि अन्य कलायें नहीं कर सकतीं, अतः उसका महत्त्व और प्रभाव बढ़कर है।

साहित्य के विविध रूपों और तत्त्वों पर गहराई से विचार करनेवाले 'लल' थे। उन्होंने भाषण-कला, समीक्षा-कला, साहित्य-कला—सभी को कला मानकर

उनमें सर्जनात्मक विशिष्टताओं का उल्लेख किया। उनका दृष्टिकोण साहित्यिक था, धार्मिक नहीं।

लुई बिवे भी मध्ययुग के प्रभावशाली साहित्य-चिन्तक थे। वे परम्परावादी न होकर नयी विचारधारा से प्रभावित थे। परम्परावाद और प्राचीनतावाद का विरोध कर तथा रूढ़िवाद का खण्डन कर नवजागरण तथा नये प्रयोगों को प्रोत्साहित करनेवाले 'लुई बिवे' का स्पेन में काफी प्रभाव रहा। गद्य और पद्य के भेद को भी 'बिवे' ने महत्त्वपूर्ण नहीं माना। उनके साहित्य-चिन्तन में हमें नयी दृष्टि प्राप्त होती है।

इस बीच अर्थात् सोलहवीं शताब्दी तक स्पेन में भाषण-कला, काव्य, नाटक, साहित्यरूपों पर विचार हुआ, साथ ही साथ अभिनय पर भी प्रयोगात्मक और व्यावहारिक विमर्श किया गया। प्रायः यह स्वीकार किया गया कि साहित्य-रचना का मूल कारण जन्मजात प्रतिभा है। निरन्तर अध्ययन और अभ्यास से उस रचना-प्रतिभा का समुचित विकास और पूरा उपयोग होता है। इस युग में काव्य-भाषा पर भी विचार किया गया। 'मेण्डोन्सा' ने यह स्पष्ट किया कि शैली, विषय के हिसाब से भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करती है, जब कि भाषा गद्य या पद्य दोनों का ही माध्यम है।

अठारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध काव्यशास्त्रियों के नाम हैं—'इग्नाशियो डे लुज़ान' तथा 'निकोला फर्नाण्डिस डे मुरातिम' (सीनियर), इन पर नवशास्त्रवाद का प्रभाव था। इसके विपरीत अन्य विचारकों में एण्टोनियो आलाकाला गलियानों, अल्बर्टो लिस्टाई ओरोगन तथा **जोसे लारा ई सान्केज डे कास्ट्र** प्रमुख हैं। इस समय इन लोगों ने काव्य के विविध रूपों—महाकाव्य, मुक्तक, गद्यकाव्य तथा नाटक के विविध रूपों पर विचार किया। विषादान्त, प्रसादान्त, द्वयान्त, मिश्रितान्त, हास्यप्रधान आदि विविध प्रकार के नाट्य-रूपों पर भी प्रकाश डाला गया। केवल सैद्धान्तिक विवेचन ही नहीं, अनेक प्रकार के नाटकों की रचना भी हुई। दर्शन, नीति, तर्कशास्त्र के साथ-साथ काव्य, कला और सौन्दर्यशास्त्र पर भी विचार-विमर्श चलता रहा। सन् 1714 में 'रॉयल अकादमी ऑफ दि लैंग्वेज' की स्थापना हुई जिसके माध्यम से साहित्य, कलाओं और विद्याओं को राजकीय आश्रय प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप ज्ञान-विज्ञानों और कलाओं के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। उन्नीसवीं शती या आधुनिक युग के पूर्व साहित्य और कलाओं के लिए नवीन दृष्टिकोण का सूत्रपात हो गया था। यद्यपि कोई महत्त्वपूर्ण देन अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नहीं प्राप्त होती; पर इस शताब्दी के उल्लेखनीय नाम हैं—मेन्वल भिलाई पोन्तानाल्स, मार्सेलिनो मेनरोडेज ई पेलाओ, फ्रान्सिस्को फर्नाण्डिस ई गौंजालेज, **लिओपोण्डो अलास** आदि। कला और साहित्य के क्षेत्र में यूरोप में होनेवाले आन्दोलनों का स्पेन पर भी बराबर प्रभाव पड़ा।

(घ) मध्यकालीन जर्मन कला और साहित्य-चिन्तन

जर्मनी में साहित्य-चिन्तन का आरम्भ अठारहवीं शताब्दी में ही हुआ। यद्यपि साहित्यिक विचारों का आरम्भ सोलहवीं शती में हो गया था, पर कोई महत्त्वपूर्ण या

विशिष्ट योगदान अठारहवीं शती के पूर्व नहीं हो पाया। इस समय 'योहान क्रिस्टोव गोटशेड' (1700 से 1766) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उस समय जर्मन शिक्षण-संस्थाओं में इनके विचारों का व्यापक प्रभाव रहा। सन् 1730 में प्रकाशित उनकी एक पुस्तक में साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्तों का विशद विवेचन है। इसमें काव्य के तत्त्व, काव्य के विविध रूप और काव्य के उपकरण आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। काव्य और नाटक पर विस्तार से विचार किया गया है। पर ये विचार प्राचीन परम्परागत धारणाओं को ही नयी दृष्टि से प्रकट करते हैं। उनके विचार से काव्य का प्रमुख तत्त्व सत्य है, पर उसको प्रेरणा देनेवाली प्रकृति है। काव्य में प्रकृति अधिक पूर्णता के साथ प्रतिबिम्बित होती है, जैसी कि हम उसे नहीं देख सकते। काव्य में प्रकृति का चित्रण यथार्थ और वास्तविक रूप में अपेक्षित है। इसी प्रकार नाट्य-रचना में भी जीवन का चित्रण उसके वास्तविक कार्यकलापों के अनुरूप होना चाहिए, ऐसा उनका विचार है।

बौमगार्टन : जर्मनी अपनी दार्शनिक विचारधारा के लिए यूनान के समान ही प्रसिद्ध रहा है। वहाँ की दार्शनिकता बुद्धिवादी और आदर्शवादी है। वे बौद्धिक ज्ञान को सत्य के अधिक निकट मानते हैं—अपेक्षाकृत अनुभूति के—और यह स्वीकार करते हैं कि बौद्धिक ज्ञान का परिणाम दर्शन और अनुभूति की परिणति काव्य और कलायें होती हैं। बौद्धिक ज्ञान को दर्शनशास्त्र कहा जाता है; पर काव्य और कलाओं में निहित तत्त्व का नाम सौन्दर्यशास्त्र (ईस्थिटिक्स) देनेवाला जर्मन विद्वान् ही है जिनका नाम *बौमगार्टन* है। इनका समय सन् 1714 से 1762 ई. तक माना जाता है। सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास में उनका नाम इसलिए उल्लेखनीय है, क्योंकि उन्होंने सौन्दर्य और कला का क्रमबद्ध विवेचन करनेवाले शास्त्र को सौन्दर्यशास्त्र की संज्ञा दी। यह शब्द पूर्वप्रचलित होते हुए भी कलाओं से उसका सम्बन्ध जोड़नेवाले 'बौमगार्टन' ही हैं। बौद्धिक ज्ञान और ऐन्द्रिय ज्ञान में भेद करते हुए उन्होंने ऐन्द्रिय ज्ञान की वस्तु को ही सौन्दर्य बताया और सौन्दर्यशास्त्र की आस्वाद-शास्त्र के रूप में व्याख्या की। यद्यपि उन्होंने बौद्धिक ज्ञान या दर्शन को ऐन्द्रिय ज्ञान या सौन्दर्य से बढ़कर बताया और इसे एक निम्न प्रकार का ज्ञान कहा। बौमगार्टन के विचार से ऐन्द्रिय ज्ञान का विज्ञान ही सौन्दर्यशास्त्र है। आगे चलकर काण्ट, हीगेल और क्रोचे ने उनके विचारों का विस्तृत विवेचन किया। उनका कहना है कि सत्य एक पूर्णता है जिसका बोध विवेक के द्वारा सम्भव है। शिवत्व भी पूर्णता है, पर इसका बोध इच्छा के माध्यम से पूर्ण होता है। इसी प्रकार सौन्दर्य भी एक पूर्णता है, पर उसका अनुभव नितान्त निरपेक्ष नहीं हो सकता। उसका बोध इन्द्रियों के माध्यम से ही होता है। सौन्दर्य की पूर्णता वस्तु के अंग-प्रत्यंगों की समानुपातता, पारस्परिक उचित सम्बद्धता और क्रम-व्यवस्था पर निर्भर करती है। सौन्दर्य का प्रयोजन आनन्द और उत्तेजना प्रदान करना है। सौन्दर्य की पूर्णतम अभिव्यक्ति प्रकृति में ही होती है, अतः कलाकार के लिए

वही प्रेरणा-स्रोत है तथा उसी की अनुकृति कलाओं में देखी जा सकती है।

जे.बी. सुल्जर ने बौमगार्टन के विपरीत कला का लक्ष्य सौन्दर्य न मानकर शिवत्व को स्वीकार किया है। उनके विचार से वही वस्तुएँ सुन्दर हैं जो कल्याणकारी हैं। कला नैतिकता को जब प्रेरित करती है, तभी जीवन पूर्ण होता है। कला आदिम मूल प्रवृत्तियों को परिष्कृत कर जीवन को सुन्दर और आनन्दप्रद बनाती है। परन्तु उनका यह मत है कि तार्किक ज्ञान की अपेक्षा, कला कम स्पष्ट होती है। जे.बी. सुल्जर का समय सन् 1720 से 1779 ई. तक माना जाता है।

मेण्डल्सन का समय सन् 1729 से 1786 ई. तक है। उनका मत है कि कला का आरम्भ ऐन्द्रिक अनुभवों से होता है, परन्तु उसमें सत्य और शिवत्व की भी समाविष्टि होती है। वे यह मानते हैं कि ऐन्द्रिक अनुभूति के स्तर पर सौन्दर्य का बोध अस्पष्ट होता है, पर समय और शिवत्व से मिलकर वह अपनी पूर्णता को प्राप्त होता है। इस प्रकार उनके मत से कला का प्रयोजन नैतिक जीवन की पूर्णता है।

मेण्डल्सन ने आनन्द के तीन स्रोतों का विवरण दिया है—

(1) सौन्दर्य, जो विविधता में एकता की अनुभूति है, (2) सत्य, जो अनेकता के पारस्परिक संघटन या संहिति में मिलता है और (3) शिवत्व, जो विविध ऐन्द्रिक अनुभूतियों को परिष्कृत और उन्नत बनाता है। इस प्रकार सत्य, सौन्दर्य और शिव ही वास्तव में आनन्द के मूल उत्स हैं।

विंकिन्कल्मन : इनका समय सन् 1716 से 1761 ई. है। कला-चिन्तकों में विंकिन्कल्मन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने कला को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयत्न किया है। यूनान जाकर उन्होंने पुरातात्त्विक अन्वेषण के आधार पर यह सिद्ध किया कि प्रत्येक कलाकृति अपने युग की आत्मा और संस्कृति को प्रकाशित करती है। प्रत्येक युग की अपनी विशिष्ट कलाशैली होती है।

विंकिन्कल्मन की दूसरी महत्त्वपूर्ण स्थापना यह है कि कला का प्रयोजन केवल सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है। उदात्त शैली, सौन्दर्य की सबसे उत्कृष्ट अभिव्यक्ति करती है।

उनकी तीसरी स्थापना यह है कि पूर्ण सौन्दर्य, प्रशान्त स्थिति में ही प्रकट होता है, जबकि मन उद्दाम उद्वेगों से मुक्त हो जाता है। वही आत्मानुभूति की स्थिति है। प्रशान्ति और भव्यता में ही सौन्दर्य की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति होती है। यही सौन्दर्य का आदर्श है। अन्य उद्दाम मनोवेगों में सौन्दर्य की परिपूर्णता नहीं आ पाती है।

लेसिंग (G.E. Lessing) : लेसिंग का समय सन् 1729 से 1781 ई. तक माना जाता है। अपने समय के ये प्रसिद्ध काव्याचार्य और सौन्दर्य-शास्त्री माने जाते हैं। इन्होंने नाट्य-रचना और नाट्य-कला पर विशेष विवेचना प्रस्तुत की जिसके अन्तर्गत विषादान्त नाटक, विरेचन-प्रक्रिया, करुणा-भय मनोवेगों का सूक्ष्म विश्लेषण किया। इन्होंने संकलनत्रय पर भी प्रकाश डाला।

परन्तु इनका विशिष्ट सौन्दर्यशास्त्रीय योगदान काव्य और चित्रकला के अन्तर के सूक्ष्म विश्लेषण में देखा जा सकता है। इन्होंने विंकिन्कल्मन के इस मत का विरोध

किया कि वास्तविक सौन्दर्य शान्त रस में ही है। उन्होंने कहा कि यह बात यूनानी मान्यताओं के विपरीत है, क्योंकि यूनानी काव्य में तो हिंसा, बीभत्स, भय आदि सभी मनोवृत्तियों का चित्रण हुआ है। इन सभी के उत्कृष्ट उदाहरण यूनानी साहित्य में मिलते हैं। शान्त रस की उत्तमता का नमूना यूनानी मूर्तिकला में अवश्य देखा जा सकता है और चित्रकला के लिए भी वह सत्य हो सकता है।

लेसिंग के विचार से कला का प्रयोजन सौन्दर्य है, उपयोगिता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। मनुष्य का सौन्दर्य प्रकृति में सर्वश्रेष्ठ है। वह सौन्दर्य का आदर्श है। सौन्दर्य के तत्त्वों के अनुपात और समायोजना के गुण-दोषों को मनुष्य में देखा जा सकता है, पर प्रकृति के अन्य पदार्थों में नहीं। लेसिंग नव्यशास्त्रीय (नियो क्लासिकल) विचारक माने जाते हैं। उनका मत है कि अंगों का अनुपात, तत्त्वों का सन्तुलन, सामंजस्य और अलंकार से सौन्दर्य में पूर्णता आती है। लेसिंग यूनानी कला-सम्बन्धी विचारों को आदर्श मानते हैं। इनका दृष्टिकोण आदर्शवादी और नैतिकतावादी था। उन्होंने औचित्य, औदात्य, शालीनता आदि के गुणों का चित्रण कला और काव्य का लक्ष्य माना।

जर्मन सौन्दर्यशास्त्रियों में **हाइन्स** (1746-1804), **हैमन** (1730-88) तथा **हर्डर** (1744-1830) के नाम मध्ययुग में लिये जा सकते हैं। इनमें हाइन्स प्रकृतिवादी थे। वे सौन्दर्य को निरपेक्ष सत्य मानते हैं जिसका उपयोगिता से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्राकृतिक तत्त्वों की पूर्णता का नाम ही सौन्दर्य है। बुद्धि सौन्दर्य का अनुभव नहीं कर सकती, सौन्दर्यानुभूति इन्द्रियों का विषय है। उन्हीं के माध्यम से हम आनन्द प्राप्त करते हैं। हैमन के मत से सौन्दर्य इन्द्रियों के माध्यम से ही अनुभूत होता है अवश्य, पर वह दिव्य सौन्दर्य की झलक मात्र होता है। उसके माध्यम से हम दैवी सौन्दर्य का अनुभव कर सकते हैं, जो सत्य का रूप है और आत्मा की मूल सम्पत्ति है। हैमन का मत रहस्यवादी था। हर्डर हैमन के शिष्य थे। उन्होंने काव्य को मानव-जाति की मातृभाषा कहा। इस मत को आगे चलकर क्रोचे ने भी स्वीकार किया। सौन्दर्य के माध्यम के रूप में उन्होंने दृष्टि, श्रवण और स्पर्श—इन तीनों इन्द्रियों को विशेष महत्त्व दिया। इन्हीं से हम सौन्दर्य की अनुभूति करते हैं। वे अनुभववादी सौन्दर्यशास्त्री थे। लोकगीतों को और जन-कल्पनाओं को उन्होंने विशेष महत्त्व प्रदान किया। उनका मत था कि काव्य-कलाओं के लिए आदिमयुग विशेष अच्छा था जब कविता ही मनुष्य की भाषा थी। उस युग का काव्य नैसर्गिक, सहज, स्वतःस्फूर्त और अनुभूति-संकुल था, जैसा कि बाद के युगों में नहीं रह गया।

इमैनुअल काण्ट (Immanuel Kant) (1724 से 1804 ई.) : अठारहवीं शताब्दी के यूरोपियन दार्शनिकों में काण्ट अग्रगण्य हैं। ये प्लेटो और अरस्तू के समान अपने समय की विचारधारा तथा परवर्ती चिन्तन को प्रभावित करनेवाले महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं। काण्ट, हीगेल, मार्क्स, ऐञ्जिल्स, फ्रायड आदि जर्मन दार्शनिक विश्व की चिन्तन-परम्परा के गौरव हैं। काण्ट ने धर्म, विज्ञान, नीतिशास्त्र, दर्शन आदि पर मौलिक

एवं सूक्ष्म विचार प्रकट किये; पर प्लेटो और अरस्तू के समान काव्य, कला और सौन्दर्यशास्त्र पर भी उनके विचार महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने काव्य और कला को उच्च गौरव प्रदान किया। उन्होंने कलात्मक रचना-प्रक्रिया का बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उनका विचार था कि नियम और सिद्धान्त, रचना नहीं करते। रचना करनेवाली शक्ति प्रतिभा है। प्रतिभा नियम का अनुसरण नहीं करती, वरन् नियम प्रतिभा के फलस्वरूप जो कला-रचना होती है, उसके अनुसार बनते हैं। काण्ट की इस स्थापना ने यूरोप में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन को बड़ा उत्साह प्रदान किया। प्रतिभा प्राकृतिक देन है। उसके लिए शास्त्रीय नियम आवश्यक नहीं होते।

काण्ट ने वैज्ञानिक प्रतिभा और कलाकार की प्रतिभा में अन्तर किया है। वैज्ञानिक के सिद्धान्तों को प्रयत्न द्वारा समझा जा सकता है और परिश्रम के द्वारा वैज्ञानिक बना भी जा सकता है, पर परिश्रम के द्वारा, प्रतिभा न होने पर कोई कवि या कलाकार नहीं बन सकता; क्योंकि कलाकार की रचना-प्रक्रिया गूढ़ और जटिल होती है जिसकी व्याख्या स्वयं कलाकार भी नहीं कर सकता। वह प्रतिभा को सिखा भी नहीं सकता। हाँ, कलाकार की कृति दूसरे के लिए आदर्श बन सकती है। प्रतिभा सौन्दर्यमूलक धारणाओं की कोष होती है, जिस कोष की समृद्धि का ज्ञान कलाकार को स्वयं भी नहीं होता। इन सौन्दर्यमूलक धारणाओं और प्रत्ययों को बुद्धि द्वारा नहीं समझा जा सकता, उन्हीं को रूपायित करना कलाकार का कार्य होता है।

काण्ट के विचार से सौन्दर्य, रुचि और आनन्द में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। सौन्दर्यमूलक आनन्द वैयक्तिक होते हुए भी सार्वजनीन होता है। वह प्रयोजनयुक्त होते हुए भी प्रयोजन-रहित या प्रयोजन-निरपेक्ष है; क्योंकि वह स्वयं ही अपना प्रयोजन है। सौन्दर्यानुभूति का आनन्द, ऐन्द्रिक आनन्द या पशु जगत् के आस्वादों से भिन्न होता है। यह आनन्द स्वतन्त्र होता है। यह निस्वार्थ और निरपेक्ष है। स्वार्थयुक्त आनन्द भोग और स्वामित्व की भावना जगाता है, अतः वह स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं है। संगीत के सुनने, चित्र को देखने या ऐतिहासिक मूर्तियाँ, वास्तुशिल्प या चित्रों को देखकर हमें आनन्द तो मिलता है, पर उनके प्रति भोग और स्वामित्व की कामना नहीं होती। यही कलात्मक रचना या सौन्दर्यानुभूति का आनन्द है। यह आनन्द व्यक्तिगत भी है और सार्वजनीन भी। वह केवल हमें ही नहीं, सबको आनन्दित करता है।

काण्ट ने सौन्दर्य को दो जातियों में रखकर देखा है—एक प्रयोजन-निरपेक्ष सौन्दर्य और दूसरा प्रयोजन-सापेक्ष सौन्दर्य। प्रकृति का सौन्दर्य प्रयोजन-निरपेक्ष है। प्रभात, सन्ध्या, वसन्त, फूल, पर्वतश्रेणियाँ, वन-उपवन, समुद्र की लहरें, ऐतिहासिक मूर्तियाँ, चित्र आदि प्रयोजन-निरपेक्ष हैं। उनके उपयोग के सम्बन्ध में सोचे बिना ही, हम उनसे आनन्द प्राप्त करते हैं। प्रयोजन-सापेक्ष सौन्दर्य के उदाहरण हैं—भवन, कालीन, कपड़े, वाहन आदि। पुरुष-स्त्री का सौन्दर्य एक दूसरे के लिए प्रयोजन-सापेक्ष होता है; क्योंकि उनके सौन्दर्य की प्रशंसा करने के साथ-साथ उपयोग और स्वामित्व की भावना जाग्रत् होती है। काण्ट के विचार से प्रयोजन-सापेक्ष सौन्दर्य जीवनोपयोगी होने से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

काण्ट ने सौन्दर्य और औदात्य का भी भेद किया है। सौन्दर्य रूपाकार-युक्त होने से गोचर और इन्द्रियग्राह्य है, जबकि औदात्य रूपाकृति-विहीन होने से केवल बुद्धिग्राह्य है। उसकी समग्रता को हमारी कल्पना ग्रहण नहीं कर सकती। असंख्य तारोंभरे आकाश, सीमाहीन महासागर को समग्रता में हम ग्रहण नहीं कर सकते। हमारी कल्पना भी प्रतिबाधित हो जाती है, हम केवल उसका आंशिक बोध कर पाते हैं; पर सौन्दर्य को हम पूरा का पूरा देखते हैं—कविता, फूल, चित्र, संगीत को हम भरपूर ग्रहण करते और उसका आनन्द उठाते हैं। इस प्रकार दोनों में भिन्नता है। इस प्रकार काण्ट ने कला और सौन्दर्य के प्रत्ययों का बड़ी सूक्ष्मता से विश्लेषण कर सौन्दर्यशास्त्र को एक तात्त्विक एवं दार्शनिक आधार प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

गेटे : योहान वोल्फ़ गाँग फ़ॉन गोयठे (Johann Wolf Gang Von Goethe) जर्मन भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवियों में से हैं। इनका समय सन् 1749 से 1832 ई. तक है। महाकाव्य *फाउस्ट* विश्व के प्रख्यात महाकाव्यों में परिगणित होता है। ये जहाँ एक बड़े कवि थे, वहीं कला-मर्मज्ञ और सौन्दर्य के विवेचक भी थे। इसके अतिरिक्त ये पत्रकार, चित्रकार, उपन्यासकार, नाटककार, शिक्षाविद्, राजनीतिज्ञ और दार्शनिक भी थे। काव्य, कला और सौन्दर्य पर उनके विचार महत्त्वपूर्ण हैं। उनके विचार से कलात्मक रचना का मूल उत्स अनुभूति है। सौन्दर्य का बोध विवेक और तर्क से नहीं, वरन् अनुभूति और प्रेम से ही किया जा सकता है। सत्य की जगत् के भीतर अनुभूति की जा सकती है। कलात्मक रचना की प्रक्रिया में बुद्धि और कल्पना का सामंजस्य हो जाता है। इसलिए कलाकार के लिए बुद्धि और कल्पना का समन्वय स्थापित करना आवश्यक होता है। कलात्मक सर्जना, प्रकृति और जीवन की पुनः सृष्टि करती है। इस प्रकार कला-सर्जन प्रकृति का स्वामी भी है और उसका अनुचर भी। प्रकृति से प्रेरणा पाकर ही कला-सृष्टि होती है। प्रेम से उत्पन्न सौन्दर्य अजस्र कलात्मक सर्जना को प्रेरणा देता है। प्रेम ही सौन्दर्य की रचना करता है और प्रेम ही में उसकी परिणति हो जाती है। प्रेम के कारण ही प्रेयसी का सौन्दर्य क्षण-प्रतिक्षण नये मोहक रूप ग्रहण करता रहता है। इस प्रकार गेटे के विचार से कला-सृष्टि का प्रेरक प्रेम होता है और सौन्दर्य उसका प्रतिपाद्य होता है। कवि होते हुए भी गेटे के सौन्दर्य-सम्बन्धी विचार कला-शास्त्र को एक विशिष्ट दृष्टि प्रदान करनेवाले हैं।

हम्बोल्ट : इनका समय सन् 1767 से 1835 ई. तक रहा। इनके मौलिक विचार काव्य-रचना प्रक्रिया के विश्लेषण में प्राप्त होते हैं। रचना-प्रक्रिया में तीन बातें विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। पहली बात तो यह है कि रचना वस्तु-परक हो। दूसरी बात यह है कि वह जीवन्त और इन्द्रियग्राह्य हो और तीसरी बात यह है कि वह वस्तुगत रूपायन के नियमों पर आधारित रचना हो। इन तीनों प्रक्रियाओं के पूरी होने पर रचना पूर्णता को प्राप्त करती है।

उनके विचार से कल्पना के सहारे कला, प्रकृति को पुनः रूपायित करती है। वह प्रकृति की वास्तविकता को मिटाकर उसका पुनर्निर्माण करती है। ऐसा करते हुए कला

प्रकृति के रहस्य और सत्य का उद्घाटन करती है। कला-कृति की रचना के पूर्व कलाकार सुन्दर वस्तु का अवलोकन करता है, यह पहला क्षण होता है। दूसरे क्षण वह उसी के अनुरूप एक दूसरी वस्तु को रूपायित करने की कामना से उत्तेजित हो जाता है। यहीं वह कल्पनागत विम्बों और मूर्तियों का सहारा लेता है और अन्त में चमत्कारपूर्ण क्रियाओं के बीच वह कलाकृति को पूर्णता प्रदान करता है। इनका मत रहस्यवादी कहा जा सकता है। गेटे के काव्य से हम्बोल्ट विशेष रूप से प्रभावित थे।

जर्मन सौन्दर्यशास्त्रीय विचारकों में शिलर (1759-1805), फिक्टे (1762-1814), शेलिंग (1775-1854) आदि रोमाण्टिक या स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन से प्रभावित थे। यह आन्दोलन फ्रान्स, इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि देशों में प्रभावशाली था और आगे सारे विश्व पर उसका प्रभाव पड़ा। **शिलर** ने अपना क्रीड़ा-सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया, और सौन्दर्य को पूर्णतया प्राकृतिक नियमों से स्वतन्त्र और नैतिक नियमों से भी मुक्त स्वीकार किया। फिर भी उनका विचार था कि वस्तु और रूप दोनों को मिलानेवाला सौन्दर्य है। यह मिलाने का कार्य कला द्वारा सम्पन्न होता है। दोनों को अलग-अलग देखना दृष्टिभेद है। वास्तव में इनकी अलग इयत्ता नहीं। उनका विचार था कि रूप और वस्तु दोनों का सामञ्जस्य हमारी क्रीड़ा की प्रवृत्ति द्वारा सम्पन्न होता है। यह क्रीड़ा का सूत्र इन्हें काण्ट के विचारों से मिला था जिन्होंने कहा कि मनुष्य के ज्ञान-क्षेत्रों की सामंजस्यमय क्रीड़ा ही सौन्दर्यानुभूति है। काण्ट से पूर्णतः सहमत न होते हुए भी उन्होंने इस क्रीड़ा शब्द से प्रेरणा लेकर क्रीड़ा-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। पर वे काण्ट के द्वन्द्व को नहीं मानते थे। उनका यह भी विचार था कि सौन्दर्य मनुष्य को विवेकयुक्त बनाता है। सौन्दर्यानुभूति का वास्तविक क्षण, उसका क्रीड़ा के समय से ही होता है। कला, मनुष्य की मुक्ति का द्वार खोलती है। **फिक्टे** का विचार आत्मावादी था। वे सौन्दर्य को प्रकृति में नहीं वरन् द्रष्टा की आत्मा में प्रतिष्ठित मानते थे। इसी आत्मा में स्थित सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कला है। **शेलिंग** का विचार था कि परमसत्ता के दो रूप हैं—एक प्रकृति और दूसरा आत्मा। कला—इन दोनों अचेतन और चेतन को एकनिष्ठ करती है। सौन्दर्य का चित्रण करनेवाली कला असीम को ससीम में प्रस्तुत करती है। सारा संसार एक महान् कला है। कला सत्य, शिव और सुन्दर का समन्वय है। कला, सत्य की उपलब्धि का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। इन विचारकों का सहारा प्राप्त कर स्वच्छन्दतावाद काव्य और कला में गहराई के साथ प्रवेश कर गया था जिसके परिणामस्वरूप काव्य और कला के क्षेत्र में सुरुचिसम्पन्न, सुष्ठ और मनोरम रचनायें रची गयीं। शेलिंग, हीगेल के साथ जेना (Jena) विश्वविद्यालय में प्रोफेसर थे।

हीगेल (1770-1831) : इस युग के जर्मन विचारकों में सर्वाधिक सशक्त, समर्थ और प्रभावशाली विचारक हीगेल थे, जिनका व्यापक प्रभाव न केवल कला और काव्य के क्षेत्र में गहराई से पड़ा, वरन् इनकी द्वन्द्वात्मक पद्धति का व्यापक प्रभाव जीवन, धर्म, इतिहास और दर्शन पर भी खूब पड़ा और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

की व्याख्या में कार्ल मार्क्स के साथ हीगेल का भी नाम लिया जाता है। पर कला और साहित्य पर इनका चिन्तन बड़ा ही गहरा था।

हीगेल का पूरा नाम जोर्ग विल्हेल्म फ्रेडरिख हीगेल (Georg Wilhelm Friedrich) था। इनका जन्म स्टुटगार्ट में 27 अगस्त 1770 ई. में हुआ था। इनके पिता आबकारी अफसर थे। 18 वर्ष की अवस्था तक इन्होंने वहाँ की प्राथमिक शाला में अध्ययन किया। तदनन्तर इन्होंने दर्शन और प्राचीन साहित्य का अध्ययन किया। 1790 में ये ग्रेजुएट हुए। उसके बाद इन्होंने धर्मशिक्षा का पठन किया; पर अध्यापकों की कट्टरपन्थी के कारण उसे छोड़ दिया और दर्शन के अध्ययन में जोरों से लग गये। हीगेल भाषण-कला में कुशल नहीं थे। शेलिंग (Schelling) जो प्रसिद्ध दार्शनिक हुए, इनके बड़े घनिष्ठ मित्र थे, यद्यपि वे पाँच वर्ष छोटे थे, पर दोनों मिलकर यूनानी दुःखान्त नाटककारों का अध्ययन करते और फ्रान्स की क्रान्ति पर उत्सव मनाते थे। हीगेल बड़े अध्ययनशील थे। इमैनुअल काण्ट (Immanuel Kant) जो इनके पूर्ववर्ती दार्शनिक थे, इनके प्रिय विचारक थे, परन्तु आगे के अध्ययन के कारण ये काण्ट के प्रभाव से मुक्त हुए और धार्मिकता को भी नयी दृष्टि से देखा। दार्शनिकता के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि भी इनमें अधिक आयी। इसीलिए दार्शनिक के स्थान पर इतिहासकारों में इनका परिगणन होता है। इन्होंने *स्पिरिट ऑफ् क्रिश्चियनिटी ऐण्ड इट्स फेट* नामक पुस्तक लिखी। आगे चलकर 'जेना' युनिवर्सिटी में हीगेल व्याख्याता नियुक्त हुए। यहाँ पर शेलिंग पहले से ही प्रोफेसर थे। इस समय तक काण्ट और फिक्टे का समय बीत चुका था। हीगेल धीरे-धीरे अपने लेखों द्वारा प्रसिद्ध हो चले। ये प्रोफेसर के रूप में हीडेलबर्ग, और बर्लिन में रहे और *एनसाइक्लोपीडिया ऑफ् फिलॉसोफिकल सायन्सेज* प्रकाशित की। आगे चलकर *फिलासफी ऑफ् राइट (Philosophy of Right), फिलासफी ऑफ् हिस्ट्री, हिस्ट्री ऑफ् फिलासफी* पर इनके व्याख्यान हुए जिनका बड़ा प्रभाव पड़ा और ये व्याख्यान पुस्तक-रूप में प्रकाशित भी हुए। इस पर इन्हें सम्मानित भी किया गया। आगे इनके व्याख्यान सौन्दर्यशास्त्र पर हुए जो 'फिलासफी ऑफ् फाइन आर्ट्स' के रूप में प्रकाशित किये गये। इसी में इनके सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र पर विचार प्रकट हुए हैं, जो बड़े विशद और सुचिन्तित हैं।

हीगेल द्वन्द्वात्मक पद्धति के चिन्तक थे। उनका विचार था कि प्रत्येक कार्य का पक्ष और प्रतिपक्ष होता है और आगे इन दोनों का समन्वय होता है। इसी के आधार पर सभ्यता का विकास होता है। इसी प्रकार सौन्दर्य भी वस्तु और भाव का समन्वय है। विश्वात्मा जब भौतिक वस्तुओं को व्यक्त करता है, तो उसकी आभा ही सौन्दर्य है। विश्वात्मा पक्ष है, पदार्थ प्रतिपक्ष है और सौन्दर्य समन्वय है। सौन्दर्य भ्रम है, पर विश्वात्मा सत्य है। वह अपने को प्रकृति और कला में सौन्दर्य के रूप में प्रकट करता है। भौतिक वस्तुओं में ईश्वर का प्रकाश ही सौन्दर्य है। कला और कविता भी अपने माध्यम से ईश्वर का सौन्दर्य ही व्यक्त करती है। ईश्वर तीन प्रकार की कलाओं में अपने को व्यक्त करता है—(1) प्रतीकात्मक कला—जैसे भवन-निर्माण

या स्थापत्य, जैसे मकबरे, ताजमहल, मन्दिर आदि। (2) क्लासिकल कला—इसमें रूप और वस्तु एक हो जाती है, जैसे मूर्तिकला, देवमूर्तियाँ इसके उदाहरण हैं। (3) रोमाण्टिक कला—इसमें चित्रकला, संगीत और काव्य हैं। इनमें स्थूलता क्रमशः घटती जाती है। काव्य सबसे श्रेष्ठ कला है।

हीगेल ने काव्य के तीन मुख्य रूप माने हैं—प्रगीत (Lyric), महाकाव्य (Epic), नाटक (Dramatic)। उन्होंने काव्य का शुद्ध रूप प्रगीत को माना है जिसमें कवि अपनी निजी और वैयक्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। इसमें प्रायः मधुर और सुकुमार भावनायें व्यञ्जित होती हैं। यह काव्य लघुकाय होता है। महाकाव्य विशाल होता है और इसमें वैयक्तिक नहीं, वरन् समस्त जातीय और राष्ट्रीय संस्कृति का चित्रण होता है। इसका नायक और अन्य पात्र समाज की, जनता की समस्याओं, विश्वासों और भावनाओं से जुड़े रहते हैं। नाटक में जीवन का संघर्ष पात्रों के संवादों और कार्यों के द्वारा निरूपित होता है। नाटक में परिवार और राज्य के आन्तरिक संघर्षों का चित्रण होता है। वह विचार को नहीं, कार्य को उद्घाटित करता है। महाकाव्य के सम्बन्ध में हीगेल का मत है—"The Epos ought to be positive in the sense that it is this objective presentment of a world based on its own foundations and realised in virtue of its own necessary laws, a world more over with which the personal outlook of, the poet must remain in connection that enables him to identify himself wholly with it." (Hegel, *Philosophy of Fine Arts*, Vol. IV, p. 115)

महाकाव्य के नायक के सम्बन्ध में भी उनका विचार है कि वह अपने सामान्य व्यक्तित्व से उठकर सार्वभौम-क्षेत्र में पहुँच जाता है और समाज को प्रेरणा देता है। उन्होंने लिखा है—

"Hero would be the spirit of man, the human who is drawn up and exalted from the clouded levels of conscious existence into the clearer region of the Universal history." (वही, पृष्ठ 137.)

महाकाव्य का चरित्र-चित्रण आन्तरिक महान् गुणों के बाह्य एवं प्राकृतिक यथार्थ परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में विकास के रूप में होना चाहिए। आकस्मिक और दैवी घटनायें जो उसमें विरोध और सहायता उपस्थित करती हैं, स्वाभाविक रूप में होनी चाहिए। इस प्रकार हीगेल की महाकाव्य की धारणा बड़ी उदात्त है। प्रगीत की अपेक्षा महाकाव्य में सार्वभौमता का गुण अधिक होना चाहिए। उसमें राष्ट्रीय विशेषताओं का प्रतिबिम्ब रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हीगेल के काव्य और कला-सम्बन्धी विचार आदर्शवादी हैं। कला को उन्होंने विश्वात्मा का क्षण माना। उन्होंने प्रकृति को सुन्दर मानने से इन्कार कर दिया। उनके विचार से उसकी सुन्दरता हमारे देखने पर निर्भर करती है। अतः स्पष्ट है कि उनकी अनेक मान्यताओं से सहमत होना कठिन है।

शॉपेनहोवर (Arthur Schopenhauer) : आर्थर शॉपेनहोवर का समय 1788 से 1860 ई. तक माना जाता है। शॉपेनहोवर काण्ट के विचारों से प्रभावित थे और यह स्वीकार करते थे कि परमसत्ता का ज्ञान बुद्धि से सम्भव नहीं, उसे नैतिक

क्रियाओं या भावनाओं से समझा जा सकता है। वे यह मानते थे कि मनुष्य इच्छा का दास है। संसार इच्छा का ही परिणाम है अतः सांसारिक जीवन दुःखद है। बुद्धि इच्छा की दासी है। अतः उससे शान्ति नहीं मिल सकती। बुद्धि विज्ञान की उन्नति में सहायक हो सकती है; पर शान्ति प्रदान नहीं करती। शान्ति और मुक्ति के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। शॉपेनहोवर का मत है कि मुक्ति-दाता, शान्ति-प्रदायक प्रत्यय-ज्ञान, कला के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। मुक्ति देनेवाला दूसरा तत्त्व है वैराग्य, पर वह देहत्याग पर मुक्ति देता है, जबकि कला इसी जीवन में मुक्ति प्रदान करती है। शॉपेनहोवर के ये विचार भारतीय चिन्तना से काफी मेल खाते हैं। उनके विचार से कला जीवन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। उससे वास्तविक सत्य का आभास मिलता है। इसकी प्राप्ति के लिए प्रतिभा एक महत्त्वपूर्ण साधन ही नहीं, वरन् वह एक शक्ति है। उनके विचार से प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार को वर्तमान और भविष्य की चिन्ता नहीं रहती। वह एक द्रष्टामात्र है और कला-सर्जना के समय सुख, दुःख और इच्छा से मुक्त रहता है।

शॉपेनहोवर का मत था कि प्रकृति और कला—दोनों ही हमें आनन्द प्रदान करती हैं; पर अन्तर यह है कि कला और काव्य हमें प्रकृति के रहस्यों को समझाने में सहायता पहुँचाते हैं। कलाकार हमें वस्तुओं को देखने की एक दृष्टि प्रदान करता है। वह एक प्रकार से सौन्दर्यानुभूति प्रदान करता है और हमारा सुन्दर वस्तु के साथ तादात्म्य हो जाता है। हम अपना व्यक्तित्व खो देते हैं। यह सौन्दर्यानुभूति रसानुभूति ही है, जिसमें भारतीय काव्यशास्त्रियों ने साधारणीकरण की स्थिति मानी है जिसके होने पर ही रस का आस्वादन होता है। 'शॉपेनहोवर' अन्य कलाओं जैसे स्थापत्य, मूर्ति और चित्रकला से काव्यकला को उत्कृष्ट मानते हैं; पर संगीत को वे सर्वोपरि स्थान देते हैं; क्योंकि संगीत गतियों को पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करता है। उसमें तत्काल मनुष्य को विभोर करने की शक्ति है। बिना तन्मयता के संगीत सम्भव नहीं। संगीत-सर्जना और उसके रसास्वाद के समय बुद्धि-तत्त्व तिरोहित हो जाता है जिससे चित्त को विश्रान्ति और आनन्दानुभूति होती है। इस प्रकार शॉपेनहोवर के विचार भारतीय रसवादी मतों से काफी मेल खाते हैं।

फ्रेडरिख नीत्शे : नीत्शे का समय सन् 1844 से 1900 ई. तक है। ये नास्तिक थे और ईश्वर को नहीं मानते थे। इन्होंने यह नारा लगाया कि 'ईश्वर मर गया'। संसार की व्यवस्था मनुष्यकृत है। विवेक, नैतिकता आदि भ्रम हैं; इन सभी में सौन्दर्यविषयक भ्रम ही वांछनीय है। सौन्दर्य आत्माभिव्यक्ति है। आत्माभिव्यक्ति के क्षणों में कलाकार वास्तविकता का अनुशासक बन जाता है और उसका मनचाहा रूप गढ़ता है। अपनी प्रतिभा और कल्पना से उसे सजाता है। इस तरह कला में अवतरित वास्तविकता सुन्दर और मोहक बनकर हमारे सामने आती है। नीत्शे कला की दो प्रेरक प्रवृत्तियाँ मानते हैं—प्रथम विवेक, सन्तुलन और शान्ति की प्रवृत्ति और दूसरी प्रेम और आनन्द की प्रवृत्ति। प्रथम का प्रेरक यूनानी देवता अपोलो और दूसरे का

प्रेरक डायनोसियस कहा गया है। पहली प्रवृत्ति से निर्मित रचना जीवन-मूल्यों की स्थापना करनेवाली, नैतिकतापूर्ण होती है तथा इससे प्रेरित चित्रकला, काव्यकला तथा शिल्प व्यवस्थापूर्ण अनुशासित जीवन की प्रेरणा देते हैं। दूसरी प्रवृत्ति से निर्मित रचना प्रेम, आनन्द, विलास, घृणा, वेदना आदि को अभिव्यंजित करती है। दूसरी प्रवृत्ति की कला, प्रकृति की अनुकृति मानी गयी है।

नीत्शे के विचारों में परस्पर विरोध भी मिलता है। जहाँ वे एक ओर कलाकार को दार्शनिक से अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं, वहीं वे यह भी कहते हैं कि कलाकार वास्तविकता से घबराकर अपनी कला की दुनिया में पलायन करता है। वे कलाकारों को कायर भी कहते हैं; क्योंकि वे सदैव कोई न कोई संरक्षण चाहते हैं। वे दर्शन, धर्म और नैतिकता के भी आश्रित रहते हैं और कटु परिस्थितियों से पलायन खोजते हैं। वे यह भी मानते हैं कि कलाकृतियों की सर्जना से मानवता जीवित रहती है अन्यथा वास्तविकता उसे नष्ट कर देगी। इस प्रकार नीत्शे के कला और काव्य-सम्बन्धी विचार काफी उत्तेजक हैं, साथ ही साथ विवाद्य भी।

(ङ) मध्ययुगीन रूसी साहित्य-कला-चिन्तन

रूसी-समीक्षा बहुत प्राचीन नहीं है। प्राचीन रूसी-साहित्य पद्यात्मक आख्यानों के रूप में मौखिक परम्परा में मिलता है। इन पद्यात्मक आख्यानों को 'विलीना' कहते थे। इनमें सामान्य जीवन के आख्यान भी हैं और वीर कथात्मक राष्ट्रीय भावना के भी। वीर गाथात्मक 'विलीनाओं' में उन रूसी वीरों की कथायें हैं जो उनके क्षेत्रों पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं से जूझते थे। ये 'विलीनायें' रूसी जन-साहित्य की महत्त्वपूर्ण कलाकृतियाँ मानी जाती हैं। जन-काव्यों के समान ही जन-कथायें भी खूब प्रचलित थीं। रूसी साहित्य तीन युगों में विभाजित है—एक प्राचीन 'कीव' युग, दूसरा सामन्ती राष्ट्र-युग और तीसरा मास्को-युग। 10वीं शताब्दी में राजकुमार ब्लादीमीर के ईसाई-धर्म ग्रहण करने के बाद रूसी साहित्य में धार्मिक रचनाओं का आधिपत्य होने लगा। 18वीं शती में पीटर महान् ने अनेक सुधार किये, तभी से रूसी-साहित्य-समीक्षा का श्रीगणेश हुआ और व्याकरण तथा छन्दशास्त्र की रचना हुई। रूसी-साहित्य या काव्यशास्त्र का प्रथम आचार्य बासिली किरिलोविच त्रेगाकोवस्की (1703 से 1769) को माना जाता है। 18वीं और 19वीं शती के कुछ साहित्य-समीक्षक प्रायः स्वच्छन्दतावादी थे। इस बीच में और आगे चलकर कुछ जनवादी साहित्य-चिन्तक, जर्मन विचारकों शेलिंग, फिक्टे और हीगेल के चिन्तन से प्रभावित हुए। 19वीं शती में कई महत्त्वपूर्ण कला और साहित्य-चिन्तक रूसी-साहित्य में मिलते हैं, जैसे बेलिंस्की (1810-48), चर्नीशेव्स्की (1828-89), दोब्रोल्युबोव (1836-61), हर्जन (1812-70), पिसारेव (1840-68), लियो ताल्स्ताय (1828 से 1910)। ये सभी चिन्तक वस्तुवादी और सामाजिक दृष्टि से कला और साहित्य के विषय में सोचते थे। इनके सम्बन्ध में हम आगे विस्तार से कहेंगे।

विस्सारियन ग्रिगोरियेविच बेलिंस्की का जन्म 12 जुलाई 1811 को एक ग्रामीण डॉक्टर के घर में हुआ था। इनका बचपन एक कस्बे में बीता। ये बालकपन से ही एक प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे। 1829 में इन्होंने मास्को विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। तीन वर्ष बाद इन्हें वहाँ से हटा दिया गया क्योंकि इन्होंने दास-प्रथा और सामन्तवाद के विरोध में एक नाटक लिखा था। सन् 1833 ई. के बाद का इनका जीवन कला और साहित्य के विवेचन में व्यतीत हुआ। इन्होंने अनेक रूसी पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे जिससे रूसी समाज के प्रगतिशील वर्ग को बड़ी प्रेरणा मिली। परन्तु इन लेखों ने ज़ारशाही के अधिकारियों को कट्टर शत्रु बना दिया तथा पुलिस की प्रतारणा इन्हें सहनी पड़ी। पर इनकी लोकप्रियता बढ़ गयी। 1847 में इन्हें पेट की बीमारी हो गयी। जर्मनी और फ्रान्स जाकर इलाज कराया; पर कोई लाभ नहीं हुआ। इसी बीमारी के बीच इन्होंने 'गोगोल' के नाम एक पत्र लिखा जिसे रूसी क्रान्तिकारियों के लिए 'घोषणापत्र' कहा गया है। 26 मई 1848 को बेलिंस्की का निधन हो गया तथा सेण्ट पीटर्सबर्ग में इनका अन्तिम संस्कार किया गया।

बेलिंस्की काण्ट, फिक्टे और हीगेल के विचारों से प्रभावित थे। पर वे यह मानते थे कि हीगेल ने दर्शन को वैज्ञानिक रूप दिया। साथ ही वे यह भी मानते थे कि हीगेल के कुछ निष्कर्ष अपूर्ण और गलत हैं—पर उन्हें परखने की दृष्टि देनेवाली पद्धति भी हीगेल ने ही दी। बेलिंस्की का विचार था कि कविता जीवन पहले है और कला बाद में। अतः जीवन के लिए उसे इतिहास का आधार लेना पड़ता है। इसी प्रकार दार्शनिक अपनी बात तर्क या युक्ति के सहारे कहता है और कवि अपनी बात छवियों और चित्रों में, पर दोनों कहते एक ही चीज हैं। जितना लोग सोचते हैं, उससे कहीं अधिक चित्रण कवि करता है। उसमें रूप की अद्भुत चेतना होती है। सृजन की क्षमता में वह प्रकृति से चिरन्तन होड़ लगाये रहता है—इसी में उसको आनन्द मिलता है। कविता, चित्रमय कला से बड़ी है। उसका क्षितिज अन्य किसी भी कला से अधिक व्यापक है, फिर भी उसकी मुख्य शक्ति काव्यात्मक चित्रमय कला में है। दो या तीन तथ्य दीजिये और कवि अपनी कल्पना की मदद से एक पूर्ण अलग अपने में भरपूर दुनिया खड़ी कर देता है।[1]

बेलिंस्की स्वच्छन्दतावाद के विरोधी थे। वे आध्यात्मिक प्रेम का मखौल उड़ाते हुए कहते हैं कि प्रेम का आप चाहे कितना ही दिव्यीकरण करें, लेकिन यह साफ है कि प्रकृति ने मानव को इस अद्भुत भावना से जितना अधिक उसके आनन्द के लिए सज्जित किया है, उतना ही अधिक प्रजनन तथा मानव-जाति को बनाये रखने के लिए भी। साहित्य को बेलिंस्की ने समाज का दर्पण न मानकर जनता का दर्पण माना है। साहित्य को अनिवार्यतः जाति के आन्तरिक जीवन का दर्पण और उसका

1. *दर्शन, साहित्य और आलोचना* (अनुवादक : नरोत्तम नागर), पृ. 8.

प्रतीक होना चाहिए।[1] कला का उद्देश्य है चित्रित करना, शब्दों, ध्वनियों, रेखाओं और रंगों में प्रकृति के सार्वभौम जीवन को पुनः मूर्त करना।[2] यही कला की एकमात्र और चिरन्तन विषयवस्तु है। उनका विचार था कि यह पूरी तरह मानते हुए कि कला को कला होना चाहिए, हम मानते हैं कि विशुद्ध हवाई कला का सिद्धान्त, जो अपने ही लोक में रहता है और जीवन के अन्य पहलुओं से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, एक स्वप्निल शून्य है। ऐसी कला का कभी कहीं अस्तित्व नहीं रहा।[3]

अलेक्ज़ेण्डर इवानोविच हर्जन (1812-1870) : हर्जन का जन्म मास्को के एक प्रतिष्ठित परिवार में 25 मार्च 1812 को हुआ था। वे बड़े होकर मास्को विश्वविद्यालय में पढ़ने गये। कुछ समय पढ़ने के उपरान्त 24 वर्ष की अवस्था में खतरनाक विचारों के अपराध में इन्हें कैद कर लिया गया और यात्का में नज़रबन्द रखा गया जहाँ इन्होंने क्लर्की का काम किया। 1840 में इन्हें मास्को आने की अनुमति तो मिली, पर खतरनाक कार्यों के आरोप में फिर गिरफ्तार कर लिया गया। 1846 में हर्जन के पिता का देहान्त हुआ और ये रूस से बाहर निकल पड़े। 1848 में फ्रान्स की राज्यक्रान्ति देखने पहुँचे। वहाँ से स्विट्ज़रलैण्ड और फिर लन्दन। इस बीच उन्होंने उपन्यास और कहानियाँ लिखीं। हर्जन की ख्याति *सागर के उस पार से* तथा *फ्रान्स के पत्र* के प्रकाशन के अनन्तर हुई। इनका प्रभाव रूसी साहित्यकारों पर बड़ा गहरा पड़ा। इन्होंने कई पत्रिकायें भी प्रकाशित कीं, जिनका रूसी जन-आन्दोलन पर व्यापक प्रभाव पड़ा और क्रान्तिकारी विचारधारा का उदय हुआ। पहले तो हर्जन की कृतियों को रूस में प्रवेश नहीं मिला; सन् 1855 में ज़ार निकोलस की मृत्यु हो गयी। तदुपरान्त सारे रूस में उनकी रचनायें फैल गयीं जिससे जन-क्रान्ति को बड़ी प्रेरणा और बल मिला। पर हर्जन स्वयं फिर रूस नहीं लौटे। 9 जनवरी सन् 1870 में पेरिस में उनकी मृत्यु हो गयी।

कला और साहित्य के सम्बन्ध में उनके विचार वस्तुवादी थे। वे शास्त्रीयता और स्वच्छन्दतावाद दोनों के विरोधी थे। वे जीवन के यथार्थवादी पक्ष को साहित्य में चित्रण करने के पोषक थे। उनका विचार था कि कला वस्तुओं का चित्रण करती है, विज्ञान उनका वास्तविक ज्ञान प्रदान करता है। आज के युग की माँग है कि जो ज्ञान प्राप्त किया है, उसे वास्तविक जीवन में मूर्त किया जाय।

उनका मत था कि स्वच्छन्दतावाद या रोमाण्टिसिज्म सदा उस पार की वस्तु के लिए ललकता रहता है और चूँकि उस पार की वस्तु सदैव उसकी पहुँच के बाहर रहती है, इसलिए अनिवार्यतः उसमें निराशावाद आ जाता है। वह सदा हृदय से दूर भागने का प्रयत्न करता है, अतः उसे शान्ति नहीं मिलती। इतना होते हुए भी हर्जन

1. *दर्शन, साहित्य और आलोचना*, पृ. 16.
2. बेलिंस्की : *सेलेक्टेड फिलसाफिकल वर्क्स*—इण्ट्रोडक्टरी एसे, एम्. योचुक, पृ. 17.
3. *दर्शन, साहित्य और आलोचना*, पृ. 38.

यह मानते हैं कि रोमाण्टिसिज्म और क्लासिसिज्म में चिरन्तन तत्त्व विद्यमान हैं जो आज भी जीवित हैं। वे विभिन्न युगों के दो दृष्टिकोणों के मूर्त रूप हैं और दोनों ही सापेक्ष रूप से सत्य भी हैं। चेतन अथवा अवचेतन में प्रत्येक व्यक्ति क्लासिसिस्ट और रोमाण्टिसिस्ट होता है या कभी न कभी रह चुका होता है। प्रथम प्रेम एवं अनुभवहीनता से पूर्ण युवावस्था में मनुष्य का रोमाण्टिसिज्म की ओर झुकाव होता है। इस अवस्था में ऐसा होना लाभप्रद भी है। इससे आत्मा स्वच्छ और निर्मल हो जाती है। पाशविकता और मैल इसकी पवित्र ज्वाला में भस्म हो जाते हैं। आत्मा तुच्छता और नश्वरता को छोड़ उजली दुनिया में उड़कर शुभ्र ऊँचाइयों का स्पर्श करती है। दूसरे लोग जो इतने भावुक नहीं होते, वरन् प्रखर बुद्धि होते हैं—वे क्लासिसिस्ट या शास्त्रीय होते हैं।[1] परन्तु महाकवि में ये दोनों ही समंजित होते हैं। हर्जन, हीगेल और बेलिंस्की से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने गेटे, ह्यूम, बेकन, दकार्ते, शेलिंग आदि पर लेख लिखकर यह स्पष्ट किया कि कला का जीवित यथार्थ होता है और वास्तविक जीवन की सूक्ष्मता को निश्चित रूप में सँवारकर प्रस्तुत करने में ही उसकी सार्थकता है।

निकोलाई माव्रिलोविच चर्नीशेव्स्की (1828-1889) : चर्नीशेव्स्की का जन्म सन् 1828 की 24 जुलाई को वोल्गा नदी के तट पर स्थित 'सारातोव' नगर में एक गरीब पादरी के घर हुआ था। बचपन से ही उनके मन पर शासकों के आतंक, क्रूरता, अमानवीय व्यवहार की छाया पड़ी थी। किसानों और मजदूरों के शोषण और उत्पीड़न को उन्होंने अपनी आँखों से देखा था।

बड़े होने पर सन् 1846 में लगभग 18 वर्ष की अवस्था में वे सेण्ट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में पढ़ने गये और वहाँ पर चार वर्षों तक अध्ययन किया। उस कालावधि में ही इनके मन में जनवादी क्रान्ति के विचारों का उदय हुआ। उस समय रूस में विज्ञान की प्रगति के विकास में दो बाधक तत्त्व थे—एक ज़ारशाही शासन और दूसरा गुलामी की प्रथा। चर्नीशेव्स्की, 1851 में अपने गृहनगर सारातोव चले गये और वहाँ दो-तीन वर्षों तक स्कूल में अध्यापक रहे। उसके बाद ये पुनः सेण्ट पीटर्सबर्ग चले आये।[2] वहाँ इन्होंने पत्रिकाओं में लेख लिखना शुरू किया। आगे चलकर ये 'सोव्रेमेन्निक' नामक पत्रिका के स्वयं सम्पादक बने और देश की उन्नति तथा आर्थिक साधनों के उचित वितरण पर सम्पादकीय लेख लिखे। इसी पत्रिका में उन्होंने साहित्य, दर्शन, नृतत्त्व-शास्त्र आदि विषयों पर भी निबन्ध प्रकाशित किये जिसके आधार पर ये एक आलोचक और विद्वान् के रूप में सुविख्यात हुए और इनकी प्रशंसा आगे चलकर कार्ल मार्क्स तक ने की। इसी बीच इन्होंने साहित्यालोचन और सौन्दर्यशास्त्र पर भी अनेक लेख लिखे।

---

1. *दर्शन, साहित्य और आलोचना*, पृ. 105.
2. वही, पृ. 153.

सन् 1862 ई. में अपने क्रान्तिकारी विचारों और क्रिया-कलापों के कारण चर्नीशेव्स्की गिरफ्तार कर लिये गये। कारावास के दिनों में ही इन्होंने प्रसिद्ध उपन्यास लिखा *'क्या करें'*। इसने क्रान्ति की भावनाओं को प्रेरित किया। उन पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें साइबेरिया में निर्वासित कर दिया गया। 1883 में साइबेरिया से इन्हें अस्त्राखान भेजा गया, जहाँ इन्होंने 'विश्व-इतिहास' का अनुवाद किया। 1889 में उन्हें अस्वस्थ होने के कारण उनके घर सारातोव भेज दिया गया, जहाँ 18 अक्टूबर 1889 को उनकी मृत्यु हो गयी।

चर्नीशेव्स्की के कला, इतिहास, साहित्य और सौन्दर्य के विषय में विचार बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। उनका मत है कि कला का मूल उद्देश्य उस प्रत्येक वस्तु को रूप देना है जिसके प्रति जीवन में मनुष्य की दिलचस्पी होती है। जीवन की व्याख्या और परिणामों के गुण-दोष-विवेचन भी काव्य-कृतियों में मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कला का जीवन के साथ सम्बन्ध वैसा ही होता है जैसा कि इतिहास का। उनकी विषयवस्तु में केवल इतना अन्तर होता है कि इतिहास जहाँ सामाजिक जीवन का वर्णन करता है, वहाँ पर कला व्यक्तिगत जीवन का चित्रण करती है। इतिहास जहाँ मानव-जाति से सम्बद्ध है, वहाँ कला किसी एक मानव के जीवन को लेकर चलती है। प्रकृति का चित्रण, जीवन की पृष्ठभूमि बनाने या घटनाओं की पूर्वसूचना या संकेत के लिए होता है।[1]

चर्नीशेव्स्की का विचार है कि सुन्दर ही जीवन है। सुन्दर वह वस्तु है जिसमें जीवन को हम उस रूप में देखते हैं जिस रूप में हमारी जीवन-भावना के अनुसार उसे होना चाहिए। सुन्दर वह पदार्थ है जो जीवन को व्यक्त करता है[2] या हमें उसकी याद दिलाता है। उन्होंने दिव्य की भाववादी परिभाषा की आलोचना की और कहा कि दिव्य वह है जो हमें उस प्रत्येक वस्तु से अधिक विशिष्ट दीखता है जिससे हम उसकी तुलना करते हैं। प्रचलित परम्परा के अनुसार दिव्य की स्थिति वास्तविकता में नहीं मानी जाती। कल्पना ही उसको वास्तविकता के साथ जोड़ती है। इसके प्रतिकूल हमारी धारणा के अनुसार सुन्दर और दिव्य, वस्तुतः प्रकृति और मानवीय जीवन में निवास करती हैं। इस प्रकार सुन्दर और दिव्य की नयी परिभाषायें उन्होंने दीं। उनका विचार था कि वास्तविकता कल्पना से बड़ी है। जीवित वास्तविकता की तुलना में कल्पना-निर्मित कलाकृतियाँ नहीं ठहर सकतीं। वे सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से भी वास्तविक जीवन की सजीवता और प्रभाव की अपेक्षा हीन होती हैं। जीवन का पुनः चित्रण, कला की सामान्य विशिष्टता है और इसी में उसकी कृतकृत्यता निहित है। कलाकृतियाँ एक अन्य उद्देश्य को भी सिद्ध करती हैं, जीवन की व्याख्या करने और घटना-प्रवाह

1. *दर्शन, साहित्य और आलोचना,* पृ. 167.
2. शिवदान सिंह चौहान : *आलोचना के सिद्धान्त—यथार्थवादी आलोचना*—चर्नीशेव्स्की, पृ. 131.

के साथ उसे जोड़ने या उसकी विवेचना करने का। पर वहाँ भी वह जीवन की वास्तविकता से ही जुड़ी रहती हैं।

सौन्दर्य और सौन्दर्यशास्त्र के सम्बन्ध में भी चर्नीशेव्स्की ने अपना विश्लेषण, विवेचन और मत प्रस्तुत किया है। उनका मत है कि काव्य केवल कल्पनामात्र से नहीं लिखा जा सकता। कलाकारों और कवियों को अनेक संघर्षों से गुज़रना पड़ता है। ये संघर्ष उनके सौन्दर्य-चित्रण को प्रभावित करते हैं और परिणामस्वरूप जीवन का अधिक सुन्दर और प्रभावकारी रूप कला और काव्य में उतरकर आता है। जीवन की वास्तविक और अनुभव, काव्य और कला का सही आधार है। फिर भी काव्य में वर्णित छवि में और वास्तविक जीवन की छवि में ठीक वैसा ही सम्बन्ध होता है जैसा कि शब्द में और उस पदार्थ में जिसका वह बोध कराता है। वह शब्द वास्तविक पदार्थ का एक क्षीण, 'सामान्य, अस्पष्ट आभास अथवा प्रतीकमात्र होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ठीक से देखने और अनुभव करने पर वास्तविक व्यक्ति और पदार्थ में सौन्दर्य या वांछनीय गुणों के विविध पक्ष होते हैं, पर कवि या चित्रकार उनमें से किसी एक पक्ष का उद्घाटन करता है।[1] उस वर्णन के प्रभावी होने का रहस्य यह है कि उस क्षीण या एकपक्षीय चित्रण के द्वारा पाठक या दर्शक अपनी कल्पना और स्मृति से उस वस्तु या व्यक्ति के समस्त अनुभूत रूपों और क्रियाकलापों का स्मरण से अनुभव कर उसका आनन्द प्राप्त करता है।

चर्नीशेव्स्की के विचार से सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र में अन्तर नहीं। सामान्य रूप से कला के और विशिष्ट रूप से काव्य के आम सिद्धान्तों की एक प्रणाली एक 'सिस्टम' के सिवा इसका (सौन्दर्यशास्त्र का) भला क्या आशय हो सकता है?[2]

कला, काव्य, सौन्दर्य, सौन्दर्यशास्त्र, दर्शन आदि विषयों के अलावा चर्नीशेव्स्की ने प्लेटो, अरस्तू, वेलिंस्की आदि पर भी महत्त्वपूर्ण लेख लिखे। अरस्तू के 'अनुकृति' सिद्धान्त को वे 'पुनः सृष्टि' के रूप में मानते थे।[3] और विचार और बिम्ब की अन्विति को कला में आवश्यक समझते थे।[4]

निकोलाई अलेक्ज़ाण्ड्रोविच दोब्रोल्युबोव (1836 से 1861) : दोब्रोल्युबोव का जन्म 24 जनवरी सन् 1834 ई. को निझनी-नोवगोरोद के सुप्रसिद्ध नगर में, जो अब गोर्की के नाम से प्रसिद्ध है, एक निर्धन पादरी के घर में हुआ था। ये बचपन से ही बड़े कुशाग्र बुद्धि के थे। बारह वर्ष तक ये एक धार्मिक स्कूल में पढ़ने के बाद उच्च विद्यालय में पढ़ने गये। इनकी रुचि इतिहास, साहित्य, दर्शन

---

1. *दर्शन, साहित्य और आलोचना*, पृ. 158.
2. वही, पृ. 174.
3. *सोवियत लिटरेचर*—जार्ज रीवे, पृ. 214.
4. शिवदान सिंह चौहान : *आलोचना के सिद्धान्त—यथार्थवादी आलोचना*—चर्नीशेव्स्की, पृ. 132.

और विज्ञान में विशेष थी। 1853 में ये सेण्ट पीटर्सबर्ग के केन्द्रीय अध्यापन प्रतिष्ठान में इतिहास और भाषाविज्ञान का अध्ययन करने गये। वहाँ इनका सम्पर्क राजनीतिक क्रान्तिकारियों से हुआ और इन्होंने एक गैरकानूनी पत्रिका का 'स्लुखी' नाम से प्रकाशन कराया। यह हस्तलिखित रूप में होती थी और इसमें दास-प्रथा तथा ज़ारशाही की कटु आलोचना करनेवाले लेख होते थे। 1856 में इनका एक लेख 'साहित्यकारों से दो-दो बातें', *सोव्रेमेन्निक* पत्रिका में प्रकाशित हुआ और 1857 में उसी के पुस्तक-समीक्षा-विभाग में सम्पादक बन गये। 1857 से 1860 तक की कालावधि में इन्होंने 'अन्धकार राज्य में प्रकाश की किरण', 'रूसी जन-जीवन की विशिष्टतायें' आदि लेख प्रकाशित किए, जो रूसी साहित्य में ही नहीं, विश्व-साहित्य में महत्त्वपूर्ण हैं। 1859 में ये 'स्विस्तोक' नामक पत्रिका के मुख्य सम्पादक हुए और इन्होंने सामन्तवाद और पूँजीवाद के विरोध में जोरदार सामग्री प्रकाशित की। परन्तु 1860 में ये अचानक बीमार पड़ गये। काफी दवा-दारू के बाद भी इनका स्वास्थ्य ठीक नहीं हुआ और 29 नवम्बर 1861 को केवल पचीस वर्ष की अल्पायु में ही इनके जीवन का अन्त हो गया। चर्नीशेव्स्की ने इनकी मृत्यु पर लिखा—रूसीजनो! वह तुम्हें कितना चाहता था। उसके शब्द तुम तक नहीं पहुँच पाये। किन्तु जब तुम वैसे बन जाओगे, जैसा वह तुम्हें बनाना चाहता था, तब तुम्हें पता चलेगा कि इस प्रतिभाशाली तरुण ने, तुम्हारी सर्वोत्तम सन्तान ने, तुम्हारे लिए क्या किया है।[1]

दोब्रोल्युबोव यह मानते हैं कि किसी कवि या कलाकार की कृतियाँ उसके जीवन की छापों और प्रभावों को प्रतिबिम्बित करती हैं और उसके जीवन के तथ्य उसके चरित्र का निश्चय करते हैं। कवि या कलाकार जीवनभर बचपन में बने किसी नपे-तुले ढाँचे के अनुसार आचरण नहीं करता रहता है, वह घटनाओं की वास्तविक दिशा का, उनकी गति और प्रवाह का अनुसरण करता है और अपने समय के समाज के गुणों और अवगुणों को, उस समाज के सुखों और दुःखों को अपनी कृतियों में चित्रित करता है।....दिव्य चेतना, दिव्य प्रेरणा, दिव्य दृष्टि, ये सब बाजीगरों की दुनिया की चीजें हैं। सच तो यह है कि मानव, चाहे वह कितनी ही सूझ-बूझ या प्रतिभा का धनी क्यों न हो, केवल सामने प्रस्तुत तथ्यों की नींव पर ही अपनी रचना खड़ी करता है। अतः साहित्य जीवन की गति का अनुसरण करता है। साहित्यकार अपने किसी मत का आग्रह नहीं करता, वह वास्तविक जीवन के तथ्यों से प्रकट मत का ही प्रतिपादन करता है।

उनका यह भी विचार है कि कलाकार का लगाव सूक्ष्म विचारों और सामान्य सिद्धान्तों से नहीं होता। उसका लगाव जीवित छवियों से होता है जिनमें विचार अपना मूर्त रूप धारण करता है। इन छवियों में कलाकार, अनजाने और अलक्षित रूप में बहुत पहले ही उनके अर्थ को पकड़ने और उसे व्यक्त करने में सफल होता है।

---

1. *दर्शन, साहित्य और आलोचना*, पृ. 206.

कभी-कभी कलाकार स्वयं अपनी कृति का अर्थ पूरी तरह नहीं जानता, तब आलोचक उन छवियों में निहित अर्थ को स्पष्ट करता है। पर उसके सैद्धान्तिक विचारों पर उसका कोई अधिकार नहीं होता। कलाकार का दृष्टिकोण उसके द्वारा निर्मित छवियों में ही निहित होता है। किसी लेखक या कलाकार की कृति को जाँचने की हमारी कसौटी यह है कि वह लेखक या साहित्यिक कृति, युग और जाति की सहज आकांक्षाओं को किस हद तक व्यक्त करने में सहायक होती है।

दोब्रोल्युबोव सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना को भावुक युवा-युवतियों के मनोरंजन की वस्तु ही मानते हैं। विशुद्ध कला के उपासक सौन्दर्यशास्त्रीय मनोरंजन करते हैं। पर उसके आधार पर की गयी आलोचना निम्नशैली की होती है। उनके विचार से वास्तविक आलोचना कृति में निहित जीवन की यथार्थता के विश्लेषण और विवेचन में है। उनका यह भी विचार है कि लेखक या साहित्यकार की दृष्टि जिस हद तक जीवन के तत्त्व में प्रवेश करती है और जिस हद तक लेखक जीवन के विभिन्न पहलुओं को अपनी कृति में चित्रित कर पाता है, उसी हद तक लेखक की प्रतिभा की मात्रा भी कम या अधिक होती है। लेखक की क्षमता का यह विस्तार ही उसकी प्रतिभा की मात्रा निर्धारित करता है।[1] इस प्रकार वे शुद्ध कलावाद के विरोधी और वस्तुवाद के समर्थक थे।

डिमिट्री इबानोविच पिसारेव (1840 से 1868) : इस समय रूस में अनेक साहित्य-चिन्तक हुए। पिसारेव का महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि उन्होंने सामाजिक संस्थाओं और रूढ़ियों से नाता तोड़कर, नये समाज की स्थापना पर जोर दिया। इस नये मण्डल के लोगों का विचार था कि अभी तक साहित्य और कला-समीक्षकों की दृष्टि कलावादी और रूपवादी पक्ष पर टिकी हुई है, पर वास्तव में उसकी दृष्टि सत्यान्वेषी होनी चाहिए। हमें इसकी विवेचना करनी चाहिए कि कला और साहित्य में क्या लाभप्रद है और क्या हानिप्रद है? उनके विचार से यह स्पष्ट है कि वे साहित्य को जीवन की समीक्षा मानते थे और आलोचना के लिए तर्कसंगत सत्यान्वेषी विचारों को आधार बनाना आवश्यक मानते थे।[2]

इस समय रूसी आलोचना और कलाशास्त्रीय एवं काव्यशास्त्रीय दृष्टि यथार्थ जीवन और उपयोगितावादी शिक्षाओं से ओतप्रोत थी। परन्तु लियो ताल्स्ताय ने कला और साहित्य-चर्चा में नैतिकता, अध्यात्म, संवेदना और सेवा की धार्मिक भावनाओं को भी जोड़ा। उनका यह कार्य वस्तुवाद या उपयोगितावाद का ही एक आयाम था।

काउण्ट लियो ताल्स्ताय (1828 से 1910) : ताल्स्ताय का जन्म 9 सितम्बर 1828 में 'यासनाया पोलयाना' में हुआ था। अपने पिता की ये चौथी सन्तान थे। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर हुई और बाद में 'क़ज़ान' विश्वविद्यालय में ये पढ़ने

---

1. *दर्शन, साहित्य और आलोचना*, पृ. 247.
2. *सोवियत लिटरेचर*—जार्ज रीवे (George Reawey), पृ. 14.

गये। इन्होंने उच्च वर्ग में जन्म लेने के नाते बचपन में ही घुड़सवारी और ऊँचाई से कूदना जैसे अभ्यास किये। ये दक्षिण रूस के काकेशस प्रान्त में गये। लौटने पर सन् 1852 में ये रूसी सेना में भर्ती हुए। इन्हें कार्य के बाद काफी समय मिलता था, अतः उस अवकाश में इन्होंने लिखना शुरू किया। *शैशव (चाइल्डहुड)* इनकी कहानियों का प्रथम प्रकाशित संग्रह था। क्रीमिया के युद्ध में ये स्वयं ही सम्मिलित हुए और 'सेवस्तोपॉल की कहानियाँ' के रूप में इन्होंने युद्ध की विभीषिका का वर्णन किया। आगे चलकर सन् 1864 में इन्होंने अपना विशाल उपन्यास *युद्ध और शान्ति (War and Peace)* प्रकाशित किया जिसमें नेपोलियन के रूस पर आक्रमण तथा युद्ध के भयंकर दुष्प्रभाव का मार्मिक वर्णन किया गया है। तदनन्तर 1857 में इनका सुप्रसिद्ध उपन्यास *अन्ना करेनीना* तथा 1899 में *रिसरेक्शन* नामक उपन्यास प्रकाशित हुए। लेखक के रूप में इनकी ख्याति *युद्ध और शान्ति* तथा *अन्ना करेनीना* के प्रकाशित होने पर चारों ओर फैल गई।[1] इनकी पुस्तक *ह्वाट इज़ आर्ट ऐण्ड अदर एसेज़* कला और साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका बनाती है। उनके विचार से कला हमारे पूर्वानुभवों को इस प्रकार सम्प्रेषित करने की विशिष्ट शैली है कि दूसरे लोग भी इसी प्रकार अनुभव करने लगे। उसका यह कार्य यथार्थ जीवन के साथ सम्पर्क और संक्रमण द्वारा पूर्ण होता है। यह अमूर्त को मूर्त रूप में प्रस्तुत करती है। वह मानसिक विकास का प्रमुख साधन है तथा प्रेम-सम्बन्धों को पवित्रता प्रदान करती है। वह चेतन और जड़ के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है; अतएव वह जीवन के लिए उपादेय है।[2] ताल्स्ताय 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के विरोधी थे। उनकी दृष्टि में साहित्य और कला का सोद्देश्य होना आवश्यक है। अतः यह दृष्टि नैतिकवादी और उपयोगितावादी थी। कला की इस दृष्टि में समाज की उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने की भी विशेषता छिपी है। ताल्स्ताय के विचार से साहित्य और कला मात्र धर्म के प्रगतिशील विचारों की वाहक नहीं बनायी जा सकती। इसमें तो युग-विशेष के सर्वोत्कृष्ट स्पन्दन, काल-विशेष की अन्तश्चेतना अथवा जीवन के सर्वोच्च अनुभवों और विचारों का प्रतिबिम्ब रहता है। इस प्रकार ताल्स्ताय के कला और साहित्य-सम्बन्धी विचार उच्च, उदात्त और सामयिक तथा प्रेरक थे।

एक उपन्यासकार और लेखक के रूप में उत्कृष्ट ख्याति के बावजूद ताल्स्ताय अपनी उपलब्धियों से सन्तुष्ट नहीं थे। अतः उन्होंने अपनी जीवन-शैली ही बदल दी। सभी बन्धनों और प्रतिबन्धों से मुक्त होकर उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे किसी के प्रति हिंसा नहीं करेंगे—पशुओं के प्रति भी नहीं। उन्होंने अपना जीवन एक किसान के रूप में सादे ढंग से व्यतीत करना शुरू कर दिया और अपनी सम्पत्ति को परिवार

1. *रूसी साहित्य का इतिहास*—डॉ. केसरीनारायण शुक्ल।
   दि बुक ऑफ् नॉलेज, खण्ड 7, पृ. 310.
2. *ह्वाट इज़ आर्ट ऐण्ड अदर एसेज़*, पृ. 64.

के सदस्यों में बाँट दिया। परिवार के लोगों के बीच उनकी जीवनविधि के लिए असुविधा को देखकर वे घर छोड़, किसानों के बीच चले गये। अक्टूबर 28, 1910 को उन्होंने ऐसा किया। तदनन्तर वे बीमार पड़ गये और 7 नवम्बर 1910 को उनका देहावसान हो गया।

ताल्स्ताय के इस जीवन से गांधीजी बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने भी गरीब किसान का-सा जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया और अहिंसा को अपनाया। ताल्स्ताय के धर्म-सम्बन्धी विचारों का एक ग्रन्थ *ईश्वर का राज्य तुम्हारे भीतर है (The Kingdom of God is within you)* रूस में प्रतिबन्धित कर दिया गया था।[1] बाद में वह 1892 में इंग्लैण्ड में छपा। द्वितीय महायुद्ध में उनका घर भी ध्वस्त कर दिया गया था; पर बाद में उसका जीर्णोद्धार हुआ और अब वह म्यूज़ियम है। ताल्स्ताय महान् लेखक होने के साथ-साथ, महान् आत्मा भी थे। आधुनिक युग या बीसवीं शताब्दी में प्रवेश करने पर 1917 की क्रान्ति और विश्व-युद्ध के पश्चात् घटनाओं का क्रम इतनी तेजी से बढ़ा कि साहित्य और कला का महत्त्व ही कम हो गया। आलोचक और साहित्य-चिन्तक भी उच्चकोटि के न रह गये। साहित्य और कला के सम्बन्ध में मतभेद अधिक उत्पन्न हुए। ये मतभेद पहले मार्क्सवाद और उनके विरोधियों के बीच हुए और बाद में स्वयं मार्क्सवादी चिन्तकों के बीच में भी। इन विचारों पर हम आगे आधुनिक काल के प्रसंग में विचार करेंगे।

(च) मध्यकालीन अमरीकी कला-साहित्य-चिन्तन

अमरीकी साहित्य-चिन्तन का श्रीगणेश लॉर्ड केम्स द्वारा लिखित 'एलीमेण्ट्स ऑफ् क्रिटिसिज़्म' से सन् 1762 ई. में हुआ। यह कार्य अमेरिका में यूरोपीय उपनिवेशवाद के लगभग सौ वर्षों बाद हुआ। अठारहवीं शती में 'ह्यू ब्लेयर' द्वारा लिखित और प्रदत्त *लेक्चर्स ऑन रिटोरिक* 1783 में प्रकाशित हुए जो अलंकार और भाषणशास्त्र से सम्बद्ध थे। परन्तु इसी बीच 'आर्कीबाल्ड एलीसन' के द्वारा सन् 1790 में लिखित पुस्तक *नेचर ऐण्ड प्रिंसिपल्स ऑफ् टेस्ट (Nature and Principles of Taste)* प्रकाशित हुई जिसका प्रभाव समकालीन साहित्य पर पड़ा। इसमें काव्य के लिए सुस्पष्टता और सरलता तथा सुबोधता आवश्यक गुण माने गये। इसी बीच सन् 1770 में 'जान ट्रम्बुल' ने *एसे ऑन दि न्यूज़ ऐण्ड एडवाण्टेज़ेज़ ऑफ् दि फ़ाइन आर्ट्स* नामक पुस्तक लिखीं जिसमें पाश्चात्य रचनाओं के विलासी प्रभावों का विरोध कर नैतिकता एवं सुस्पष्टता का समर्थन था। यह कहा जा सकता है कि अठारहवीं शताब्दी में 'नव्य शास्त्रवाद' का प्रभाव था।

अठारहवीं शती के उपरान्त आध्यात्मिक एवं रहस्यवादी सौन्दर्य-दृष्टि कला और साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में दिखाई देती है। अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवियों और रोमाण्टिक साहित्य-शास्त्र का भी अमरीकी साहित्य पर प्रभाव पड़ा। कॉलरिज और वर्डस्वर्थ की

---

1. *ए बुक ऑफ् नॉलेज,* खण्ड 7, पृ. 310.

रचनाओं और विचारों ने तत्कालीन समीक्षकों को प्रेरणा दी और स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण उस समय के साहित्य-चिन्तन में व्याप्त हो गया। इस युग के महत्त्वपूर्ण चिन्तक हैं 'आर. डब्ल्यू. इमर्सन'।

राल्फ वाल्डो इमर्सन (1803 से 1822) : इमर्सन का जन्म संयुक्त राज्य अमरीका के बोस्टन नगर में सन् 1803 ई. में हुआ था। इनके पिता रेवेरेण्ड विलियम इमर्सन पादरी थे। 1811 में उनका देहान्त हो गया। अतः इनकी शिक्षा इनकी बुआ की देखरेख में हुई। पहले ये बोस्टन के पब्लिक स्कूल में पढ़े और बाद में हारवर्ड कॉलेज में। 15 वर्ष की अवस्था में ही लोग इनकी प्रतिभा से प्रभावित होने लगे थे। इनके गहरे अध्ययन के विषय दर्शन, कविता और काव्यशास्त्र थे। चर्च से तो ये सम्बद्ध थे, अतः आध्यात्मिक प्रभाव तो इन पर था ही। इनके भाषण बड़े ही रोचक और प्रभावशाली होते थे। अपने लेखन और वक्तव्यों से ये अमरीकी स्वच्छन्दतावाद के केन्द्र-बिन्दु बन गये। इमर्सन प्रकृति से बहुत प्रभावित थे और उसमें ईश्वरीय शक्ति का आभास पाते थे। बहुत समय तक इनका दृष्टिकोण ऐसा ही रहा; पर कुछ कठोर पारिवारिक घटनाओं और अमरीकी गृह-युद्ध का इनके जीवन पर प्रभाव पड़ा और कुछ सीमा तक ये भाग्यवादी हो गये। फिर भी वे इस बात को मानते थे कि अयोग्य, असमर्थ और असहाय तथा अविकसित लोगों के साथ रहने के साहस के साथ ही मानव में भले और उदात्त मूल्यों का विकास होता है। प्रेम, मैत्री और सेवा चरित्र के उत्थान की सीढ़ियाँ हैं। सौन्दर्य की भी अनुभूति नैतिक भावनाओं का ही परिणाम होती है—चाहे वह सौन्दर्य रूप का हो चाहे आचरण और विचार का। कवि की वाणी को इमर्सन बड़ी प्रभावशाली मानते थे। उसके विचार सत्य के स्वरूप तथा विधि-विधान होते हैं। उसकी शब्दावली का प्रभाव सभी पर पड़ता है, यह उनका मत था।

इमर्सन ने ज्ञान के दो रूप माने हैं—प्रथम—मौलिक ज्ञान और द्वितीय—पूरक ज्ञान। प्रथम स्वयंप्रकाश ज्ञान है और दूसरा उपलब्ध ज्ञान। उपलब्ध ज्ञान और स्वयंप्रकाश ज्ञान दोनों मिलकर कलात्मक सौन्दर्य को प्रेरित करते हैं। कलात्मक सर्जना के अवसर पर कलाकार के मस्तिष्क में असीम से सम्बद्ध आदर्श विचारों का प्रवाह चलता रहता है। परम सत्ता के साथ एकात्म होने पर कला स्वयं रूपायित होती है। यह समाधि या ट्रासेण्डेण्टल स्थिति है। इस प्रकार कलाकार अपनी कला-सर्जना के साथ परम सत्ता का साक्षात्कार करता है। इमर्सन के ये विचार भारतीय रहस्यवाद या रसवादी ब्रह्मास्वाद सहोदर की धारणा से बहुत मिलते-जुलते हैं।

इमर्सन प्रकृति को कला की मूल प्रेरणा मानते थे। वैज्ञानिक शब्दावली में वे स्पष्ट करते थे कि कल्पना, मस्तिष्क के उस कक्ष के समान है, जहाँ पर नये-नये रूपों और विचारों का विस्फोट होता रहता है। कल्पना में कभी नये रूपों का निर्माण होता है और कभी स्मरण के आधार पर पुराने रूपों का। इस प्रकार कल्पना थोड़ा-सा छोड़ने पर सक्रिय हो जाती है। कल्पना के सक्रिय होने पर अथवा भाव से प्रेरित होने पर कवि या कलाकार की अभिव्यक्ति अनायास होती है। इस प्रकार इमर्सन के

विचारों में काव्यशास्त्रीय और सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण आध्यात्मिक रंग में रँगा हुआ मिलता है। इनकी सुप्रसिद्ध कृतियाँ हैं—*नेचर* (1836), *दि अमेरिकन स्कालर* (1837), *दि डिविनिटी स्कूल ऐड्रेस* (1838) तथा एक हजार के लगभग पत्र जिनमें इनके विचार प्रकट हुए हैं।

हेनरी डेविड थोरो (1817-1868) : थोरो कवि, आलोचक और लेखक थे। इनकी कृतियाँ *लाइफ विदाउट प्रिंसिपल* (1862), *दि मेन वुड्स* (1864), *केपकॉड* (1865), *ए येंकी इन कनाडा* (1866) तथा *लाइफ इन वुड्स* (1866) उत्तम कोटि की रचनायें हैं।

थोरो इमर्सन से प्रभावित थे। कलात्मक सर्जना में दोनों में काफी साम्य है। पर कई स्थानों पर इन्होंने इमर्सन के विचारों में संशोधन भी प्रस्तुत किया है। इनके विचार से रचनाकार या कवि दो प्रकार के होते हैं—एक वे जो जीवन को प्रेरणा, गति और विकास प्रदान करते हैं और दूसरे वे, जो जीवन की उतनी चिन्ता न कर कला के विकास को ही अपने ध्यान में रखते हैं। इमर्सन से थोरो की विचारणा में यह अन्तर है कि एक रहस्यानुभूति का परिणाम कला को मानता है और दूसरा वैचारिक क्रिया को। थोरो भी इमर्सन के समान प्रकृति के प्रेमी थे, पर दोनों के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न थे। थोरो प्रकृति के सहज सौन्दर्य को महत्त्व देते थे, जबकि इमर्सन प्रकृति के सौन्दर्य में परोक्ष सत्ता के संकेत और सौन्दर्य की झलक पाते थे। फिर भी रचनाओं और भावनाओं में दोनों की समानता देखी जा सकती है।

एडगर एलेन पो (Edgar Allan Poe) (1809-1849) : एडगर एलेन पो का जन्म 19 जनवरी 1809 में बोस्टन में हुआ था। इनकी माता एलिज़ाबेथ अर्नाल्ड पो तथा पिता डेविड पो जूनियर फिल्म-अभिनेता थे। माँ की मृत्यु के उपरान्त ये स्काटलैण्ड और इंग्लैण्ड गये जहाँ इन्हें प्राचीन साहित्य की शिक्षा दी गयी। सन् 1826 में ये वर्जीनिया युनिवर्सिटी गये तथा वहाँ पर ग्रीक, लैटिन, फ्रेञ्च, इटैलियन और स्पेनी भाषाएँ सीखीं। उसके बाद ये बोस्टन वापस आये और अपना प्रकाशन आरम्भ किया। इन्हें जुआ खेलने की आदत पड़ गयी थी। ये जुए में सब हारकर निर्धन हो गये और सेना में भर्ती हो गये। कुछ समय बाद ये यू.एस. मिलिटरी अकादमी में नियुक्त किये गये। इन्होंने अपनी काव्य-रचनायें प्रकाशित कीं जिन पर कॉलरिज, शेली और कीट्स का प्रभाव दिखायी पड़ता है। उसके बाद पो ने जासूसी और दैवी चरित्रों की कहानियाँ लिखनी आरम्भ कीं जिनमें अलौकिक त्रास भरा पड़ा था। पो, दुर्बल हृदय के व्यक्ति थे और बहुत अधिक मदिरा पीते थे। एक जन्म-दिन की पार्टी में बहुत शराब पीने के कारण इनकी मृत्यु 7 अक्टूबर 1849 को हो गयी। पो सदैव एक द्विविधा-ग्रस्त व्यक्ति रहे। पो का प्रारम्भिक जीवन पत्रकार का था। उन्होंने फ्रेञ्च प्रतीकवादिता और अमरीकी *कल्पनातिशयता* को अंगीकार किया। इनकी गद्य-पद्यात्मक कृति *यूरेका* तथा काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ *दि पोइटिक प्रिंसिपल* तथा *टेमरलेन, अल ऑराफ* और *पोयम्स* नामक कविता-ग्रन्थ प्रसिद्ध है।

'पो' इमर्सन के समकालीन थे। कला और जीवन के दार्शनिक पक्ष पर जिस प्रकार इमर्सन का प्रभाव था उसी प्रकार साहित्य और काव्यालोचना के क्षेत्र पर एडगर एलेन पो का प्रभाव था। अपने *दि पोइटिक प्रिंसिपल* में इन्होंने स्पष्ट कहा है कि जो आनन्द शुद्ध, स्वच्छ, सघन और उदात्त है वह सुन्दर के ध्यान से प्राप्त होता है। काव्यानुभूति आनन्द का उदात्तीकरण और आत्मा की प्रसन्नता है। इमर्सन के आध्यात्मिक रूप से तन्मयता के सिद्धान्त से पूर्णतया सहमत न होते हुए भी, वे प्रायः उसी सम्प्रदाय के थे, केवल रहस्यवाद के सम्बन्ध में उनके अलग विचार हैं। पो का विचार था कि कवि शब्दों का शिल्पी होता है और शब्दों की संरचना और संघटन के लिए अपनी बुद्धि की तटस्थता का पूरा उपयोग करता है। इस संरचना और संघटन से ही वह उदात्त लय का निर्माण करता है। वे यह मानते हैं कि इस लयात्मक संरचना के लिए प्रयास और बुद्धि का उपयोग आवश्यक है। इसे सहजता या आकस्मिकता पर छोड़ना ठीक नहीं है।

'पो' के विचार से गीति, कविता का सार है। वे कहते थे कि लम्बी कविता एक असम्भावना है। लम्बापन और कविता—एक-दूसरे के विरोधी शब्द हैं। एक कविता में जो चमत्कार और उल्लास प्राप्त होता है, वह लम्बी कविता में जारी नहीं रखा जा सकता, क्योंकि वह अनुभूति क्षणिक होती है। अतः गीति में इसे समाविष्ट करने के लिए विशिष्ट विषय और शब्द-रचना अपेक्षित है। इसी अवस्था में आत्मा, सौन्दर्य से साक्षात्कार करती है। पो ने अपने ग्रन्थ *दि पोइटिक प्रिंसिपल* में स्पष्ट कहा है कि हम अनन्त सौन्दर्य का साक्षात्कार या उसके आंशिक रूप का साक्षात्कार सामयिक विचार-चेतना के साथ बहुविध शब्द रूप-रचना के सामंजस्य द्वारा कर सकते हैं। इस प्रकार एडगर एलेन पो ने रहस्य-दृष्टि के साथ आधुनिक भाषा-संरचना के तत्त्व भी काव्य-रचना में समाविष्ट कर दिये थे। इसी कारण बादलेयर, मलार्मे जैसे फ्रेञ्च कलाचिन्तकों तथा अन्य कवियों और विचारकों पर उनके विचारों का प्रभाव पड़ा। भाषा की शुद्धता और छन्द की उपयुक्तता पर पो ने विशेष बल दिया। शुद्ध कविता तथा प्रतीकवादी आन्दोलन को, पो की रचनाओं से काफी प्रेरणा मिली थी।

लाबेल (1850) : लाबेल एक सामंजस्यकारी और समन्वयवादी लेखक थे। इन्होंने रहस्यवादी सिद्धान्तों और लौकिकतावादी विचारों के बीच सन्तुलन स्थापित किया। इनका दृष्टिकोण मानवतावादी और राष्ट्रीय था। इनका विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण कार्य ग्रामीण मनोवृत्ति में सुरुचि के विकास का था। इन्होंने लोकभाषा और लोकसाहित्य के महत्त्व को समझकर उनका अध्ययन किया और भाषाशास्त्र पर भी कार्य किया। इन्होंने साहित्य में नैतिकता और सांस्कृतिक परम्परा को सुरक्षित रखने पर बल दिया। यह कहा जा सकता है कि इनका दृष्टिकोण निर्णयात्मक आलोचना का था। आंचलिकता को महत्त्व प्रदान करने, ग्राम्य रुचि का परिष्कार करने तथा लोकसाहित्य को समझने और व्याख्यायित करने में इनका योगदान विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण है। एक सूक्ष्म और

सन्तुलित तथा संवेदनशील कला और साहित्य-विवेचक के रूप में 'लाबेल' का कार्य स्मरणीय है।

ई.सी. स्टेडमैन : स्टेडमैन, साहित्य और कला-साहित्य-विवेचना में औचित्य के प्रतिष्ठापक थे। अपनी प्रसिद्ध कृति *नेचर ऐण्ड एलीमेण्ट ऑफ़ पोइट्री* में उन्होंने प्रतिपादित किया है कि काव्य-रचना के लिए प्रतिभा आवश्यक है। काव्य में नैतिकता अपेक्षित नहीं, पर उसमें शुद्ध, वस्तुपरक सौन्दर्य का उद्‌घाटन होना चाहिए। नैतिकता और सौन्दर्य का समन्वय हो, तो अत्युत्तम है। आलोचना को उन्होंने साहित्यिक प्रगति के लिए अत्यावश्यक माना तथा आलोचना के लिए औचित्यपूर्ण दृष्टि को महत्त्व प्रदान किया।

(छ) मध्ययुगीन अंग्रेज़ी कला-साहित्य-चिन्तन का विकास

अंग्रेज़ी का साहित्यिक भाषा के रूप में विकास बहुत बाद में हुआ। काफी समय तक अंग्रेज़ी एक ग्राम्य बोली के रूप में ही प्रचलित रही और उस समय तक इंग्लैण्ड में लैटिन और फ्रेञ्च भाषाओं का प्रभाव और प्रचार रहा। वह कानून की भाषा भी बहुत बाद में वनी। कहना चाहिए कि पन्द्रहवीं शताब्दी के पहले उसका साहित्य ही नगण्य था। 'चासर' प्रथम बड़ा कवि माना जाता है; पर अंग्रेज़ी को प्रतिष्ठा शेक्सपीयर और मिल्टन की रचनाओं के कारण मिली। यह समय 16वीं शताब्दी ईसवी का 'रानी एलिज़ाबेथ' के शासन-काल का था और इसी समय से इंग्लैण्ड और अंग्रेज़ी भाषा का विकास प्रारम्भ हुआ। इसके पूर्व का समय लैटिन और फ्रेञ्च भाषाओं के विकास का समय था। काफी समय तक लैटिन भाषा ही यूरोप में छायी रही। परन्तु, दर्शन तथा ज्ञान के क्षेत्र में जिस भाषा का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा, वह ग्रीक (यूनानी) भाषा थी। सातवीं शताब्दी में यूनान पर तुर्कों का साम्राज्य हो गया। परिणामस्वरूप यूनानी विद्या, ज्ञान और कला, यूनान से बाहर यूरोप के अन्य देशों में यूनानी लोगों के साथ चली गयी। यही कारण है कि यूरोप के प्रायः सभी देशों पर यूनानी चिन्तन और विचारधारा तथा साहित्य का प्रभाव है। वही प्रभाव इंग्लैण्ड में भी देखा जाता है।

सर थामस विल्सन : एलिज़ाबेथ के समय में अंग्रेज़ी की साहित्यिक समृद्धि हुई। चासर की *कैण्टरबरी टेल्स* के बाद, साहित्य की आलोचना और काव्यशास्त्रीय चिन्तन भी आरम्भ हुआ। काव्यशास्त्र पर लिखा गया पहला उल्लेखनीय ग्रन्थ ट्यूडर-काल में आता है। वह ग्रन्थ है *आर्ट ऑफ़ रिटोरिक*। इसके लेखक थे 'सर थामस विल्सन'[1] जो कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी के स्नातक थे। वे बड़े जिज्ञासु, परिश्रमी और देशभक्त थे। उनके ग्रन्थ का ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व है; क्योंकि उसका प्रथम प्रकाशन सन् 1553 ई. में हुआ। दूसरा संवर्धित संस्करण 1563 में प्रकाशित हुआ। इन दोनों पुस्तकों में विल्सन ने आविष्करण (Invention), मनोवृत्ति (Disposition), विवरण (Amplification) और अवस्थाओं (States) आदि पर विचार किया है। इनकी तीसरी

1. *ए हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लिश क्रिटिसिज़्म*, जार्ज सेण्ट्सबरी (1911), पृ. 31.

पुस्तक 'वक्तृत्व' (Elocution) पर है। वक्तृत्व को उन्होंने चार शीर्षकों में बाँटा है—सरलता (Plainness), औचित्य (Aptness), रचना (Composition) और अलंकरण (Exomation)। इन्होंने काव्यभाषा को अतिशय लैटिन शब्दावली से युक्त बनाने का विरोध भी किया और सीधी शब्दावली पर बल दिया। भाषा के अनौचित्य पर भी उन्होंने व्यंग्यपूर्ण प्रहार किये। रचना के सम्बन्ध में भी उनके विचार मान्य हैं, पर जब वे अलंकरण की बात करते हैं, तब प्रदर्शन और सजावट के लिए दूसरी भाषाओं के शब्दों का आदान आवश्यक मानते हैं और परम्परागत अलंकार की प्रवृत्ति से बँधे हुए दिखाई पड़ते हैं। पुराने अलंकारों के उदाहरण उसमें आ जाते हैं। इस प्रकार एकदम कोई नयी भूमि न तोड़ने पर भी 'विल्सन' का कार्य महत्त्वपूर्ण है।

इसी समय **जार्ज गैस्क्वाइन** (1525 से 1577) का विशिष्ट कार्य है। गैस्क्वाइन (Gascoigne) की *नोट्स ऑफ् इन्स्ट्रक्शन (Notes of Instruction)* और डेनियल की *डिफेन्स ऑफ् राइम (Defence of Rhyme)*, पुस्तकें भी लिखी गयीं। नोट्स ऑफ् इन्स्ट्रक्शन में, जो 1572 और 1575 के बीच लिखी गयी, उच्चारण और छन्द-सम्बन्धी शिक्षा है। उनके मत से अंग्रेज़ी कविता में उच्चारण के लिए सही अक्षर पर बलाघात आवश्यक है। छन्द-विधान को पूर्णतया सुधारना चाहिए। इसी बीच एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक *स्कूल ऑफ् अब्यूज (School of Abuse)* स्टीफेन गॉसन (Stephen Gosson) द्वारा लिखी गयी। इस पुस्तक में गॉसन ने कविता और नाटक की निन्दा की। उन्होंने सारे साहित्य को दैत्यों की रचना कह डाला। उनके विचार से कविता और नाटक में प्रायः झूठ, फरेब और अनैतिकता समायी रहती है। कवि और नाटककार स्वच्छन्द और झूठे होते हैं। वे अपनी रचनाओं द्वारा असंयम सिखाते हैं।

गॉसन की इस पुस्तक ने बड़ी तीखी प्रतिक्रियायें उभारीं। उसके उत्तर में लॉज (Lodge) ने रिप्लाई (Reply) पुस्तक लिखी। गॉसन की पुस्तक, सर फिलिप सिडनी को समर्पित की गयी थी—उन्हें चिढ़ाने के लिए। अतः सिडनी ने बिना गॉसन का नाम लिये ही अपनी पुस्तक लिखी जिसका नाम था *डिफेन्स ऑफ् पोइसी* या *अपोलॉजी फॉर पोइट्री*। सर फिलिप सिडनी का यह ग्रन्थ अंग्रेज़ी काव्यशास्त्र में प्रथम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है।

सर फिलिप सिडनी (Sir Philip Sidney) : सर फिलिप सिडनी का जन्म 30 नवम्बर सन् 1554 में हुआ था। इनके पिता आयरलैण्ड के गवर्नर थे। इनकी शिक्षा ऑक्सफोर्ड में हुई। इसके बाद ये रानी एलिज़ाबेथ के कोर्ट के सदस्य बने।

सर फिलिप सिडनी का समय सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध है। उनकी सुप्रसिद्ध पुस्तक, जो गॉसन के उत्तर में लिखी गयी, सन् 1585 ई. में हस्तलिखित रूप में प्रचारित हुई, जब कि गॉसन की कृति *स्कूल ऑफ् अब्यूज़ेज़* सन् 1579 में प्रकाशित हो गयी थी। सिडनी की पुस्तक *डिफेन्स ऑफ् पोइसी* सन् 1595 में प्रकाशित

हुई।[1] इस पुस्तक में सिडनी ने कविता के पक्ष में वकालत की है और उसके महत्त्व को प्रतिपादित किया है। उनका कहना था कि सभी देशों के प्राचीन लेखक वास्तव में कवि ही थे। दार्शनिकों ने भी कविता का ही प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। रोमन लोगों ने तो कवि को द्रष्टा और भविष्यवक्ता भी कहा है। प्रारम्भिक धार्मिक प्रार्थनायें भी क्या दिव्य काव्य नहीं हैं? कवि का अर्थ क्या है? उसका अर्थ स्रष्टा या रचयिता है। कविता के अतिरिक्त सभी कलायें और ज्ञान-विज्ञान, प्राकृतिक वस्तुओं तक ही सीमित रहते हैं, पर कविता उसके पार जाकर प्रकृति का अधिक सुन्दर रूप प्रस्तुत करती है। कवि परम रचयिता परमात्मा का अनुकरण कर उसकी सृष्टि की तुलना में अपनी रचना प्रस्तुत करता है। कवि का अनुकरण धार्मिक और दार्शनिक दोनों से विशिष्ट होता है।

कविता के अनेक भेद होते हैं; पर महत्त्वपूर्ण है वीरकाव्य, करुणकाव्य और हास्यकाव्य। तुक और छन्द ही किसी रचना को कविता नहीं बनाते। गद्य में भी कविता के गुण मिल सकते हैं। ज्ञान की अन्य शाखाओं की अपेक्षा सिडनी ने कविता को विशिष्ट महत्त्व प्रदान किया है। उन्होंने काव्यगत न्याय को भी महत्त्व दिया है, क्योंकि यह जीवन में व्याप्त अन्याय के बीच सान्त्वना प्रदान करता है। कविता के दुःखान्त, सुखान्त और गोचारण सम्बन्धी भेदों पर भी विचार किया गया है। यों सिडनी का विचार है कि कविता, गद्य की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट लेखन है। फिर भी सिडनी इस बात पर दुःख प्रकट करते हैं कि इंग्लैण्ड में कविता के प्रति सौतेला व्यवहार होता है, इसे दूर करना चाहिए।

काव्य और नाटक में वे प्लेटो और अरस्तू की धारणाओं से प्रभावित थे। काव्य में दैवी प्रेरणा का उपयोग होता है, यह उन्होंने माना, साथ ही संकलनत्रय को भी नाटक में महत्त्वपूर्ण बताया। उनका मत था कि उनके समय के नाटकों में इसकी कमी दीखती है।

सिडनी ने कोरी कल्पना को महत्त्व नहीं दिया। उनका मत था कि अलौकिक प्रेरणा से कवि जीवन पर दृष्टिपात करता है। वह जो कुछ देखता है, वही चित्रण नहीं करता। उसे देखकर प्रायः उसे क्षोभ होता है, अतः वह ऐसा चित्रण करता है जैसा होना चाहिए। इसके साथ ही साथ वह यह भी बताता है कि क्या नहीं होना चाहिए। वह प्रकृति और जीवन के अधूरे और त्रुटिपूर्ण रूप को अधिक पूर्ण और परिष्कृत करके चित्रण करता है। एक महान् कवि में दार्शनिक और इतिहासकार दोनों के ही गुण विद्यमान रहते हैं; यही कारण है कि वह जीवन के उत्कृष्ट और आदर्श रूपों को प्रस्तुत कर सकता है। ऐसा करते हुए कवि नैतिकता की शिक्षा भी देता है। काव्य वास्तव में हमारी जीवन-यात्रा में मार्गदर्शक और सहयोगी का तो काम करता ही है, वह हमें आनन्द भी प्रदान करता है।

---

1. सिडनी की मृत्यु के लगभग दस वर्ष बाद (जार्ज सेण्ट्सबरी), वही, पृ. 59.

इस प्रकार सर फिलिप सिडनी की कृति *डिफेन्स ऑफ पोइसी* कई प्रकार से उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। उसके द्वारा काव्य के सम्बन्ध में परम्परा से चले आते सन्देहों, भ्रमों तथा विवादों का निराकरण हुआ। साथ ही साथ काव्य के प्रति लोगों में आस्था जाग्रत् हुई। इसके साथ ही साथ सबसे बड़ा कार्य यह सम्पादित हुआ कि इसके बाद कवियों को काव्य-रचना के लिए प्रोत्साहन प्राप्त हुआ तथा उनके वास्तविक कृतित्व को गौरव भी मिला। इससे काव्य को संरक्षण मिला तथा काव्य-चिन्तन को एक नयी दिशा और दृष्टिकोण भी उपलब्ध हुआ। इसकी अभूतपूर्व प्रेरणा एलिज़ाबेथ-कालीन काव्य-रचना के रूप में हुआ। इससे उत्कृष्ट और महनीय काव्य की सर्जना हुई तथा अंग्रेजी कविता के नवजागरण-काल का आरम्भ हुआ। सिडनी की मृत्यु 2 अक्टूबर 1586 को, एक युद्ध में चोट लगने के कारण हुई।[1]

सिडनी के बाद काव्यकला से सम्बद्ध कुछ सामान्य महत्त्व के ग्रन्थ प्रकाशित हुए। **किंग जेम्स** की 'स्काटिश पोइसी' से सम्बद्ध पुस्तक 1585 में प्रकाशित हुई। इसमें काव्य-रचना से सम्बद्ध कुछ नियम आदि की चर्चा है। **विलियम वेब** की पुस्तक *डिस्कोर्स ऑफ़ इंग्लिश पोइसी* 1586 में प्रकाशित हुई जिसमें अधिकांश विचार-विमर्श अंग्रेजी छन्दों पर मिलता है। इससे 'वेब' की साहित्य के प्रति गहरी निष्ठा और रुचि व्यक्त होती है। 'पुटेनहम' (Puttenham), की पुस्तक *आर्ट ऑफ़ इंग्लिश पोइसी* सन् 1589 में प्रकाशित हुई। पुस्तक बिना नाम की थी, पर उसके लेखक 'रिचार्ड पुटेनहम' माने जाते हैं जिनका जन्म-समय 1530-35 के लगभग हो सकता है। इनकी मृत्यु 1590 में हुई। इस पुस्तक का महत्त्व है। पुस्तक के तीन भाग हैं—प्रथम 'कवि और कविता' पर; द्वितीय 'अनुपात' (Proportion) और तृतीय 'अलंकृति' पर है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य यह है कि 'अंग्रेजी कविता' की अपनी कला है। लेखक ने कविता के विषय और रूप-रचना पर भी प्रकाश डाला है। इसमें स्पष्ट कहा गया है कि कविता का दुरुपयोग व्यर्थ की बातों में नहीं करना चाहिए। वह आनन्द देनेवाली वस्तु है। यह प्रथम खण्ड में प्रतिपादित है। द्वितीय खण्ड में लय और छन्द पर विचार किया गया है तथा तृतीय में अलंकार और शैली की चर्चा है। इसमें भाषा, शैली और अलंकार-सम्बन्धी बातें हैं। शैली के अन्तर्गत उच्च, मध्यम और निम्न शैलियों का उल्लेख है। काव्य-कला को इस पुस्तक में गुप्त या निहित अर्थ में माना गया है। इस प्रकार इस बीच लिखी पुस्तकों में *आर्ट ऑफ़ इंग्लिश पोइसी*—एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

नये अंग्रेजी पद्य या छन्द-रचना के सम्बन्ध में **थामस कैम्पियन** की लिखी *ऑब्जरवेशन इन दि आर्ट ऑफ़ इंग्लिश पोइसी* 1602 में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक **'लार्ड बकहर्स्ट'** को समर्पित की गयी थी। इसमें अंग्रेजी भाषा की प्रकृति के आधार पर कुछ छन्दों का तथा तुक का विवेचन किया गया है और यह स्थापना की गयी

---

1. *ए हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लिश लिटरेचर,* आर्थर काम्प्टन रिकेट, पृ. 88.

है कि तुक से कविता का चमत्कार बढ़ जाता है। तुक के पक्ष में सन् 1603 में **सैमुअल डेनियल** की रचना *डिफेन्स ऑफ् राइम (Defence of Rhyme)* एक महत्त्वपूर्ण आलेख है। तीस-चालीस पृष्ठों की इस पुस्तक में डेनियल ने अंग्रेजी छन्दों और तुक के पक्ष में भावनापूर्ण तर्क प्रस्तुत किये हैं। उनका मत है कि तुक का प्रभाव सार्वभौम है। उसे असभ्य लोग भी पसन्द करते हैं, क्योंकि वह उनकी भावनाओं को आन्दोलित कर देती है। उसे शिक्षित और सभ्य राष्ट्र व्यवहार में लाते हैं, क्योंकि वह उनके हृदय को स्पर्श करती है। वह सबको प्रभावित करती है, तो उसकी यह प्राकृतिक शक्ति है। तुक का कार्य है प्रसन्न करना और वह प्रसन्न करती है। अतः संसार को इसका आनन्द प्राप्त करना चाहिए। अलंकार शास्त्र के कठोर नियम भी इसके इस गुण को कम नहीं कर सकते। उसके लिए हम ग्रीक और लैटिन का अनुकरण क्यों करें? वे नियम उनके लिए स्वाभाविक हैं, तो हमारी भाषा के छन्द हमारे लिए स्वाभाविक हैं। कवि-प्रतिभा की उड़ान के लिए तुक और छन्द पंखों का कार्य करते हैं। इस प्रकार 'डेनियल' की पुस्तक में काव्य-निष्ठा, विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता सभी का समावेश है। आगे की पीढ़ी के सन्देहों को दूर कर अंग्रेजी काव्य-रचना के लिए इस पुस्तक से बड़ा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

डेनियल के उपरान्त **लार्ड बेकन** का उल्लेख किया जा सकता है। बेकन जैसे विचारक का कला और साहित्य पर गहराई से विचार करना, एक आश्चर्य की बात है। अपने निबन्धों में उन्होंने काव्य और कला पर कुछ विशिष्ट नहीं लिखा। परन्तु अपने ग्रन्थ *दि एडवान्समेण्ट ऑफ् लर्निंग (The Advancement of Learning)* की दूसरी पुस्तक के चतुर्थ अध्याय में काव्य से सम्बद्ध उनके विचार मिलते हैं, जो उनकी इस सम्बन्ध में कुछ निम्नकोटि की धारणा के परिचायक हैं। उनके विचार से कविता, ज्ञान का एक अंश है जो कल्पना से प्राप्त होता है। वह एक कपोलकल्पित इतिहास का रूप है जो मनुष्य के मन को सन्तोष प्रदान करने का उद्देश्य रखता है और जो असभ्यताकालीन युग में उपयोगी होकर प्रचलित था। वह दुःख और परिश्रम से पलायन का उपाय और इनका निदान है। इसका सम्बन्ध भाषण-कला से है और यह शैली का एक स्वरूप है। आजकल की भाषा में स्वच्छन्दता से नये छन्दों में पद्य-रचना वैसी ही है, जैसे नृत्य में स्वच्छन्द प्रयोग। इस प्रकार के विचारों से बेकन की दृष्टि में कविता की महत्त्वहीनता प्रकट होती है। स्वयं साहित्य का प्रयोक्ता होते हुए, उनके विचार साहित्य के सम्बन्ध में अच्छे नहीं हैं। इस बीच अन्य महत्त्व के साहित्य-चिन्तक प्राप्त नहीं होते।

बेन जानसन (Ben Jonson) (1573-1637) : बेन ज़ानसन का जन्म सन् 1573 ई. में अपने पिता की मृत्यु के एक महीने बाद हुआ था। इनकी माँ ने एक व्यापारी से दूसरा विवाह कर लिया। यद्यपि इनके बचपन के दिन गरीबी में बीते, पर इनकी शिक्षा पर इसका कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ा। वेस्ट मिन्स्टर स्कूल में इनकी माध्यमिक शिक्षा हुई और इसी अवस्था में इनके भीतर के कवि और नाटककार

का विकास हुआ। ग्रीक और लैटिन के महाग्रन्थों का भी अध्ययन इसी समय इन्होंने किया। पारिवारिक परिस्थितियों के कारण इन्हें फौज में भरती होना पड़ा। वहाँ से 1592 में लंदन वापस होने पर इन्होंने विवाह किया। उसके बाद इन्होंने नाटक लिखे और नाट्यगृहों में काम किया। ये कई बार जेल भी गये। बाद में ये सर बाल्टर रेले के सचिव रहे। इनकी ख्याति सन् 1618 से हुई जब इन्होंने लंदन से स्कॉटलैण्ड की पैदल यात्रा की। वहाँ की साहित्यिक संस्था ने इनका सम्मान किया और ये एडिनबरा में 'विलियम डूमाण्ड' के अतिथि रहे। उनके साथ वार्तालाप में इनकी बहुत-सी साहित्यिक मान्यताएँ स्पष्ट होती हैं। सन् 1620 में ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी ने एम.ए. की उपाधि से इन्हें सम्मानित किया। 1621-23 के बीच इनके विशाल पुस्तकालय में आग लग गयी, जिसमें इनकी अपनी भी कुछ कृतियाँ जलकर राख हो गयीं। कुछ समय तक ये बड़ी गरीबी में अपने दिन व्यतीत करते रहे। काफी समय तक रोग-ग्रस्त रहे और 6 अगस्त 1637 ई. में इनका देहावसान हुआ। इन्हें 'वेस्ट मिन्स्टर एबे' के 'पोयट्स कार्नर' (कवि-प्रकोष्ठ) में दफ़नाया गया। इनकी काव्य, नाटक और आलोचना की अनेक कृतियाँ हैं जिनसे यह निश्चय करना कठिन है कि ये नाटककार के रूप में बड़े थे या समीक्षक के रूप में।

एक आलोचक के रूप में इन्होंने अपने समवर्ती लेखकों की गहरी आलोचना की; पर वह आलोचना द्वेषभाव से प्रेरित न थी। शेक्सपीयर के नाटकों में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति की इन्होंने नाट्य-सिद्धान्तों के आधार पर तीखी आलोचना की, पर यह भी कहा कि उनके नाटक किसी एक युग के नहीं, वरन् सार्वकालिक हैं। उनकी आलोचना में ईमानदारी और उदारता देखने को मिलती है। जानसन अपने युग के बड़े साहित्यालोचकों में थे। इनकी रचना *डिस्कवरीज़ (Discoveries)* जो इनकी मृत्यु के बाद सन् 1641 में प्रकाशित हुई, एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें इन्होंने काव्य की रचना और शैली पर विचार किया है। इनका कथन है कि भाषा मनुष्य को सबसे अधिक प्रदर्शित करती है। शैली, लेखक का कोट या वस्त्र नहीं; वह उसका चर्म है। उनके विचारों पर प्राचीन और समकालीन इटैलियन साहित्यालोचकों का प्रभाव है, फिर भी इनका साहित्य का ज्ञान व्यापक, ठोस और परिपूर्ण था। आलोचना में उनके विचार व्यवस्थित थे। उनका विचार था कि कविता का महत्त्व उसके अर्थ के कारण होता है, वह भाषा या छन्द पर निर्भर नहीं है। उनका कहना था कि साहित्यकार को सर्वोत्तम लेखकों की कृतियों को पढ़ना चाहिए, उत्तम भाषणकर्त्ताओं को सुनना चाहिए और अपनी शैली का निर्माण करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।

बेन जानसन का कार्य आलोचक का ही अधिक है; साहित्य-चिन्तक का विशेष नहीं। अधिकांश लेख इनके नोट्स जैसे हैं। फिर भी यत्र-तत्र उनके विचार काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। उनका विचार है कि कविता के लिए केवल प्रकृति-प्रदत्त अच्छी प्रत्युत्पन्नमति ही आवश्यक नहीं, वरन् अध्ययन, कला, अनुकरण और अध्यवसाय या सतत प्रयत्न भी आवश्यक हैं। हास्य-कविता को उन्होंने भाषणपटुता

के समकक्ष माना है; क्योंकि उसका प्रभाव मन को घुमा देता है। उनके विचार से काव्य और नाटक के लिए संक्षिप्तता, शक्ति, विवेक (Perspicuity) प्रमुख गुण हैं। कवि सर्जक और रचनाकार होता है और इसी कारण वह अनुकरण करता है—अपने से अधिक सम्पन्न और महान् कवि का। मौलिकता शून्य में नहीं आती। कवि प्राचीन परम्पराओं और अर्वाचीन विचारणाओं एवं व्यवस्थाओं में परिवर्तन द्वारा नयी सृष्टि या रचना करता है। मौलिकता, उस क्षमता को कहते हैं जिसके द्वारा पुरानी वस्तु की सामग्री से नयी वस्तु निर्मित की जा सके। उनका यह भी विचार था कि कवियों की रचनाओं पर निर्णय वही. दे सकता है, जों स्वयं भी कवि हो।

बेन जानसन के विचार से कवि सर्जक या रचनाकार होता है। उसकी कला अनुकरण की कला होती है, जिसमें मानव-जीवन की, समुचित अनुपात, संख्या और सामंजस्य के साथ अभिव्यंजना होती है जैसा कि अरस्तू का मत है। कविता, कवि-कर्म होती है, यह उसका लक्ष्य और उसके परिश्रम का फल है। कवित्व (Poesy) उसकी कृति की कला या शिल्प होता है। इस प्रकार तीन बातें एक-दूसरी से भिन्न होती हैं—जो वस्तु रची जाती है, वह कविता है, उसका रचयिता कवि है तथा रचना-कार्य कवित्व है। कवित्व कवि की प्रकृति और उसकी कला है। यह कलाओं की रानी है। इसका उद्‌गम स्वर्ग है, वहाँ से वह हिब्रू, ग्रीक, लैटिनभाषी देशों तथा अन्य सभ्य राष्ट्रों को प्राप्त हुई। उसके अध्ययन से मानव-जाति को नियम, उत्तम जीवन व्यतीत करने के आदर्श तथा सभ्य समाज के कर्त्तव्य-निर्वाह का ढंग प्राप्त होता है। वह युवकों को शिक्षा, प्रौढ़ों को आनन्द प्रदान करती है। वह सम्पन्नता का अलंकार और विपत्ति की सान्त्वना है; घर में वह मनोरंजन करती है, बाहर सत्संग देती है और उत्तम गुणों का मार्गदर्शन करती है। उसके अध्ययन की विधि व्याकरण, तर्क, अलंकार और नीतिशास्त्र है।

कवि में सबसे पहला गुण उत्तम सहज प्रतिभा है; क्योंकि जहाँ पर अन्य कलायें नियमों और उपदेशों से सीखी जाती हैं, वहीं कविता कवि की सहज प्राकृतिक उद्‌भावना से, उसके मस्तिष्क के खजाने को प्रकट करती है। अच्छे कवि विरल होते हैं। परन्तु कवि को कविता लिखने के लिए परिश्रम और निष्ठा की आवश्यकता होती है। यह उसका दूसरा गुण है। सामान्य तुकबन्दी करनेवाले उच्च कवि नहीं होते हैं। कवि और तुक्कड़—दो अलग-अलग व्यक्ति होते हैं। उसका तीसरा गुण है अनुकरण या पुनः प्रस्तुतीकरण। वह दूसरे कवियों से और जीवन से उत्तम तत्त्वों का चुनाव करता है और उसे इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि वे हूबहू जीवन्त लगने लगें। वह सामग्री बाहर से ग्रहण करता है और उसे पचाकर पुनः नये रोचक और पोषक रूप में. देता है। उसका कार्य मधुमक्खी की तरह होता है जो सब फूलों का रस लेकर मधुर मधु के रूप में उसे परिवर्तित कर देती है। यही काम कवि का होता है जो जीवन और अध्ययन से सामग्री लेकर अपनी कला के द्वारा उसे एक पूर्ण कलाकृति बनाकर प्रस्तुत करता है।

यद्यपि उस युग तक परम्परागत काव्य-सम्बन्धी मान्यता स्वतन्त्रता, वैविध्य और रोमांस में निहित थी, परन्तु जानसन की रुचि इनके स्थान पर, नियम (अनुशासन), सामंजस्य और शास्त्रीयता में विशेष रूप में देखने को मिलती है।

जान ड्राइडन और उनका युग

बेन जानसन के उपरान्त 17वीं शताब्दी के मध्य में इंग्लैण्ड में स्वतन्त्र राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ। स्पेन के प्रभुत्व और महाद्वीपीय संघर्ष से वह मुक्त हुआ। रानी एलिज़ाबेथ के प्रति स्वामिभक्ति की भावना के साथ-साथ बेकन जैसे विचारकों में, शेक्सपीयर जैसे नाटककारों और मिल्टन की काव्य-कृतियों के परिणामस्वरूप एक राष्ट्रीय आत्मविश्वास देश में जाग्रत् हुआ। ड्राइडन के आगमन के साथ स्वच्छन्दतावाद के स्थान पर नव-शास्त्रवाद का श्रीगणेश हुआ, यद्यपि इसका आरम्भ बेन जानसन के साथ हो गया था; पर उसका पूर्ण समर्थन ड्राइडन के द्वारा हुआ। राजनीतिक परिवर्तन के साथ-साथ, फ्रान्स और इंग्लैण्ड के प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों के द्वारा इस प्रवृत्ति के विकास को बल मिला। इसमें कल्पनात्मक उत्साह के स्थान पर आलोचनात्मक प्रवृत्ति देखने को मिलती है। संवेदनात्मकता और रचनात्मकता का स्थान विश्लेषण और समीक्षण ने ले लिया। नव-शास्त्रवाद की विशिष्टताओं को संक्षेप में निम्नांकित रूप में व्यक्त किया जा सकता है—(1) स्वच्छन्दतावाद के स्थान पर शास्त्रवाद, (2) फ्रान्स का प्रभाव और राजकीय दरबार की स्वीकृति, (3) साहित्य के प्रति दृष्टिकोण का परिवर्तन, (4) साहित्य का नागरिक एवं राष्ट्रीय हितों की ओर झुकाव।

इस समय 'कॉफी हाउस' और विश्वविद्यालयों के डाइनिंग हाल तथा कुछ क्लब, साहित्य-चर्चा के स्थान बन गये और इस प्रकार एक व्यापक और उच्चकोटि की साहित्यिक अभिरुचि का विकास हुआ। जान ड्राइडन की इन स्थानों पर काफी प्रतिष्ठा थी।[1]

जान ड्राइडन (John Dryden) : ड्राइडन का जन्म सन् 1631 में नार्थेम्प्टनशायर में एक छोटे-से गाँव एल्ड्विकिल में हुआ था। इनके पिता रेवेरेण्ड इरैस्मस ड्राइडन वहाँ के रेक्टर थे। इनके बचपन की शिक्षा ठोस रीति से हुई थी। उसके बाद वे वेस्ट मिंस्टर स्कूल में पढ़े और इस प्रकार इन्हें उत्कृष्ट शासकीय शिक्षा प्राप्त हुई। वहीं इन्होंने काव्य-रचना का आरम्भ एक शोकगीत से किया। उसके बाद इनकी उच्च शिक्षा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के ट्रिनिटी कॉलेज में हुई। 1657 में इन्होंने कैम्ब्रिज छोड़ा—सात वर्ष रहकर। 1664 ई. में इनका विवाह हुआ। 1663 से इनकी रचनाओं में उत्कृष्टता की झलक मिलने लगी। इन्होंने नाटक लिखना आरम्भ किया, पर विशेष सफलता नहीं मिली। इनकी ख्याति सन् 1667 में लिखे नाटक *दि इण्डियन एम्परर* से फैली। इसी वर्ष इनकी उत्कृष्ट कविता-पुस्तक *एनंस मिराविलस* प्रकाशित हुई। 1669 में इनकी साहित्य-चिन्तन की कृति *एसे ऑन ड्रैमेटिक पोइसी* प्रकाशित हुई। इसके उपरान्त सन् 1670 में इन्हें

---

1. *ए हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लिश लिटरेचर,* पृ. 192 (काम्प्टन रिकेट).

'राष्ट्रकवि' (Poet Laureate) के पद से सम्मानित किया गया। इसके साथ ही ड्राइडन के आर्थिक अभाव समाप्त हुए और ये एक समृद्ध जीवन व्यतीत करने लगे, जिसका यह परिणाम हुआ कि लोग इनसे ईर्ष्या करने लगे। इस बीच इन्हें संघर्ष करना पड़ा; पर इनकी कई कृतियाँ प्रकाशित हुईं। इस प्रकार संघर्ष और सम्मान का जीवन व्यतीत करते हुए, ड्राइडन की मृत्यु सन् 1700 ई. में हुई और इन्हें चासर की कब्र के पास 'वेस्ट मिंस्टर एबे' में दफनाया गया।

ड्राइडन नाटककार, कवि और लेखक—तीन रूपों में सामने आते हैं। इनके साहित्य-सम्बन्धी विचार गद्य-रचनाओं में प्रकट हुए हैं। ड्राइडन सुअधीत व्यक्ति थे। प्राचीन साहित्य का इन्हें ज्ञान था और आधुनिक विचारों की चेतना से ये युक्त थे। इनकी गणना अंग्रेजी के उत्कृष्ट आलोचकों में होती है। इनके साहित्य-सम्बन्धी विचार *एसे ऑन ड्रैमेटिक पोइसी* में तथा नाटक *दि इण्डियन एम्परर* और *राइवल लेडीज़ (Rival Ladies)* तथा काव्य-ग्रन्थ *एनंस मिराविलस* की भूमिका में देखने को मिलते हैं। ड्राइडन का विचार था कि शब्दावली और छन्द, केवल हमारे कानों को मधुर लगनेवाले और ध्यान को आकृष्ट करनेवाले ही नहीं होते, वरन् वे उस समस्त आनन्द के मूल होते हैं, जो हमें साहित्य से प्राप्त होता है। यही आनन्द, साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी होता है। उनका मत था कि साहित्य सामान्यतया और कविता विशेषतया हमें उपदेश तो देती ही है, पर निश्चित रूप से आनन्द भी प्रदान करती है।

अपने नाटक 'राइवल लेडीज़' की भूमिका में वे नाटक के लिए भी पद्य का उपयोग उचित बताते हैं—आगे चलकर उन्होंने अपना मत बदल दिया था। नाटक में ड्राइडन ने त्वरित बुद्धि (Wit) को विशेष महत्त्व दिया। यह त्वरित बुद्धि की बात राजदरबार के प्रभाव के कारण आयी थी। सुखान्त नाटकों को वह सामाजिक बुराइयों के सुधार का सबल माध्यम नहीं मानते थे, जबकि दुःखान्त नाटक सबल माध्यम होता है। व्यंग्य नाटक (Satire) वास्तव में किसी व्यक्ति के ऊपर प्रहार नहीं करता। वह समाज के लोगों की बुराइयों पर प्रहार करता है। ड्राइडन ने संकलनमय को भी महत्त्व दिया है। अनुकृति को ड्राइडन ने सादृश्य के आधार पर पुनः प्रस्तुतीकरण माना है और उसे मूल से भी अधिक महत्त्व दिया। उनका विचार था कि साहित्य, किसी राष्ट्र के बौद्धिक जीवन का व्यापक सार है। इस प्रकार कई पुराने विषयों पर इनके विचार मौलिक हैं। ड्राइडन भी आलोचक ही थे, साहित्य-चिन्तक उतने नहीं।

जोसेफ़ एडीसन (1672-1719) : जोसेफ़ एडीसन ने अपने लेखों के द्वारा एक नयी सामाजिक शिष्टता और संस्कृति पैदा की थी। उस समय शुद्ध कट्टर आदर्शवादिता और स्वच्छन्द आनन्दवादिता के दो साहित्य-समुदाय थे। समर्थ लेखक इन दोनों समुदायों की अच्छी बातें ग्रहण करके अपना कार्य कर रहे थे। दोनों ही अलग-अलग भी एक-दूसरे की विशेषताएँ अपना रहे थे। दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित करने में 'एडीसन' का कार्य और प्रभाव विलक्षण था।

एडीसन का जन्म 1 मई 1672 को हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा 'चार्टर हाउस' में हुई। सन् 1687 में वे ऑक्सफोर्ड के क्वीन्स कॉलेज में दाखिल हुए और बाद में मैग्डालेन कॉलेज में पढ़े। उसी समय इनकी काफी साहित्यिक ख्याति हो गयी थी। आगे चलकर इन्होंने फ्रांस और इटली की यात्रायें कीं जिनके वर्णन इनके लेखों को रोचक बनाते हैं। कवि के रूप में इनकी उत्तम ख्याति नहीं थी, पर निबन्धकार के रूप में ये बड़े प्रभावशाली थे। अपने शिष्ट सामाजिक गुणों के कारण इनकी मित्रमण्डली काफी बड़ी थी जिनमें 'स्टील' और 'जोनाथन स्विफ़्ट' जैसे लेखक भी थे। ये पहले स्टील द्वारा सम्पादित 'टैटलर' में लिखते रहे; बाद में मार्च 1711 में इन्होंने अपना 'स्पेक्टेटर' नामक पत्र निकाला जिसकी 555 संख्यायें प्रकाशित हुईं और इस पत्र का बड़ा प्रचार हुआ तथा अंग्रेजी साहित्य में इसका महत्त्वपूर्ण यशस्वी स्थान बन गया। इन्होंने नाटक भी लिखे; पर इनकी मूल ख्याति निबन्धकार के रूप में हुई। ये निबन्ध प्रायः 'गार्जियन' नामकं पत्र में प्रकाशित हुए। 1716 में इनका विवाह हुआ; पर इनका वैवाहिक जीवन सुखद और शान्तिपूर्ण नहीं रहा। 1718 से इनका स्वास्थ्य खराब हुआ और दमा से पीड़ित एडीसन का 17 जून सन् 1719 में 47 वर्ष की अवस्था में देहावसान हो गया।

एडीसन के लिए कहा जाता है कि उन्होंने अंग्रेजी गद्य का निर्माण भी किया और उसको पूर्णता भी प्रदान की जिससे वह सामाजिक विचारों का शक्तिमान् वाहक बन सका। उनकी अपनी गद्य-शैली थी। गद्य के सम्बन्ध में उनका विचार था कि उसमें विरामचिह्न, उपसर्ग, प्रत्यय आदि सभी शुद्ध होने चाहिए। एडीसन वास्तव में एक विचारक थे। प्रकृति, कल्पना, कला और साहित्य के सम्बन्ध में उनके विश्लेषण मौलिक हैं। वे कल्पना को मानव-आनन्द का एक महत्त्वपूर्ण और प्रबल उपादान मानते हैं। अपने लेख 'प्लेजर्स ऑफ् इमैजिनेशन' में कल्पना के कार्य पर उन्होंने विस्तार से विचार किया है। कल्पना सर्वप्रथम प्रत्यक्ष दृश्य से प्रभावित होती है। यदि दृश्य असाधारण, भव्य, विराट् या नव्यता से युक्त होता है, तो हमारी अन्तरात्मा भी प्रभावित और प्रफुल्लित होती है।

उनके विचार से आत्मा पर सीधे प्रभाव डालने वाला तत्त्व सौन्दर्य है। कल्पना के माध्यम से वह हमें आन्तरिक सन्तुष्टि प्रदान करता है। सौन्दर्य का प्रथम दर्शन ही हमारे मन को आन्तरिक उल्लास से भर देता है और प्रसन्नता और आनन्द को हमारे अन्तःकरण में बिखेर देता है। सौन्दर्य के सम्बन्ध में प्रत्येक की अपनी निजी दृष्टि और भावना होती है। हमारी कल्पना महान्, विचित्र या सुन्दर से प्रभावित होती है। इनकी जितनी पूर्णता किसी वस्तु या व्यक्ति में मिलती है, हमारा आनन्द उतना ही बढ़ जाता है। दृश्य-सौन्दर्य के साथ-साथ अगर रंग, ध्वनि, सुगन्धि की भी विशेषता होती है, तो उसका विशेष प्रभाव पड़ता है।

प्रत्यक्ष देखी वस्तु या पदार्थ के आधार पर कल्पना उसके समान, उससे बड़ा, विशिष्ट और अधिक पूर्ण रूप प्रस्तुत करती है—कभी मूर्ति में, कभी चित्र में तथा

कभी संगीत और काव्य में। इनमें कल्पना का दूसरे प्रकार का आनन्द रहता है जो मन की क्रियाशीलता से प्राप्त होता है। यही आनन्द कला-कृतियों का आनन्द है। इन कलाकृतियों में शब्द के माध्यम से प्रकट काव्य का अलग स्थान है। ठीक शब्दों में किया गया वर्णन मूल वस्तु या दृश्य से भी अधिक रोचक होता है, उसमें अधिक सौन्दर्य होता है। प्रकृति का काव्य में वर्णन अधिक प्रभावशाली होता है और उसमें सौन्दर्य का अधिक निखार रहता है अपेक्षाकृत प्रकृति के प्रत्यक्ष दर्शन के। उसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष दर्शन में प्रकृति का सीमित दृश्य रहता है और कवि के वर्णन में पूरा अनिर्बन्ध रूप प्रकट होता है, ऐसा रूप भी जो शायद हम प्रत्यक्ष रूप में न देख सके हों। इतना ही नहीं, उस वर्णन को प्रत्येक पाठक अपनी कल्पना के हिसाब से शब्दों और भाषा के द्वारा ग्रहण करता है। यह भिन्न-भिन्न आस्वाद अपनी कल्पना की पूर्णता के आधार पर शब्दों के ग्रहण किये गये अर्थों के द्वारा प्राप्त होता है। यह आस्वाद या आनन्द सभी को एक-सा नहीं मिलता; जिनकी सुरुचि उत्तम है और कल्पना स्वच्छ है, वे अधिक गहरा आस्वाद प्राप्त करते हैं। कल्पना के साथ-साथ उनमें शब्दों और पदों के भीतर निहित अर्थ सौन्दर्य को समझने की भी क्षमता होती है। कवि की कल्पना भी ताजी होनी चाहिए जिससे वह किसी वस्तु का बिम्ब या प्रभाव ठीक ग्रहण कर, उसको ठीक सुसज्जित अभिव्यक्ति दे सके। यह काम मोटी कल्पनावाला व्यक्ति नहीं कर सकता। सौन्दर्य के आनन्द और बिम्ब-ग्रहण की क्षमता मानव-मस्तिष्क की विशेषता है।

एडीसन ने परिष्कृत अभिरुचि को भी बड़ा महत्त्व दिया है। उनके मतानुसार अभिरुचि की तीन मुख्य विशिष्टताएँ होती हैं—(1) प्राचीन ग्रन्थों के प्रति लगाव; (2) लेखकों की विशिष्टताओं का परिज्ञान; तथा (3) अभिव्यक्ति की विविधता का परिचय। सुरुचि के साथ-साथ वे साहित्यकार की प्रतिभा को प्रमुख स्थान देते थे। अनुकरण को स्वीकार करते हुए भी वे कवि को उसकी रचनात्मक कल्पना द्वारा प्रकृति को प्रभावी रूप में प्रस्तुत करने में सक्षम मानते थे।

इस प्रकार एडीसन वास्तव में एक कला-साहित्य-चिन्तक थे और उनके विचार महत्त्वपूर्ण हैं।

अलेक्ज़ेण्डर पोप (1688-1744) : अलेक्ज़ेण्डर पोप का जन्म सन् 1688 ई. में लम्बार्ट स्ट्रीट में हुआ था। बचपन से ही ये कोमल और रुग्ण स्वास्थ्य के दुर्बल व्यक्ति थे, पर उनकी बुद्धि तीव्र थी। उन्हें पढ़ने-लिखने के अतिरिक्त कोई और शौक न था। उनकी शिक्षा सामान्य रूप से हुई। अपनी युवावस्था तक उन्होंने सुप्रसिद्ध नाटकों और महाकाव्यों का अध्ययन कर लिया था। उन्होंने सत्य के अन्वेषण पर उतना समय व्यतीत नहीं किया, जितना शैली के अन्वेषण में। साहित्यालोचना-सम्बन्धी इनकी दो कृतियाँ प्रसिद्ध हैं—(1) *एसे ऑन क्रिटिसिज़्म (Essay on Criticism)* और (2) *इपिसिल टु आगस्टस (Epistle to Augustus)*। इन ग्रन्थों में इन्होंने शैली के लालित्य और रूप-रचना की मृदुता पर विशेष रूप से विचार किया है। इनके

इन ग्रन्थों का अच्छा प्रभाव पड़ा। काव्य के शिल्प को पोप विशेष महत्त्व देते थे। उनकी दृष्टि से एक बुरा आलोचक, बुरे कवि से अधिक खतरनाक होता है। सच्ची साहित्यिक अभिरुचि उतनी ही विरल है, जितनी सच्ची प्रतिभा। कुरुचि का कारण कुत्सित शिक्षा होती है। प्राचीन कवियों से हमें सदैव प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। एक प्रबुद्ध आलोचक की विशेषता—उसकी निष्ठा, तटस्थता, गुणग्राहकता, सद्भाव और शिष्टता में निहित रहती है। अज्ञान, दलबन्दी और वैयक्तिक ईर्ष्या-द्वेष आलोचक के दुर्गुण हैं।

पोप त्वरित बुद्धि चमत्कार (Wit) को कल्पना की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते थे। कल्पना में भावुकता, वैचारिकता के ऊपर हावी हो जाती है। जिस साहित्य में कल्पना केन्द्रीभूत शक्ति रहती है, वह रोमाण्टिक साहित्य होता है। बौद्धिक चमत्कार (Wit) विभिन्नताओं और मतभेदों के बीच झाँककर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है। बुद्धि-चमत्कार ही प्रभावशाली व्यंग्य काव्य (Satire) की रचना करता है। पोप ने बुद्धि-चमत्कार के साथ ही साथ औचित्य (Correctness) को भी रचना के लिए आवश्यक माना। उन्होंने प्रकृति को रचना की प्रेरणा देनेवाली शक्ति के रूप में स्वीकार किया और उसे स्पष्ट एवं सार्वभौम प्रकाश-तत्त्व के रूप में देखा था। यों अलेक्जेण़्डर पोप मुख्यतया कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं—साहित्य-चिन्तक के रूप में नहीं; क्योंकि इन्होंने अपने आलोचनात्मक विचार भी पद्य में लिखे। फिर भी उनके विचार आलोचना के इतिहास में महत्त्व रखते हैं। जीवनभर रुग्ण और दुर्बल रहकर शारीरिक कष्ट झेलते हुए उन्होंने 30 मई सन् 1744 ई. में अपना शरीर त्याग दिया।

डॉ. सैमुयेल जानसन (1709-1784) : डॉ. सैमुयेल जानसन अंग्रेजी के अत्यन्त सुप्रसिद्ध लेखकों में गिने जाते हैं। लगभग पचास वर्षों तक जानसन का वर्चस्व समकालीन अंग्रेजी साहित्य-जगत् पर छाया रहा। अपने समय के सामाजिक एवं नैतिक जीवन की आलोचना इनका प्रमुख कार्य रहा। परन्तु अपने सामयिक जीवन का शायद ही कोई पक्ष हो, जिस पर उनके प्रबल व्यक्तित्व का प्रभाव न पड़ा हो। डॉ. जानसन का जन्म सन् 1709 ई. में लिचफ़ील्ड में हुआ था। इनके पिता एक गरीब पुस्तक-विक्रेता थे। ये बड़ी हीन स्थिति में लन्दन आये थे। इनके जीवन का विस्तृत विवरण जेम्स बोस्वेल द्वारा लिखित जानसन की जीवनी में प्राप्त होता है। ये अपने समय के साहित्यिक डिक्टेटर थे। इन्होंने कई पत्रों का सम्पादन किया और अनेक पत्रों में लेख लिखे। 1762 से, जब इन्हें 300 पौण्ड की पेंशन मिलने लगी, इनका भाग्य चमका। ये साहित्यिक क्लब के सदस्य हुए जिसमें बर्क, गोल्डस्मिथ, गिबन जैसे प्रख्यात व्यक्ति सम्मिलित थे। 1775 ई. में ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी ने इन्हें डॉक्टर की उपाधि दी। इस समय इनकी ख्याति चारों तरफ छा गयी थी। इनकी मित्र-मण्डली भी काफी बड़ी थी। उसके बीच एक प्रभावशाली साहित्य-पुरुष के रूप में जीवन व्यतीत करते हुए 13 दिसम्बर सन् 1784 ई. में इन्होंने इहलीला समाप्त की और इनके पार्थिव शरीर को वेस्ट मिंस्टर एबे में दफनाया गया।

डॉ. जानसन अपने कृतित्व के आधार पर हमारे समक्ष एक आलोचक के रूप में ही आते हैं, साहित्य-चिन्तक के रूप में सिद्धान्त या शास्त्र प्रस्तुत करनेवाले नहीं। उनके साहित्यिक विचार हमें चार स्रोतों से उपलब्ध होते हैं—(1) पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख, (2) शब्दकोश-सम्बन्धी कार्य, (3) कवियों की जीवनी और रचनाओं पर लिखे गये लेख, और (4) शेक्सपीयर के नाटकों की भूमिका। जानसन की समीक्षा नवशास्त्रीयता पर आधारित है, फिर भी वे उससे बहुत अधिक बँधे हुए नहीं जान पड़ते। शेक्सपीयर के नाटकों की आलोचना उन्होंने प्राचीन शास्त्रीय आधार पर ही की है, पर शेक्सपीयर के द्वारा की गयी परम्परा से हटकर प्रयोगों की वे सराहना भी कर सके हैं। शेक्सपीयर द्वारा प्रसादान्त-विषादान्त दोनों प्रयोगों के प्रस्तुतीकरण को जानसन ने दोष के रूप में नहीं देखा है। संकलनत्रय की कसौटी पर भी उन्होंने नाटकों को कसा है और उनके न पालन के कारण भी ढूँढ़ निकाले हैं। परन्तु कठोर नियमों की कसौटी पर कसनेवाले आलोचकों की भी आलोचना कर, शेक्सपीयर के नाटकों की प्रशंसा भी जानसन ने भरपूर की है। उनका कथन है कि लेखन या साहित्य का उद्देश्य शिक्षा देना है और कविता का उद्देश्य आनन्द के साथ शिक्षा देना है। इस प्रकार शेक्सपीयर के जो विषादान्त नाटकों में हास्य है, उससे भी हमें शिक्षा प्राप्त होती है।

जानसन का विचार है कि प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक ऐसी शैली होती है, जो कभी पुरानी नहीं पड़ती है। इसके अन्तर्गत कुछ पद-प्रयोग का ढंग, कुछ सुरुचिपूर्ण सादृश्य, कुछ भाषागत नियम होते हैं जो जीवन के वार्तालाप में व्यवहृत बोली में खोजे जाते हैं। उनमें कुछ ग्राम्य तत्त्व भी होते हैं। अधिक शिष्ट-समुदाय में उनके स्थान पर नये शब्दों का प्रयोग होने लगता है, जबकि वे ग्राम्य शब्द ही अधिक उचित होते हैं। शेक्सपीयर ने ऐसी शब्दावली को तिरस्कृत नहीं किया। इसलिए वह बोलचाल की भाषा के अधिक समीप है। पर जानसन ने शेक्सपीयर की इस प्रवृत्ति की आलोचना की है कि वह शिक्षा देने के स्थान पर लोगों का मनोरंजन करता है। उसकी रचना का कोई नैतिक उद्देश्य नहीं है। उसके कथानक कसे हुए नहीं हैं। संकलनत्रय का परिपालन भी नहीं है।

इस प्रकार जानसन को नवशास्त्रवादियों का प्रतिनिधि मात्र कहना ठीक नहीं है। कई विशिष्टताओं और अभिरुचियों को अपनाते हुए भी, अनेक महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर वे उनसे अलग हैं। जानसन को स्वच्छन्दतावादी भी नहीं कहा जा सकता। वे उन आलोचकों में हैं जो कला को जीवन के रूप में देखते हैं। उनके विचार से कला नैतिक या मनोवैज्ञानिक सत्य को सम्प्रेषित करने का वाहन या माध्यम है। अनेक स्थलों पर उनका यह मत व्यक्त हुआ है कि साहित्य, जीवन की वास्तविक बातों और घटित हुए कार्यों का सही प्रकाशन है और कथा-साहित्य का लक्ष्य सत्य का सम्प्रेषण है। साहित्य द्वारा सत्य के उद्घाटन पर जानसन ने बार-बार बल दिया है।

सत्य और वास्तविकता के साथ-साथ दूसरी बात नैतिकता है जिसे वे साहित्य में आवश्यक मानते हैं। उनका यह भी मत है कि साहित्य प्राचीन लेखकों का अनुकरण नहीं, वरन् वह सामान्य प्रकृति का, सामान्य जीवन और रहन-सहन के ढंग का पुनः प्रस्तुतीकरण है, क्योंकि प्रकृति और तर्क सदैव एक-से रहते हैं। सौन्दर्य के सम्बन्ध में जानसन के विचार नहीं मिलते। साहित्यगत सौन्दर्य उनकी दृष्टि से भाषा, छन्दविधान, और ध्वनि के माधुर्य पर निर्भर करता है। कल्पना और अलंकारों के सम्बन्ध में उनके विचार नहीं मिलते। साहित्य में इतिहास-बोध के वे पक्षपाती हैं। उन्हें उदार नवशास्त्रवादी कहा जा सकता है।

नवशास्त्रवाद या परम्परागत रीतिवाद की प्रतिक्रिया अंग्रेजी साहित्य में व्यापक रीति से हुई। इसका काफी अंशों तक कारण, जर्मन विचारक काण्ट और हीगेल का दर्शन तथा फ्रांसीसी आलोचक वाल्टेयर तथा बोइलो के विचारों का प्रभाव था। अठारहवीं शती के मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य तक स्वच्छन्दतावाद का पुनरुत्थान-काल कहा जा सकता है। इस बीच अंग्रेजी साहित्य ने बड़े-बड़े सौन्दर्यप्रेमी और प्रकृति पर रीझनेवाले ऐसे प्रख्यात कवियों को प्रकट किया, जिनका प्रभाव विश्वभर के साहित्य पर पड़ा और विशेष रूप से भारतीय साहित्य के बंगला और हिन्दी-काव्य पर। यद्यपि यह प्रभाव नितान्त समवर्ती नहीं था। इसको बाहर पहुँचते-पहुँचते अर्द्धशताब्दी का समय लग गया, फिर भी प्रभाव बड़ा गहरा पड़ा। वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली और कीट्स सर्वाधिक विख्यात कवि हो गये। इनका प्रभाव रवीन्द्रनाथ टैगोर, जयशंकर प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी पर पड़ा। हिन्दी-साहित्य का छायावाद और स्वच्छन्दतावाद इन्हीं के प्रभाव का परिणाम कहा जा सकता है।

अंग्रेजी साहित्य में भी स्वच्छन्दतावाद की धूम मच गयी। यद्यपि कवि के रूप में वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली और कीट्स की ख्याति है, पर स्वच्छन्दतावाद विचारक के रूप में भी वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज तथा शेली का ही विशेष महत्त्व है। इन्होंने परम्परा से अलग होकर तथा सामाजिक बन्धनों को ठुकराकर काव्य, कला और सौन्दर्य के सम्बन्ध में अपने विचारों को व्यक्त किया जिसका प्रभाव सौन्दर्य-दृष्टि के निर्माण और काव्य-रचना दोनों पर पड़ा।

सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन के अतिरिक्त स्वच्छन्दतावादी चेतना के उदय और विकास के कारण ईसाई-धर्म में प्रोटेस्टैण्ट मत का विकास तथा औद्योगिक क्रान्ति भी थी। प्रोटेस्टैण्ट आन्दोलन ने यह सिद्ध कर दिया कि नवीन चिन्तन का, परम्परागत धर्म के भीतर भी अवकाश है तथा औद्योगिक क्रान्ति के स्वतन्त्र चिन्तन तथा भौतिकतावादी सौन्दर्य-दृष्टि को प्रोत्साहित किया। परिणामस्वरूप नवजागरण और नयी व्यवस्था, परम्परावादी रूढ़ियों के स्थान पर आने लगीं। अभी तक तटस्थ और परम्परा या शास्त्र समर्पित जीवन चल रहा था। उसके स्थान पर वैयक्तिकता और स्वच्छन्दता आने लगी जिससे काव्य और काल-चेतना गहराई से प्रभावित हुई। फलस्वरूप कवि के व्यक्तित्व और नयी काव्यभाषा का विकास हुआ। भावुकता, कल्पनाशीलता और स्वतन्त्र प्रकृति

चित्रण को स्थान मिला और काव्य-रचना में एक नव्यता और ताज़गी आ गयी। अतः काव्यशास्त्रीय चिन्तन में भी नवीनता आयी। इन चिन्तकों में विलियम वर्ड्सवर्थ और सैमुअल टेलर कॉलरिज अग्रगण्य हैं।

विलियम वर्ड्सवर्थ : विलियम वर्ड्सवर्थ का जन्म 7 अप्रैल 1770 ई. में 'काकर माउथ' में हुआ था। इनके पिता का नाम जान वर्ड्सवर्थ था। ये अपने पिता के द्वितीय पुत्र थे। इनके माता-पिता का बचपन में ही देहावसान हो गया था, फिर भी अध्ययन में इनकी व्यापक और गहरी रुचि थी। 1787 में ये अध्ययन हेतु कैम्ब्रिज के सेण्ट जान्स कॉलेज में गये, जिसके वातावरण और गतिविधि का चित्रण इनकी रचनाओं में हुआ है। उस काल में ये प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति बड़े संवेदनशील और विचारमग्न रहते थे। ग्राम्य प्रकृति और सादे जीवन के प्रति इनके मन में गहरा आकर्षण था। इन्होंने फ्रान्स और स्विट्ज़रलैण्ड का भ्रमण किया तथा इनके मन में नये विचारों का उदय हुआ। 1802 में इनका विवाह हुआ। 1805 में इन्होंने प्रसिद्ध आत्मकथात्मक कविता 'प्रिल्यूड' की रचना की, पर इसके उत्तरार्द्ध 'रिक्लूज' की रचना ये पूरी न कर सके। 1843 में इन्हें राजकवि का सम्मान प्राप्त हुआ। ये सदैव विचारशील व्यक्ति रहे। इनका प्रकृति-प्रेम बड़ा गहरा था जो इनकी रचनाओं में सर्वत्र देखने को मिलता है। आगे चलकर यह प्रकृति-प्रेम, मानव-प्रेम में परिणत हो गया। सादी, बाइरन, कॉलरिज, शेली, कीट्स आदि प्रसिद्ध कवि इनके समकालीन थे। ये सन् 1850 तक जीवित रहे।

विलियम वर्ड्सवर्थ के काव्य-रचना-सम्बन्धी विचार विशेष रूप से इनके *प्रिफेस टु लिरिकल बैलेड्स* में प्राप्त होते हैं। वर्ड्सवर्थ के ये विचार अपने समय के परिप्रेक्ष्य में नये और मौलिक हैं, जो पूर्ववर्ती परम्परागत विचारों से अलग हैं।

उनके विचार से कविता में उन घटनाओं और परिस्थितियों का वर्णन होना चाहिए जो सामान्य जीवन में घटित होती रहती हैं। इसके साथ ही उनकी भाषा भी उसी भाषा के भण्डार से चुनी जानी चाहिए जिसका प्रयोग जनसाधारण में होता रहता है। अन्तर कविता की भाषा में यह हो जाता है कि उसमें कल्पना का रंग भर दिया जाता है जिससे सामान्य वस्तु में भी एक असाधारणता और नवीनता आ जाती है। जनसामान्य की भाषा के चयन से वस्तुएँ और घटनायें अधिक प्रभावशाली और सही रूप में संप्रेषित की जा सकती हैं। वे बनावटी और आडम्बरपूर्ण भाषा के व्यवहार के विरोधी थे।[1]

उनका मत था कि सभी अच्छी कविता, जोरदार भावनाओं की सहज और स्वतः स्फूर्त उद्गार होती है, परन्तु ऐसी कविता के रचयिता कवि ने बहुत समय तक गहराई से विचार किया होता है; क्योंकि विचार हमारी अतीत की अनुभूतियों पर आधारित रहते हैं। कविता के लिए उसका विषय भी महत्त्वपूर्ण होता है। उनका विश्वास था कि मानव-मन के भीतर कुछ सहज अनश्वर गुणों का निवास होता है। और इसी प्रकार बाह्य जगत् के स्थायी

---

1. *प्रिफेस टु लिरिकल बैलेड्स,* पृ. 1.

और महान् तत्त्वों के भीतर एक शक्ति रहती है। वह भी अनश्वर और प्राकृतिक है, जो मन पर प्रभाव डालती है। अतः बुराई का विरोध सफलता के साथ शक्तिशाली व्यक्तियों और तत्त्वों के द्वारा होता रहता है। यह सत्य कवि को प्रेरणा देता रहता है और वह उसका उद्घाटन करता रहता है।[1]

शैली के सम्बन्ध में वर्ड्सवर्थ ने बार-बार कहा है कि उसमें जनसामान्य में प्रचलित भाषा का व्यवहार होना चाहिए। उसमें अलंकारों का प्रयोग भी हो सकता है; पर यान्त्रिक ढंग पर उनकी भरमार नहीं, वरन् सहज स्वाभाविक व्यवहार ही वांछनीय है, जिससे वह भाषा-शैली, लोक में व्यवहृत भाषा के निकट बनी रहे। इससे वर्णन में सच्चाई रहती है। यह भाषा गद्य की भाषा से भी अधिक भिन्न नहीं होती। भिन्नता केवल छन्द के कारण होती है। कविता की भाषा जनसामान्य की भाषा से चुनी जाती है, पर उसमें प्रयुक्त गँवारपन, फूहड़पन को दूर कर उसे सुरुचि-सम्पन्न बनाया जाता है।[2]

वर्ड्सवर्थ ने कवि और कविता के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न उठाये और उनके उत्तर में अपने विचार प्रकट किये हैं। कवि शब्द का क्या अर्थ है? कवि क्या है? वह किसको सम्बोधित कर लिखता है? और उससे किस प्रकार के भाषा-व्यवहार की अपेक्षा की जाती है? उत्तर में वे कहते हैं कि कवि मानव है और मानव से ही वार्तालाप करता है; परन्तु वह ऐसा मानव होता है जो अन्यों से अधिक और जीवन्त संवेदना-सम्पन्न होता है। उसमें अधिक कोमलता और उत्साह होता है। उसमें मानव-प्रकृति का गहरा ज्ञान होता है तथा उसकी आत्मा विशाल होती है। वह सामान्यजनों की अपेक्षा जीवन की गति में अधिक रमता और आनन्द लेता है। उसकी सबसे बड़ी शक्ति यह है कि वह अप्रस्तुत वस्तुओं को प्रत्यक्ष वस्तुओं के समान प्रस्तुत करता है।

अरस्तू के मत से सहमत होते हुए वर्ड्सवर्थ, कविता को अन्य सभी रचनाओं से अधिक दार्शनिक मानते हैं; क्योंकि इसका ध्येय सत्य है—वह सत्य जो वैयक्तिक या स्थानीय न होकर सामान्य और व्यावहारिक है तथा जिसको सिद्ध करने के लिए किसी बाहरी प्रमाण की आवश्यकता नहीं, वरन् वह वासना के द्वारा हृदय में जीवन्त रूप से प्रवेश करता है और अपना प्रमाण स्वयं ही है। कविता मानव और प्रकृति का बिम्ब है। इनकी सचाई व्यक्त करने के लिए कविता को उन व्यवधानों का सामना नहीं करना पड़ता जितना इतिहासकार या जीवनी-लेखक को करना पड़ता है। कवि तुरन्त आनन्द प्रदान करता है—डॉक्टर, वकील, ज्योतिषी, दार्शनिक आदि की तरह नहीं वरन् मनुष्य की तरह। कवि को रचना द्वारा आनन्द प्रदान करना, कला की तौहीन नहीं, वरन् गरिमा है। यह विश्व के सौन्दर्य की अनुभूतिमय स्वीकृति है जो औपचारिक न होकर सच्ची और परोक्ष है। वह संसार को प्रेम की भावना से देखता है। उसकी कविता, मानव की सहज गरिमा के प्रति सम्मान-भाव है। आनन्द के सहज सिद्धान्त से ही कवि ज्ञान और अनुभव प्राप्त करता है। उसी में वह रहता और चलता-फिरता है।

---

1. *प्रिफेस टु लिरिकल बैलेड्स*, पृ. 2,3.
2. वही, पृ. 5.

कवि की दृष्टि में मानव और प्रकृति तत्त्वतः एक-दूसरे के लिए ही हैं और मानव-मन, प्रकृति के सुन्दर और रोचक गुणों का दर्पण है। इसी प्रकार कविता ज्ञान का सूक्ष्म तत्त्व और उसका प्राण-वायु है। ज्ञान का आरम्भ और अन्त कविता ही है। इस प्रकार वर्ड्सवर्थ के काव्य-सम्बन्धी विचार भावुकतापूर्ण होते हुए भी व्यावहारिक और तत्त्वपूर्ण हैं।[1]

सैमुअल टेलर कॉलरिज (Samuel Taylor Coleridge) (1772-1834) : सैमुअल टेलर कॉलरिज का जन्म 23 अक्टूबर सन् 1772 ई. में 'ओटरी सेण्ट मेरी' में हुआ था। इन्हें अपने पिता की अपेक्षा अपनी माता से जीवन की प्रगति का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। पर आगे चलकर उनकी छत्रछाया भी उठ गयी। इनके लन्दन-निवासी चाचा ने इन्हें कॉफी हाउस और शराबखाने का शौकीन बना दिया। ये काहिल और कल्पना में खोये हुए व्यक्ति का जीवन व्यतीत करने लगे। इन्होंने चर्मकार के काम से लेकर 'होमर' के अध्ययन तक के विविध प्रकार के काम किये। सन् 1791 से '94 तक कैम्ब्रिज में जीसस कॉलेज में पढ़े और रिपब्लिकन दल के नेता रहे। आगे मानव-जाति के सुधार-कार्य में कुछ दिन लगे। सन् 1796 में इन्होंने अपने एक मित्र की सहायता से अपना कविता-संग्रह प्रकाशित किया। उसके एक वर्ष बाद 1797 में इनकी भेंट विलियम वर्ड्सवर्थ से हुई और दोनों घनिष्ठ मित्र बन गये। वर्ड्सवर्थ और उनकी बहन 'डोरोथी' का इनके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा जिससे कॉलरिज की कल्पना-शक्ति को प्रेरणा मिली।

सन् 1795 में इनका विवाह हुआ; पर वैवाहिक जीवन सुखपूर्ण नहीं रहा। 1807 ई. में इन्होंने धार्मिक जीवन ग्रहण किया; पर कुछ दिन बाद फिर राजनीति में प्रवेश किया। पुनः वर्ड्सवर्थ के साथ 'लिरिकल बैलेड्स' के प्रकाशन से दोनों कवियों को यश मिला। तदनन्तर कॉलरिज का स्वास्थ्य खराब हो गया और शारीरिक पीड़ा दूर करने के लिए इन्होंने अफीम खाना शुरू किया। इससे कुछ दिन तक तो लाभ हुआ, पर आगे पुनः स्वास्थ्य गिरने लगा। अफीम की इन्हें लत पड़ गयी थी जिससे ये सदैव विषाद-ग्रस्त रहने लगे थे। उससे इनकी कल्पना-शक्ति तो कभी-कभी उत्तेजित हो जाती थी; परन्तु इनके चित्त की एकाग्रता खण्डित हो जाती थी। इसी बीच 'कॉलरिज' ने माल्टा और इटली की यात्रा की। उसका इनके स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ा। कुछ समय के लिए इन्होंने लंदन में व्याख्यान दिये। स्वास्थ्य-सम्बन्धी व्यवधान के बावजूद वे बड़े सफल रहे। आगे इन्होंने शेक्सपीयर पर व्याख्यान दिये, जो अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए।

सन् 1819 से आर्थिक संकट, मित्रों से मनमुटाव तथा पारिवारिक समस्याओं के कारण ये अधिक अस्वस्थ हो गये और अन्तर्मुख रहने लगे और सभी संकटों का कारण अपने को ही मानने लगे। उनका जीवन यन्त्रणा का जीवन बन गया। साहित्यिक रचना और उल्लास के सुनहरे दिन अब अतीत बन गये थे। सन् 1830 से 1834 तक मृत्युपर्यन्त ये

1. *प्रिफेस टु लिरिकल बैलेड्स।*

रुग्ण और शय्या-ग्रस्त ही रहे। इन्हें उस समय मृत्यु का आभास हो गया था। इनके व्यक्तित्व तथा इनकी कल्पना-शक्ति से सभी प्रभावित थे। इनकी अत्यन्त प्रसिद्ध पुस्तकें हैं—*कुबला खान* (1797), *दि राइम ऑफ् ऐन्शण्ट मेरिनर* (1797-98) तथा *बाइग्राफिया लिटरेरिया* (1817)। इनके काव्यशास्त्रीय विचार *बाइग्राफिया लिटरेरिया, लिटरेरी रिमेन्स, मिसलैनियस क्रिटिसिज़्म, शेक्सपीरियन क्रिटिसिज्म* आदि ग्रन्थों में मिलते हैं। *बाइग्राफिया लिटरेरियां* में इन्होंने कविता के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है।

कविता के सम्बन्ध में सबसे पहले उन्होंने उद्देश्य से सम्बद्ध दो बातें मानी हैं, प्रथम प्रकृति के सत्य के प्रति पाठक की सहानुभूति को प्रेरित करने की शक्ति और द्वितीय कल्पना द्वारा विविध चित्रणों से उनमें नवीनता उत्पन्न कर रुचि प्रदान करने की शक्ति। इन चित्रणों में एक प्रकार के अलौकिक और आश्चर्यकारी चित्रण होते हैं, और दूसरे सहज प्राकृतिक और साधारण जीवन के। हमारे सामने विश्व के सुन्दर, मोहक और आश्चर्यकारी रूपों का अक्षय भण्डार है; परन्तु स्वार्थ की एकान्तता और परिचय के आवरण के कारण आँखें रहते हुए भी नहीं देख पाते, कान रहते हुए भी सुन नहीं पाते और हृदय होते हुए भी उनकी अनुभूति और उनका बोध हम नहीं कर पाते।

कॉलरिज का विचार है कि कविता में वही तत्त्व है, जो गद्य में है; परन्तु, अन्तर उनकी रचना और संघटन में है। कुछ लोग छन्द और लय का अन्तर मानते हैं; पर यह ऊपरी और बाहरी अन्तर है, भीतरी और तात्त्विक नहीं। कविता का उद्देश्य अगर हम आनन्द को मानें तो उपन्यासों और प्रेमाख्यानों में वह भी प्राप्त होता है; केवल छन्द और तुक जोड़ देने से ही आनन्द नहीं आ जाता। फिर भी कविता का सबसे पहला कार्य आनन्द प्रदान करना रहता है, सत्य की खोज नहीं, जैसा कि विज्ञान और दर्शन की रचनाओं का होता है। कविता में पाठक जिज्ञासा के कारण आगे नहीं बढ़ता, वरन् उसकी यात्रा का आकर्षण, आनन्द देने की क्रिया है जो कविता में होती रहती है। पाठक किसी समस्या के हल के लिए उत्सुक नहीं रहता, वरन् वह प्रत्येक पंक्ति में रमता हुआ चलता है। उसको लगातार प्रत्येक पंक्ति में उत्सुक रमणीयता तन्मय किये रहती है, जो गद्य में प्राप्त नहीं होती। महान् कवि वह है जो मनुष्य की सम्पूर्ण आत्मा को सक्रिय कर देता है जहाँ उसकी अन्य इन्द्रियाँ गौण और शान्त हो जाती हैं।[1] उसका यह कार्य कल्पना की जादुई शक्ति से सम्पन्न होता है। कॉलरिज ने कवि-प्रतिभा के अंग-प्रत्यंगों का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

"Finally GOOD SENSE is The BODY of Poetic Genius, FANCY its DRAPERY, MOTION its life and IMAGINATION, the soul, that is every

---

1. "The poet, described an ideal perfection, brings the whole soul of man into activity, with subordination of its faculties to each other, according to their relative worth and dignity."
—*Biographia Literaria*—Extract in Literary Criticism.
—A Reading by Das & Mohanty, p. 32.

where and in each : and forms all into one graceful and intelligent whole."[1]
(कवि-प्रतिभा का शरीर उत्तम बोध है, ऊहा उसका वस्त्रावरण है, गति उसका जीवन है और कल्पना उसकी आत्मा जो सर्वत्र और प्रत्येक में है और सबको समन्वित कर उसे एक ललित और सुबोध परिपूर्ण रूप प्रदान करती है।)

कॉलरिज ने मौलिक काव्य-प्रतिभा की निम्नांकित बातों में पहचान निकाली है—

1. पहली है—विषय के अनुरूप छन्द-रचना का माधुर्य। सही छन्द का चुनाव, उचित लय का समावेश, शब्दों के नाद-माधुर्य की समृद्धि से उत्पन्न होनेवाला आनन्द—ये प्राथमिक आवश्यकता हैं। जिसकी आत्मा में संगीत नहीं, वह वास्तविक कवि कभी नहीं बन सकता। कवि के पास विचार और अनुभूति की बुनावट के लिए शब्दों को लयों में गूँथने की कला का होना आवश्यक है। यह काम कृत्रिम शब्दाडम्बर से नहीं हो सकता।
2. दूसरी बात है—**विषय का चयन**। इस विषय में कॉलरिज का मत है कि काव्य का विषय नितान्त वैयक्तिक होने से उसमें पाठक का मन उतना नहीं रमता; परन्तु यदि वह ऐसा है जिसका सम्बन्ध व्यापक मानव-समाज से है तथा उसमें वर्णित विभिन्न भावनाएँ, समस्यायें, दुःख, उल्लास सभी के हैं, तो कवि को पाठक की मनोगति पर प्रभाव डालने का अच्छा अवसर प्राप्त होता है।
3. तीसरी बात **कल्पना** की है। कल्पना बिम्बों की सृष्टि करती है; परन्तु बिम्ब चाहे कितने ही सुन्दर क्यों न हों और प्रकृति की सही हूबहू अनुकृति हों तथा ठीक एवं उचित शब्दों में चित्रित किये गये हों, स्वतः कवि की उत्कृष्टता का परिचय नहीं देते। वे मौलिक प्रतिभा का परिचय उसी अनुपात में देते हैं, जिस अनुपात में वे किसी प्रभावशाली वासना से प्रेरित होते हैं या फिर किसी सहचारी विचार को प्रकट करते हैं अथवा किसी भावना को जगाते हैं। जब वे बिम्ब विविध बहुलता को एकत्व में परिणत करते हैं और जब मानव का सम्वेदनात्मक या बौद्धिक जीवन, कवि की अपनी स्फूर्ति से उन बिम्बों में सम्प्रेषित हो जाता है, तब उनकी सार्थकता सिद्ध होती है। यह बिम्ब-रचना कवि-प्रतिभा की विशेषता बन जाती है, जब वह अपने को परिस्थितियों, वासनाओं और गुणों के अनुरूप अपने को ढाल लेती है और उसी के अनुसार रंग ग्रहण कर लेती है। कॉलरिज का उपर्युक्त कथन बिम्ब-रचना की सार्थकता पर विशद और सूक्ष्म प्रकाश डालता है।

---

1. "The poet, described an ideal perfection, brings the whole soul of man into activity, with subordination of its faculties to each other, according to their relative worth and dignity."
—*Biographia Literaria*—Extract in Literary Criticism.
—A Reading by Das & Mohanty, p. 32.

4. चौथी और अन्तिम विशेषता, पूर्वोक्त विशेषता के साथ ही महत्त्व प्राप्त करती है; परन्तु इसके बिना पूर्ववर्ती गुण या विशेषता का क्षणिक महत्त्व या चमत्कार रहता है। यह गुण है **विचार की गहराई और उसकी ऊर्जा**। कॉलरिज का विचार है कि कोई व्यक्ति कभी भी महान् कवि नहीं हुआ है, जब तक कि वह साथ-साथ गम्भीर दार्शनिक न रहा हो।[1] क्योंकि कविता मानव-ज्ञान, मानव-विचार, मानव-वासना-भावना और भाषा का पुष्पत्व और सौरभ होती है। कविता अचानक नहीं फूट पड़ती। कवि जब धैर्यपूर्वक अध्ययन करता है, गहराई से विचार और चिन्तन करता है, संसार के चरित्रों को प्रत्यक्ष देखता और उनकी भावनाओं, वासनाओं, क्रियाकलापों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब उसकी प्रतिभा अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा इन अनुभवों और विचारों को उपयुक्त बिम्ब-रचना द्वारा समर्थ और शक्तिमय अभिव्यक्ति दे पाती है। ये सभी बातें मिलकर कवि-प्रतिभा को प्रमाणित करती हैं।

कॉलरिज ने कल्पना के सम्बन्ध में विस्तार से अपने विचार प्रकट किये हैं। उनके विचार से वह कल्पना-शक्ति ही है, जो निराकार विचारों और भावों को रूपायित करती है। इतना ही नहीं, भाव और विचार के बीच, जो एक-दूसरे के विरोधी माने जाते हैं—सामंजस्य और अन्विति स्थापित करती है। बाह्य पदार्थों और आत्मतत्त्व के सम्बन्ध स्थापित करने में भी कल्पना-शक्ति का हाथ रहता है। उन्होंने कल्पना (इमैजिनेशन) और ऊहा (फैन्सी) के अन्तर पर भी प्रकाश डाला है। यद्यपि दोनों तात्त्विक रूप से एक हैं, तथापि अन्तर है। कल्पना काव्यगत सार्थक और उपर्युक्त बिम्बों की रचना करती है; जबकि ऊहा, कपोलकल्पना, दिवास्वप्नवाले अनर्गल, अवास्तविक कार्यकलाप को मन में रूपायित करती है। ऊहा निम्नकोटि की मनगढ़न्त बिम्ब-रचना करती है। वह स्वच्छन्द और अननुशासित होती है। इसमें मनुष्य सुन्दर, मन को प्रसन्न करनेवाली बातों में दिवास्वप्न देखता रहता है। वास्तविकता से उसका सम्बन्ध नहीं होता।

परन्तु कल्पना आत्मा की एक शक्ति है। वह दिव्य है, सर्जनात्मक है। रचना-शीलता उसका गुण है। रचनाशील होने के कारण वह विवेकमय होती है। कल्पना-निर्मित बिम्ब सार्थक और सम्बद्ध होते हैं। उनमें क्रम और औचित्य रहता है। वह जड़ और चेतन तथा भाव और विचार के बीच सामंजस्य स्थापित करती है। विचार और भाव को साकार करना कल्पना का कार्य है। कल्पना दो प्रकार की होती है—एक मुख्य या प्राथमिक और दूसरी गौण या अनुवर्ती। मुख्य कल्पना मानव-ज्ञान की जीवन्त शक्ति और प्रमुख माध्यम होती है। असीम में होनेवाली अनन्त सर्जन-क्रिया की ससीम मन में होनेवाली वह प्रतिकृति है। गौण या अनुवर्ती कल्पना उसकी छाया मात्र है। सचेतन संकल्प-शक्ति के

---

1. No man was ever a great poet without being at the same time a profound philosopher. —*Biographia Literaria*, p. 37.

साथ उसका सह-अस्तित्व होता है। दोनों में तात्त्विक भेद नहीं, अन्तर मात्रा और क्रियाविधि का है। कविता को इससे प्रेरणा मिलती है।

इस प्रकार कॉलरिज के कविता और कल्पना के सम्बन्ध में जो विचार प्राप्त होते हैं, वे मौलिक हैं और महत्त्वपूर्ण भी। कॉलरिज पर जर्मन दार्शनिक शेलिंग और काण्ट का प्रभाव देखा जा सकता है।

विलियम हैज़्लिट (William Hazlitt) (1778-1830) : हैज़्लिट अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध निबन्धकार और आलोचक माने जाते हैं। इनका जन्म मैडस्टोन में सन् 1778 ई. में हुआ था। इनके पिता उदार मत के यूनिटेरियन मिनिस्टर थे। इनका पालन-पोषण और विकास प्रगतिशील विचारों के वातावरण में हुआ और ये जन्मभर उदार मत के रहे। आगे चलकर ये लन्दन में बस गये और इन्होंने दो विवाह किये—एक सन् 1808 में और दूसरा 1824 में एक विधवा से, जब कि पहली पत्नी ने तलाक ले लिया। तलाक के बाद इन्होंने बहुत जोरदार निबन्ध लिखा। हैज़्लिट निबन्धकार के रूप में बड़े प्रसिद्ध हुए और समकालीन पत्रों 'एडिनबर्ग रिव्यू' और 'एक्जामिनर' में लगातार लिखते रहे। उनके विषय राजनीति, धर्म, समाज और साहित्य थे, जिनमें व्यावहारिक नैतिकता और जीवन के उच्चादर्शों का समावेश था। वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज से इनका पहले से ही सम्पर्क था जिस पर सन् 1823 में लिखे लेख 'फर्स्ट अक्वेन्टैन्स विद पोयट्स' से प्रकाश पड़ता है। ये वर्ड्सवर्थ के बराबर प्रशंसक रहे। इनकी रचनाओं को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(क) विविध विषयों पर लोकप्रिय निबन्ध, (ख) राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विषयों पर विचार-विमर्श करनेवाली रचनाएँ और (ग) इनके साहित्यालोचना-सम्बन्धी ग्रन्थ, जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें हैज़्लिट के शेक्सपीयर तथा अन्य अंग्रेजी कवियों पर तथा एलिज़ाबेथ-कालीन नाट्य-साहित्य, अंग्रेजी, हास्य-व्यंग्यकार तथा अन्य साहित्यिक विषयों पर विचार प्राप्त होते हैं। उनके व्याख्यानों में भी काव्य का सूक्ष्म विश्लेषण और विवेचन प्राप्त होता है।

उनका विचार है कि प्रकृति का कवि वह होता है जो अपने हृदय में स्थित सौन्दर्य, शक्ति और भावना से उन सभी के साथ समभाव और तादात्म्य स्थापित करता है जो प्रकृति में सुन्दर, भव्य और प्रेरणाप्रद हैं। वह प्रकृति की विशुद्ध गरिमा, इन्द्रियों को प्रेरित करनेवाली घटनाओं तथा लोगों के विचारों और भावनाओं से प्रभावित होता है। वह वस्तुओं में चिर सौन्दर्य देखता है, क्योंकि वह उनके मूलभूत स्वच्छ रूप को हृदयंगम करता है।

हैज़्लिट के विचार से कविता केवल लेखन की एक विद्या या शाखा नहीं है, वह ऐसा तत्त्व है जिससे जिन्दगी रची जाती है।

"जो भी प्राकृतिक है, सहज है, स्वतःस्फूर्त है, वह कभी गँवारू नहीं होता। अनभिज्ञता भी ग्राम्य नहीं है। ग्राम्य वह है जो दूसरों के अनुकरण पर दिखावा किया जाता है या जो फैशन के लिए किया जाता है।" (एसे ऑन वल्गारिटी एण्ड अफेक्शन)

हैज़्लिट के विचार से कविता किसी वस्तु या घटना का ऐसा सहज प्रभाव है जो अपने विशद रूप से कल्पना और भावना को स्वतः गतिमान् करता है और उसकी संवेदना से ऐसे शब्दों और ध्वनियों का उद्गम होता है जो उसको अभिव्यक्ति देते हैं। कविता वह सार्वभौम भाषा है जिसके माध्यम से हृदय का प्रकृति से संवाद होता है।

वह सबकुछ जो स्मरण रखने योग्य है, कविता है। भय कविता है। आशा कविता है। प्रेम कविता है। घृणा कविता है। ईर्ष्या, द्वेष, प्रशंसा, आश्चर्य, करुणा, निराशा, विषाद—सब कविता है। वास्तव में मनुष्य कवित्वमय प्राणी है, उसके सहज जीवन के सभी कार्य-कलाप कविता हैं। कवि उन्हीं सब का वर्णन करता है जो लोग जीवन में सोचते और करते हैं।

कविता प्रकृति की अनुकृति है। मानव-प्रकृति के जो भाव और विचार हैं उनकी सबसे जोरदार अभिव्यक्ति कविता है। कविता जीवन के बहाव का वर्णन करती है, स्थिरता का नहीं। वह जीवन्त है।

कविता कल्पना की भाषा है और कल्पना, वह मनःशक्ति है जो पदार्थों का ऐसा वर्णन नहीं करती, जैसे वे वास्तव में हैं, वरन् जैसे वे विचारों और भावनाओं के द्वारा अनन्त रूपों की विविधता और भावना-शक्ति के विविध संयोगों में ढाले जाते हैं, उन्हीं रूपों में कविता उन्हें प्रस्तुत करती है।

कविता कल्पना और अनुभूति का उत्कृष्ट उत्साह है, भावना का तूफ़ान, जो आत्मा की समृद्ध गहराइयों को खोलकर रख देता है, वह कविता की ही प्रक्रिया है। कविता भावना की उत्कृष्टतम प्रभावी व्याख्या है।

इस प्रकार हैज़्लिट ने अपने निबन्धों और व्याख्यानों में कविता के स्वरूप का बड़ी गहराई के साथ, सूक्ष्म और विशद विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वे महत्त्वपूर्ण काव्य-चिन्तक हैं।

स्वच्छन्दतावादी पुनरुत्थान (Romantic Revival) के युग में अन्य लेखकों और कवियों के विचार इधर-उधर संक्षेप में मिलते हैं, पर काव्य और कला-सम्बन्धी चिन्तन प्राप्त नहीं होता है। शेली, कल्पना को न केवल काव्य, वरन् नैतिक कल्याण के लिए भी बड़ा साधन मानते हैं। और इस प्रकार जीवन में साहित्य की महत्ता स्थापित करते हैं। कीट्स और बाइरन तथा लैहण्ट भी वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज से प्रभावित हैं। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, हैज़्लिट आदि के विचारों की आधारभूत सामग्री शेक्सपीयर, मिल्टन, शेली, कीट्स, बाइरन आदि की रचनायें रही हैं। इस प्रकार कल्पना और भावुकतापूर्ण स्वच्छन्दतावादी प्रकृति-काव्य और प्रेम-काव्य की उत्तम रचनाओं ने इस युग के काव्य-चिन्तन को सूक्ष्म और विशद विवेचनपूर्ण बनाने में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान की।

सन् 1830 से अंग्रेजी साहित्य में विक्टोरिया-युग का आरम्भ होता है। इस युग के प्रमुख साहित्य-चिन्तकों में मैथ्यू आर्नल्ड और वाल्टर पेटर का नाम प्रसिद्ध

है। अन्य लेखकों में आस्कर वाइल्ड, स्विनबर्न और प्रोफेसर जार्ज सेण्ट्सबरी उल्लेखनीय हैं।

मैथ्यू आर्नल्ड (1822-1888) : मैथ्यू आर्नल्ड, रगबी के डॉक्टर आर्नल्ड के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनका जन्म 24 दिसम्बर सन् 1822 ई. में हुआ था। इनकी शिक्षा विंचेस्टर (रगबी) और बैलियल कॉलेज (ऑक्सफोर्ड) में हुई थी। इनको एक विशेष पुरस्कार मिला और 1845 में ये फेलो चुने गये। कुछ समय तक ये लॉर्ड लैन्सडाउन के प्राइवेट सेक्रेटरी रहे और बाद में इन्स्पेक्टर ऑफ् स्कूल्स बन गये। 1849 में इनका पहला काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ। उसके बाद 1867 तक कई संग्रह प्रकाशित हुए। इनके आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह *एसेज़ इन क्रिटिसिज़्म (Essays in Criticism)* 1865 में प्रकाशित हुआ। सन् 1882 तक इनके पाँच अन्य निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए। सन् 1857 में ये ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी में 'प्रोफेसर ऑफ् पोइट्री' के पद पर चुने गये। 1883 में इन्हें पेंशन मिली तथा अप्रैल 1888 में लिवरपूल में इनका अचानक देहावसान हो गया। ये बड़े शिष्ट, सुसंस्कृत व्यवहारवाले, मृदुभाषी विद्वान् थे। ऑक्सफोर्ड के वातावरण से ये बहुत प्रभावित थे। अपने प्रारम्भिक जीवन में ये काव्य-रचना में प्रवृत्त रहे और बाद में आलोचना में संलग्न रहे; फिर भी काव्य-रचना कुछ न कुछ बाद में भी चलती रही। ये पद्य और गद्य दोनों ही रचनाओं में जीवन के आलोचक रहे। आर्नल्ड के लेखन में सुरुचि और गाम्भीर्य बराबर मिलता है।

आर्नल्ड अपने विचारों में यूनानी साहित्य-चिन्तन और गेटे के मत से प्रभावित हैं। वे मिल्टन और फ्रेञ्च लेखक सेण्ट ब्यूव के प्रति भी आकृष्ट हुए। इस प्रकार विभिन्न परम्पराओं और समकालीन विचारणाओं के प्रभावस्वरूप धार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं, सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणाओं और नैतिक दृष्टिकोण ने मिलकर आर्नल्ड के समीक्षा-सम्बन्धी मत के निर्माण में सहयोग दिया। वे समकालीन राजनीतिक घटनाओं जैसे फ्रेञ्च राज्य-क्रान्ति तथा सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों से गहराई से प्रभावित हुए और उनके साहित्य की आलोचना से सम्बद्ध विचार जीवन से जुड़े हुए हैं।

उनका विचार था कि कविता केवल साधारण मनोरंजन नहीं, जैसे कि सामान्य लोग सोचते हैं, वरन् उच्च उपयोगिताओं और उच्च उद्देश्यों को सिद्ध करने में कविता सक्षम होती है। बिना काव्य के विज्ञान अधूरा है। मानव-समाज इस बात को समझेगा कि हमें जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए कविता की आवश्यकता है। वह ज्ञान की सूक्ष्म चेतना के लिए कविता के मूल्य को समझेगा। वास्तव में कविता को उसके सौन्दर्य और नियमों के साथ जीवन की व्याख्या के रूप में देखना अभीष्ट है। उत्तम कविता वह है जैसा हम उसे चाहते हैं। उसमें रूप-सर्जना, स्थायित्व और हमें आनन्द प्रदान करने की शक्ति होती है।[1]

---

1. *वार्ड्स इंग्लिश पोयट्स* (1880), पुस्तक की प्रस्तावना।

आर्नल्ड ने अरस्तू के आधार पर कहा है कि वस्तु और तत्त्व की दृष्टि से कविता की इतिहास से उत्कृष्टता उच्चतर सत्य और उच्चतर निष्ठा के कारण होती है। उत्तम कविता की शैली और पद्धति तथा उसकी विशिष्टता वास्तव में उसकी शब्दावली और गतिशीलता के कारण निर्मित होती है।[1]

आर्नल्ड का विचार है कि आलोचना की शक्ति, रचना की शक्ति से निम्नकोटि की होती है—यह सत्य है। परन्तु इस स्थापना के साथ-साथ हमें दो-एक बातों का ध्यान रखना चाहिए। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि स्वतन्त्र रचना, मनुष्य का वास्तविक कार्य है। यह तथ्य इस बात से सिद्ध होता है कि सर्जना में उसे वास्तविक प्रसन्नता का अनुभव होता है। साथ ही इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि मनुष्य अपनी इस रचना-शक्ति का उपयोग साहित्य-सर्जना के अतिरिक्त अन्य कार्यों में कर सकता है।

आर्नल्ड के मत से रचना-शक्ति जिन तत्त्वों के आधार पर कार्य करती है, वे सूझ और विचार हैं—समकालीन प्रत्येक विषय पर प्रचलित विचार। साहित्य-सर्जना की प्रतिभा नये विचारों की खोज में नहीं देखी जाती—यह काम दार्शनिक का है। साहित्यिक प्रतिभा का भव्य कार्य संश्लेषण और अभिव्यक्ति का है, विश्लेषण और अन्वेषण का नहीं। उसका प्रदेय, बौद्धिक और आध्यात्मिक वातावरण या विचार-क्रम से (जो उसमें प्राप्त होता हो) स्फूर्ति और प्रेरणा ग्रहण करने में देखा जा सकता है जिसकी परिणति उनसे दिव्य और सुन्दर निर्मिति में होती है। महान् कवि की रचना के लिए दो शक्तियों का संयोजन आवश्यक है—एक मनुष्य की शक्ति और दूसरी समय या क्षण की शक्ति। दूसरी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है, जब नये विचार समाज में पहुँचते हैं, तब तक तहलका मचता है और चारों ओर विकास होने लगता है; क्योंकि सत्य का संस्पर्श ही जीवन का संस्पर्श होता है। इसी तहलके या मन्थन और विकास से ही साहित्य की सर्जना का युग-निर्माण होता है।

जब विचारधारा, सर्जना-शक्ति को उच्चकोटि की प्रेरणा और पोषण प्रदान करती है और समाज नये और ताजे विचारों से ओतप्रोत हो जाता है, तब उत्कृष्ट साहित्य का जन्म होता है।

साहित्य की आलोचना के लिए सबसे पहली शर्त है तटस्थता। साहित्यालोचन का पहला कार्य है कि संसार में जो ज्ञात और चिन्तन का परिणाम है, उसको जानना और उसकी जानकारी देकर सत्य और ताजे विचारों को प्रचलित करना। इस काम को योग्यता और ईमानदारी के साथ क़रना ही साहित्य के लिए वांछनीय है।

आर्नल्ड का विचार है कि सर्जनात्मक क्रिया-कलाप की समझ रखना बड़ी प्रसन्नता की बात है और जीवन्त रहने का प्रमाण भी। यह आलोचना के लिए भी वर्जित नहीं है; परन्तु आलोचना को सुगम, सच्ची, निष्ठापूर्ण और लचीली होना चाहिए, जो अपना बराबर ज्ञान-वर्द्धन करती रहे। उसमें रचनात्मक क्रिया के प्रति आनन्दपूर्ण बोध का भाव

---

1. *वार्ड्स इंग्लिश पोयट्स* (1880), पुस्तक की प्रस्तावना।

होना चाहिए। रचना-क्रिया का वास्तविक बोध, सही सर्जक को ही होता है। वह नये और ताजे विचारों से ओतप्रोत रहता है। आलोचना उसका विश्लेषण करती है।

इस प्रकार आर्नल्ड की रचना और आलोचना के प्रति बड़ी सही निष्ठा और तटस्थ दृष्टि प्रकट होती है।

वाल्टर होरैशियो पेटर (Walter Horatio Pater) (1839-1894) : वाल्टर पेटर एक डच मूल के डॉक्टर के पुत्र थे। इनका जन्म 1839 में लन्दन में हुआ था। वे पहले कैण्टरबरी के किंग्ज स्कूल में पढ़े और बाद में, ऑक्सफोर्ड के क्वीन्स कॉलेज में 1858 में शिक्षा-प्राप्ति के हेतु गये। 1862 में इन्हें डिग्री मिली। दो वर्षों तक प्राइवेट ट्यूशन करने के बाद इन्हें फेलोशिप मिली। आगे चलकर जान रस्किन के प्रभाव में आकर ये 'प्रीरैफालाइट ब्रदरहुड' (Pre-Raphaclite Brotherhood) में सम्मिलित हो गये। वे अन्य अनेक साहित्य और कला-संस्थाओं के सदस्य भी रहे। 1866 में ये इटली गये और इन्होंने लौटकर 'विंकलमैन' की रचना की जो 1873 में प्रकाशित हुई। इन्होंने इसी समय *हिस्ट्री ऑफ़ रेनेसाँ* पुस्तक जिसमें इटैलियन पेण्टिंग तथा कुछ लेखकों पर लेख थे, प्रकाशित हुई। इससे इनकी कला-आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण ख्याति हो गयी और इनके सौन्दर्यशास्त्रीय विचारों को मान्यता मिली। इनके लेखों की शैली बड़ी ही परिमार्जित और मसृण मानी जाती है। इनके कला और साहित्य पर कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए। सन् 1894 में ग्लास्गो युनिवर्सिटी ने इन्हें एल-एल. डी. की डिग्री प्रदान की जिसको पेटर ने एक बड़ा सम्मान माना। इसके बाद इन्हें वात की बीमारी हो गयी और 30 जुलाई 1894 को हृदय-गति रुक जाने से इनकी मृत्यु हो गयी।

वाल्टर पेटर कलावादी एवं लालित्यबोध के विचारकों में हैं। उन्होंने कला और जीवन के सम्बन्ध का विवेचन किया है। उनका मत है कि काव्य और कला का वही स्वरूप प्रोत्साहन के योग्य है जिसमें जीवन का कलात्मक निरूपण हुआ हो। उन्होंने कहा है कि महान् कवि शिक्षा या उपदेश देने का कार्य नहीं करते, वे नियमों का विधान भी नहीं करते। वे मानव-जीवन को उसकी यान्त्रिकता से दूर कर जीवन की परिस्थितियों से संवेगात्मक सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं। उनके विचार से साहित्य और कला जीवन की अखण्डता की अनुभूति और अभिव्यक्ति है। सौन्दर्यशास्त्र के विद्यार्थी को सौन्दर्य की निराकार या साररूप परिभाषा न देकर साकार, ठोस परिभाषा देने का प्रयास करना चाहिए। उसका कोई सार्वभौम नियम (फार्मूला) न खोज कर, उसके विशिष्ट आभासों को स्पष्ट करनेवाली बातों पर विचार करना चाहिए।[1] सौन्दर्य

---

1. Beauty, like all other qualities presented to human experience is relative—and the definition of it becomes unmeaning and useless in proposition to its abstractness. To define beauty, not in most abstract, but in most concret terms possible, to find not a universal formula for it, but the formula which expresses most adequately this or that special manifestation of it, is the aim of the true student of Aesthetics.—From the *Renaissance*.

को मूर्तता प्रदान करने के लिए विषयवस्तु या सामग्री तथा रूप या आकार दो घटकों की आवश्यकता होती है। सौन्दर्य का आलोचक, विश्लेषण करके उस गुण को अन्य तत्त्वों से अलग कर देता है, जो किसी कलाकृति को विशेष सुन्दर और आनन्ददायी बनाता है।

पेटर, "कला में आनन्द कला के कारण है, किसी अन्य उपयोगिता या संदर्भ के कारण नहीं"—यह मानते थे। अपनी इस मान्यता के कारण वे रस्किन, आर्नल्ड, मोरिस आदि से भिन्न थे। उनका यह भी विचार था कि कला की सत्ता तीव्र और उदात्त आनन्द प्रदान करने के लिए है और जो उत्कृष्ट आनन्द होता है, निश्चय ही उसमें नैतिकता का स्पन्दन स्वतः रहता है। कला के उत्कृष्ट स्वरूप के उदाहरण, संगीत और गीतिकाव्य में मिलते हैं, जो साहित्य का सर्वोत्कृष्ट रूप है। स्थापत्य और मूर्तिकला, पत्थर पर समन्वय और लय के रूप में है और संगीत भी ठहराव की अभिव्यक्ति है। पेटर की इस अंतिम मान्यता का विरोध हुआ। कलावादी चिन्तकों में पेटर का महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर उनकी अधिकांश मान्यताएँ आगे स्वीकार नहीं की गयीं।[1]

आस्कर वाइल्ड (Oscar Wilde) (1854-1900 ई.) : आस्कर वाइल्ड कलावादी आन्दोलन के न केवल मुखर, वरन् आक्रामक पोषक थे। 'कला कला के लिए' इस सिद्धान्त के उद्दण्ड समर्थक होने के नाते उन्होंने नैतिकता को पूर्ण तिलांजलि दे दी थी। वाल्टर पेटर के मूक और गम्भीर समर्थन के स्थान पर, वाइल्ड के वक्तव्यों के साथ-साथ उनका स्वयं का जीवन भी इस भावना का पोषक था। वाइल्ड के कथन चतुराईपूर्ण अवश्य हैं, पर उनमें मौलिकता और रचनात्मक कल्पना का अभाव है। यह बात उनके नाटकों में स्पष्ट होती है। उनके महत्त्वपूर्ण विचार 1891 ई. में प्रकाशित हैं। इसमें कलावादी विचार तीक्ष्णता और सीधे ढंग से प्रकट हुए हैं जो बड़े प्रभावकारी हैं।

आस्कर वाइल्ड प्रकृति के समर्थक न थे। उनका मत था कि प्रकृति नहीं, कविता और भावना रचना-शक्ति को प्रेरणा देती है। वे कला और कविता की रूप-रचना (Form) को ही सर्वाधिक महत्त्व देते थे। उसकी रूप-रचना से कला के सभी रहस्य उद्घाटित हो जाते हैं।[2] उनके विचार से छन्द में तुक (Rhyme) का विशेष महत्त्व है। उससे केवल छान्दसिक सौन्दर्य ही नहीं, वरन् विचार का आध्यात्मिक पक्ष भी प्रकट होता है।[3] कविता में अतिशय तथ्यात्मकता और प्रकृति की यथार्थता, कला को समाप्त कर देती है।[4] भाव, भाव के लिए है—यह कला का उद्देश्य होता है और भाव, कर्म के लिए है—यह जीवन का उद्देश्य होता है। इसलिए सभी कला

---

1. *History of English Literature* by Compton Rickett, p. 564.
2. *दि क्रिटिक ऐज आर्टिस्ट (इन्टेन्शन्स),* पृ. 201-2.
3. वही, पृ. 102-3.
4. वही, पृ. 1.

नैतिकता-विहीन होती है।[1] सुन्दर वस्तुएँ वे हैं जिनका हमसे सरोकार नहीं है। चाहे पीड़ा देती हो या सुख—वे कला के वृत्त से बाहर हैं।[2] इस प्रकार आस्कर वाइल्ड ने 'कला कला के लिए है'—इस सिद्धान्त का बड़े सूक्ष्म और रोचक ढंग से प्रतिपादन किया है। निश्चय ही आस्कर वाइल्ड के विचारों से 'कला कला के लिए है' आन्दोलन को न केवल समर्थन, वरन् बड़ी शक्ति मिली।

●

1. *दि क्रिटिक ऐज आर्टिस्ट (इन्टेन्शन्स),* पृ. 145.
2. वही, पृ. 16-17.

: 3 :

आधुनिक युगीन कला-साहित्य-चिन्तन

(सन् 1900 ई. से अब तक)

आधुनिक युग में औद्योगिक क्रान्ति तथा तकनीकी एवं वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप, कला और साहित्य के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी एवं मौलिक विचार सामने आये। अनेक क्षेत्रों के विचारों ने कला और साहित्य को भी अतिशय प्रभावित किया। मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड, एडलर और जुंग ने काव्य और कला को प्रभावित किया, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में मार्क्सवाद की विचारधारा का गहराई के साथ प्रभाव पड़ा तथा डेनमार्क के सोरेन कीर्केगार्द और फ्रान्स के ज्याँ पॉल सार्त्र की अस्तित्ववादी विचारधारा ने भी विश्व-साहित्य पर प्रभाव डाला तथा इटली के बेनेदेतो क्रोचे ने तो कला के क्षेत्र में अभिव्यंजनावाद के नये सिद्धान्त को प्रक्षेपित किया। इन सभी परिस्थितियों और प्रभावों ने साहित्य-चिन्तन को विविध दिशाओं की ओर मोड़ दिया।

आधुनिक युग के दर्शन, साहित्य तथा कला और साहित्य चिन्तन ने विश्व को अनेक भागों में बाँट दिया। एक तो मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन का समाजवादी विश्व बन गया, दूसरा यूरोपीय परम्परा का कलावादी संसार जिसमें इटली, फ्रान्स और इंग्लैण्ड विशेष रूप से सम्मिलित थे और जिसका कुछ प्रभाव एशिया के देशों और भारत पर पड़ा। इसी बीच मनोवैज्ञानिक साहित्य-चिन्तन का एक अलग विश्व बन गया जिसमें सारी कला-कृतियों को मनोविश्लेषण की दृष्टि से देखा गया। साथ ही कीर्केगार्द और सार्त्र के अस्तित्ववाद की भी धूम रही जिसने पचासवें और साठवें दशकों के साहित्य को बेहद प्रभावित किया। इसके साथ ही साथ अमेरिका में विशेष रूप से 'नव्यालोचन' का आरंभ हुआ जिसमें संरचना, विरोधाभास, प्रतीक, तनाव आदि के नये मतों का प्रतिपादन हुआ। ये नये मत न होकर पुराने तत्त्वों के ही विशद विस्तार कहे जा सकते हैं। फिर भी इनमें दृष्टिकोण की नव्यता तो देखने को मिलती ही है। आगे हम उपर्युक्त अलग-अलग मत-क्षेत्रों को लेकर पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन का परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

(क) मार्क्सवादी साहित्य और कला-चिन्तन

मार्क्सवादी कला और साहित्य-चिन्तन मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित है। इसके दो प्रमुख आधार हैं—एक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और दूसरा ऐतिहासिक भौतिकवाद। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक विकास का सिद्धान्त है जो क्रिया, प्रतिक्रिया और समन्वय के द्वारा आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। इसमें बाह्य पदार्थों के विविध व्यापारों तथा

आन्तरिक विचारधारा के अन्तःसम्बन्धों का विशद और सूक्ष्म विवेचन है। ऐतिहासिक भौतिकवाद मानव के आदिम जीवन से लेकर आज तक चलती आयी इस विकास-प्रक्रिया को प्रमाणित करता है।

मानव-समुदाय का मूल प्रयत्न आर्थिक या उत्पादन-परक है। इसी के लिए वह श्रम का आधार ग्रहण करता है। इन्हीं तत्त्वों के आधार को ग्रहण कर कला और साहित्य का निर्माण होता है। अतः कला और साहित्य भी मानव के व्यापक कार्यकलाप का अंग है। वह उसके श्रम को मधुर बनाता है और उत्पादन के उपरान्त प्राप्त सफलता के आधार पर आगे के निर्माण और विकास की कल्पना प्रदान करता है और उसका मार्ग प्रशस्त करता है। इस प्रकार मार्क्सवाद साहित्य और कला के सम्बन्ध में एक भौतिक वस्तुवादी एवं सामाजिक दृष्टिकोण को लेकर सामने आया। धीरे-धीरे इस दृष्टिकोण का एक व्यापक प्रभाव पड़ा।

आगे हम इस विचारधारा के प्रमुख चिन्तकों का परिचय तथा उनके साहित्य एवं कला-सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत कर रहे हैं।

कार्ल मार्क्स (Karl Marx) (1818-1883 ई.) : मार्क्स का जन्म 5 मई 1818 ई. में जर्मनी के प्रशिया क्षेत्र के 'राइन' प्रान्त के अन्तर्गत स्थित ट्रायर नगर में एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। ये यहूदी-वंश में उत्पन्न हुए थे और इनके पिता एक वकील थे जो प्रोटेस्टैण्ट ईसाई हो गये थे। इस धर्म-परिवर्तन का मार्क्स के ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा और वे सभी धर्मों से मुक्त हो गये। इनकी आरम्भिक शिक्षा ट्रायर में हुई। 1835 में इन्हें बॉन (Bonn) युनिवर्सिटी से मैट्रीकुलेशन का प्रमाण-पत्र मिला। इस समय इन्होंने दर्शन और इतिहास का अध्ययन किया। 1836 में कानून और दर्शन पढ़ने के लिए ये बर्लिन युनिवर्सिटी में दाखिल हुए। इस समय हीगेल के दर्शन से इनका परिचय हुआ। आगे चलकर उन्होंने समझा कि ईसाई धर्म-कथाओं में ऐतिहासिकता नहीं, वरन् वे कपोल-कल्पनाएँ हैं। अपने क्रान्तिकारी लेखों और वक्तव्यों के कारण इन्हें जर्मनी छोड़कर पेरिस जाना पड़ा और आगे वहाँ से हालैण्ड और लन्दन। इनका विवाह 1843 में जेनी से हुआ। ब्रुसेल्स में रहकर इन्होंने अनेक क्रान्तिकारी लेख लिखे। इनका परिचय लन्दन में फ्रेडरिख ऐंजिल्स से हुआ। दोनों ने मिलकर *कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो* 1847 में लिखा, जो आगे साम्यवादियों के लिए बाइबिल सिद्ध हुआ। इसी बीच *पॉवर्टी ऑफ् फिलासफी (Poverty of Philosophy)* की भी रचना हुई। 1867 में मार्क्स की *कैपिटल (Das Kapital)* पुस्तक प्रकाशित हुई जिसने विश्वभर में तहलका मचा दिया। यह मजदूर वर्ग के लिए वेद, कुरान और बाइबिल सिद्ध हुई। आजकल कतिपय संशोधनों के साथ यह पुस्तक सारे साम्यवादी संसार की मार्गदर्शक है।

मार्क्स जितने बड़े दार्शनिक और विचारक थे, उतने ही बड़े कर्मठ व्यक्ति भी थे। उनका सारा चिन्तन संसार को एक व्यावहारिक समानता और खुशहाली की ओर ले जाने में लगा था। उनका सारा जीवन इसी कार्य में लगा, यहाँ तक कि उनका पारिवारिक जीवन

भी प्रायः समाप्त हो गया था। उन्होंने अपने विचारों से एक नई दुनिया का निर्माण किया। विश्व की अर्थ-व्यवस्था पर उनके विचार मौलिक और क्रान्तिकारी हैं।

मार्क्स की मृत्यु लन्दन में 14 मार्च सन् 1883 ई. में हुई।

मार्क्स और एँजिल्स ने प्रायः अनेक विषयों पर साथ-साथ मिलकर लिखा है। उनके साहित्य और कला-सम्बन्धी विचार *लिटरेचर ऐण्ड आर्ट* नामक ग्रन्थ में प्रकट हुए हैं जो उनके *ए कण्ट्रीब्यूशन टु दि क्रिटिक ऑफ् पोलिटिकल इकोनामी* नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना का अंश है। इसमें साहित्य-सम्बन्धी प्रमुख मार्क्सवादी स्थापनायें निम्नलिखित हैं :—

1. साहित्य एवं कला, विचारधारा का एक ही रूप है (ये विचार उस परम्परा से नितान्त भिन्न हैं, जो साहित्य और कला को सहज ज्ञान या आनुभूतिक तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं)।
2. साहित्य और कलायें समाज के आर्थिक-भौतिक जीवन से उत्पन्न होती और उसी पर स्थित और आधारित रहती हैं।
3. आर्थिक और भौतिक धरातल पर परिवर्तन होने के साथ साहित्य, कला अथवा विचारधारा के अन्य रूपों में थोड़ा-बहुत उसी तेजी के साथ परिवर्तन हो जाता है।
4. ऐसे परिवर्तनों पर विचार करते समय हमें उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों—जिन्हें पदार्थ-विज्ञान की भाँति ठीक से आँका जा सकता है एवं विचारधारा के रूपों—जिनमें मनुष्य इस संघर्ष के प्रति सचेत रहता है, के बीच भेद करना चाहिए।
5. साहित्य एवं कला—केवल परिस्थितियों से प्रभावित ही नहीं होतीं; वरन् कभी-कभी और प्रायः उन्हें प्रभावित भी करती हैं। सामाजिक क्रान्ति एवं समाज के पुनर्निर्माण में भी कला एवं साहित्य महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं।
6. कला के उद्भव और विकास में श्रम की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है; क्योंकि उसके ही द्वारा उन हाथों में शक्ति और क्षमता आती है जो कला का निर्माण करते हैं, साथ ही उससे जीवन का अनुभव प्राप्त होता है जो साहित्य का सृजन करने में सहायक होता है।
7. अन्य प्राणियों—पशुओं, पक्षियों, कीड़ों-मकोड़ों से मनुष्य की शक्ति और प्रतिभा तथा दृष्टि भिन्न है। अन्य प्राणी केवल अपने या अपने बच्चों के लिए काम करते हैं, जबकि मनुष्य अपने या अपनी जाति के लिए ही नहीं, वरन् सबके लिए काम करता है। दूसरे के लिए उत्पादन, स्वतः सौन्दर्य-रचना के नियमों की पूर्ति करता है।
8. शैली मानव-व्यक्तित्व का पर्याय है, पर यह तभी सम्भव है, जब वह स्वतन्त्र लेखन के साथ ही, किसी दबाव या विवशता की स्थिति में किये गये सृजन के साथ नहीं।

9. उनका यह भी विचार है कि कलात्मक प्रतिभा कुछ व्यक्तियों में ही सीमित तभी होती है, जब श्रम-विभाजन असन्तुलित होता है। साम्यवादी समाज में विसंगतियाँ न होने से सभी लोग अन्य कार्यों के साथ कलाकार भी होंगे।

मार्क्स का विश्वास था कि जो वर्ग सामाजिक शक्तियों का नियमन करता है, वही राजनीतिक शक्ति का भी अधिष्ठाता होता है। जिस प्रकार राज्य-शासन जनता को भौतिक रूप से शोषित करता है, उसी प्रकार धर्म भी जनता को मानसिक रूप से भयग्रस्त बनाता है।[1] धर्म जनता की स्वतन्त्र चेतना को नष्ट कर देता है। वह अफीम के समान है जिसके सेवन से उसकी मति भ्रष्ट हो जाती है। साहित्य भी अर्थ-व्यवस्था से ही नियमित और संचालित होता है, क्योंकि साहित्यकार भी एक सामाजिक प्राणी है, अतः समाज की आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था उसका भी निर्माण करती है तथा उसकी प्रतिभा और कल्पना को प्रभावित करती है। साहित्य भी युगीन अर्थव्यवस्था एवं उससे संचालित सामाजिक तन्त्र की अभिव्यक्ति होता है। फिर भी मार्क्स का विचार था साहित्य, सामाजिक स्थिति का यथार्थ चित्र होते हुए भी उसमें इतनी शक्ति होती है कि वह समाज-व्यवस्था को बदल सकता है। वह सामाजिक क्रान्ति उपस्थित कर सकता है। साहित्य, सामाजिक परिवर्तन का अमोघ साधन है। पूँजीपति, साहित्य की इस शक्ति को जानता है, अतः वह साहित्य का इस प्रकार से संचालन करता है कि शोषण और प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियाँ पोषित हो सकें। इसके विपरीत क्रान्तिकारी वर्ग, साहित्य का उपयोग क्रान्ति की अवधारणा के लिए करते हैं और उसे प्रगति का साधन बना देते हैं।

उनके विचार से कला-सृजन व्यक्तिगत चेतना का परिणाम नहीं है, वरन् वह सामाजिक चेतना का प्रतिफलन है। मार्क्स इस विचार को नहीं मानते कि कला की सृजन-प्रक्रिया अचेतन और यान्त्रिक होती है। उनका विचार है कि व्यक्ति अपनी शारीरिक और जैविक आवश्यकताओं से ऊपर उठकर कला की सृष्टि कर सकता है। वास्तव में वह प्रकृति की पुनः सृष्टि करता है और जागरूक रहकर सौन्दर्य और मूल्यों की रचना करता है।

ऐंञ्जिल्स के विचार भी मार्क्स के समान ही हैं। प्रायः उन दोनों ने एकसाथ मिलकर ही लिखा। वे भी धर्म और दर्शन को जनता को बहकानेवाली बातें समझते हैं। धर्म एक निरर्थक कल्पना पर आधारित है। इससे जनता का कोई कल्याण नहीं होता। धर्म रूढ़ि और अन्धविश्वास को जगाता है। जो साहित्य, धर्म पर ही आधारित होता है, वह थोड़े समय बाद सारहीन हो जाता है। वे साहित्य को समाज का दर्पण नहीं मानते। इसी प्रकार साहित्य-सिद्धान्त का प्रचार भी नहीं होता। जब उस पर सिद्धान्त का आरोप होता है, तब वह विघटित हो जाता है। सिद्धान्तों के समावेश से प्रचार-

1. *मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन* (डॉ. शिवकुमार मिश्र), पृ. 195-207.

वादी साहित्य ही बन सकता है, श्रेष्ठ साहित्य नहीं। एञ्जिल्स का विचार था कि सिद्धान्त के आरोपण से कलाकृति निस्सार हो जाती है। उसे स्वतःस्फूर्त होना चाहिए।

लेनिन व्लादीमीर ईलिच (Lenin Vladimir Ilyitch) (1870-1924) : लेनिन का जन्म सन् 1870 ई. में सिम्बर्स्क (अब उल्योनोव्) में हुआ था। यह नगर वोल्गा नदी के तट पर है। वहाँ पर लेनिन के पिता इन्स्पेक्टर ऑफ़ स्कूल्स थे। लेनिन का वास्तविक नाम व्लादीमीर ईल्यिच उल्यानोव् था; परन्तु अपने राजनीतिक कार्यों के लिए इन्होंने 'लेनिन' छद्म नाम रख छोड़ा था। सन् 1887 में इनके भाई को, ज़ार को मारने के षड्यन्त्र में, फाँसी दी गयी। इसी साल लेनिन को 'काज़न युनिवर्सिटी' से निकाल दिया गया। इन्होंने स्वाध्यायी छात्र के रूप में कानून की डिग्री ली; पर वकालत कभी नहीं की और बराबर क्रान्तिकारी साहित्य पढ़ते रहे जिसमें कार्ल मार्क्स का साहित्य प्रमुख था। सन् 1893 ई. में वे सेण्ट पीटर्सबर्ग (लेनिनग्राड) में चले गये और वहाँ मार्क्सवादी दल के नेता बन गये। 1896 में एक क्रान्तिकारी पत्र निकालने के अपराध में इन्हें कैद कर साइबेरिया भेज दिया गया। वहाँ उन्होंने इसी प्रकार क्रान्तिकारी विचारों के कारण साइबेरिया भेजी गयी 'नादेज़्दा कान्स्टैन्टिनोवा क्रुप्सकाया' से विवाह कर लिया। सन् 1900 में लेनिन को म्यूनिच में भेज दिया गया जहाँ पर देश-निकाला किये क्रान्तिकारी लोगों का समुदाय था। इस बीच ये लन्दन, जिनेवा आदि स्थानों में घूमते रहे। 1903 में रूसी साम्यवादियों के दो दल हो गये। एक बोल्शेविक जो शक्ति-प्रयोग से अधिकार-प्राप्ति के पक्ष में थे और दूसरे मेन्शेविक जो धीरे-धीरे नरमी से अधिकार-प्राप्ति के पक्ष में थे। लेनिन, देश से बाहर होते हुए भी बोल्शेविक दल के नेता थे। 1905 में जब सेण्ट पीटर्सबर्ग में आन्दोलन हुआ, तो वे वहीं चले गये। लेनिन के अनेक ग्रन्थ और लेख, जिनमें दर्शन और अर्थशास्त्र का गम्भीर ज्ञान है, क्रान्ति की प्रेरणा देनेवाले हैं। इस क्रान्ति के आन्दोलन के परिणामस्वरूप जिसमें लियों ट्राट्स्की इनके साथ थे, ज़ार का तख्ता पलटा और 1917 ई. में 'सोवियत रिपब्लिक' की स्थापना हुई तथा लेनिन उसके सर्वोच्च अधिकारी और डिक्टेटर हुए। उस समय जर्मनी से लड़ाई चल रही थी। 1918 में जर्मनी से शान्ति का समझौता हो गया। उसके उपरान्त सख्ती के साथ मार्क्सवादी आदर्शों के आधार पर देश का नवनिर्माण हुआ। निर्माण-कार्य पूरा करके सन् 1924 में मास्को के निकट गोर्की नामक स्थान में लेनिन की मृत्यु हुई। लेनिन का शरीर, रासायनिक लेप के साथ आज भी काँच की मंजूषा में मास्को स्थित क्रेमलिन के लाल चौक में रखा हुआ है। यह स्थान मार्क्सीय साम्यवादियों के लिए तीर्थस्थल और प्रेरणा का स्रोत है। लेनिन ने केवल सात वर्ष के शासनकाल में रूस को खण्डहरों से उठाकर दुनिया का एक सर्वोच्च शक्तिशाली राष्ट्र बना दिया। यह बात विश्व-इतिहास की एक आश्चर्यजनक उपलब्धि है।

लेनिन मार्क्सवादी विचारधारा को व्यावहारिक रूप देनेवाले अन्यतम चिन्तक थे। कला और साहित्य के प्रति उनकी गहरी रुचि थी। 'लियों तालस्तोय' के साहित्य

का कलात्मक विवेचन, उन्होंने विस्तार से किया है। उनके द्वारा तालस्तोय के समाज के यथार्थ चित्रण की जहाँ प्रशंसा की गयी है, वहीं उनके प्रतिक्रियावादी विचारों की आलोचना भी। तालस्तोय की ईसाइयत सम्बन्धी धार्मिक भावना लेनिन के विचार से समस्याओं का हल नहीं कर सकती। लेनिन के विचार से वह कला कला नहीं है जिसको कुछ लोग ही समझ सकें। कला वास्तव में जनता की थाती है और उसकी जड़ें श्रमशील जनता के बीच गहरी होनी चाहिए। वही कला या साहित्य है जिसे जनसाधारण समझे और प्यार करे। कर्मशीलता को जगानेवाली कला ही वास्तविक कला है। पूँजीवादी व्यवस्था में कलाकार परतन्त्र होता है। वह बाजार और ग्राहकों के लिए सृजन करता है। साम्यवादी क्रान्ति ने उसे मुक्त कर दिया है। अब कलाकार और साहित्यकार को अधिकार है कि वह बिना किसी की परवाह किये, स्वतन्त्रतापूर्वक सृजन करे और अपने आदर्शों का पालन करे। इसके साथ ही उनका यह भी विचार था कि जो सुन्दर है, उस कला और साहित्य की हम उसके पुराने होने पर भी रक्षा करें और उसके आधार पर नयी कलाकृतियों की रचना करें।

लेनिन कला को समाजवादी आदर्शों के अनुसार रचना करने की सलाह देते थे। वे उस आधुनिकता का साहित्य में विरोध करते थे जो क्रान्ति के आदर्शों के विपरीत, लोगों को निष्क्रिय और विलासी या व्यक्तिवादी बनाती है। साहित्य और कला में वे उन आदर्शों का चित्रण चाहते थे जिनके लिए समाजवादी क्रान्ति हुई थी। उनका यह भी मत था कि कलाकार को व्यक्तिगत प्रयास, रुचि और कल्पना का पूरा अधिकार है। वस्तु और रूपसम्बन्धी अभिरुचि में भी वह स्वतन्त्र है। परन्तु इसका उद्देश्य सामाजिक कल्याण होना चाहिए। उसे सामाजिक विकृतियों की पोल खोलकर, स्वस्थ और प्रगतिशील समाज के निर्माण में लगाना चाहिए।[1]

वास्तव में लेनिन, साहित्य और कला के अन्तर्गत यथार्थ सामाजिक जीवन का चित्रण एवं जनसामान्य के हितों को सर्वोपरि महत्त्व देते थे। उनका विचार था कि साहित्य और कला जनता की सम्पत्ति है अतः उसे जन-कल्याणकारी होना ही चाहिए। वह विकृत समाज को बदलने के लिए तीक्ष्ण शस्त्र का काम करे, यही अभीष्ट है।

लियों ट्राट्स्की (Leon Trotsky) (1879-1940) : ट्राट्स्की का जन्म सन् 1879 में यूक्रेन के यानोव्का स्थान में एक यहूदी किसान के पुत्ररूप में हुआ था। उनका असली नाम लेव दाविदोविच ब्रान्स्टीन था। सन् 1900 और 1905 में क्रान्तिकारी गतिविधियों में भाग लेने के कारण इनको कारावास हुआ। ये अपने मूल स्थान से भागकर पेरिस, वियना, स्विट्जरलैण्ड आदि स्थानों में रहे जहाँ के लोग इन्हें क्रान्ति के सिद्धान्तों का उपदेश देनेवाले और कलम के सहारे रहनेवाले व्यक्ति के रूप में जानते थे। 1917 में ये न्यूयॉर्क में थे जहाँ इन्हें ज़ारशाही के समाप्त होने की सूचना मिली। ये वहाँ से रूस आने के लिए चले, पर इंगलैण्ड में ये गिरफ्तार करके एक माह तक रोक लिये गये। ये पेट्रोग्राड (लेनिनग्राड) में आये जिस समय

1. *मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन* (डॉ. शिवकुमार मिश्र), पृ. 207-210.

'केरेन्स्की' कामचलाऊ रूसी शासन को सँभाल रहे थे। ट्राट्स्की लेनिन के साथ हो गये जो बोल्शेविक दल के नेता थे। इनके आग उगलनेवाले भाषणों और अथक शक्ति से क्रान्तिकारी कदम उठाने के उपदेशों ने, इन्हें शीघ्र ही अगली पंक्ति के नेताओं में प्रतिष्ठित कर दिया। 1917 में लेनिन के प्रशासन सँभालने पर, ये विदेशमन्त्री और युद्ध के मन्त्री बने तथा इन्होंने लाल-सेना संगठित की जिसने अनेक बार बोल्शेविक सरकार का तख्ता पलटने का प्रयत्न करनेवाले सैनिक-अभियानों को परास्त किया। लेनिन के समय में ये प्रमुख कार्य करनेवाले व्यक्ति रहे। 1924 में लेनिन की मृत्यु के उपरान्त इनका प्रभाव कम हो गया और स्टेलिन के साथ इनका जोरदार संघर्ष हुआ। वैचारिक मतभेद भी हो गया। परिणामस्वरूप 1927 में ये कम्यूनिस्ट पार्टी से निकाल दिये गये और 1929 में इनका देश-निकाला हो गया। पर इनका लेखन चालू रहा। अपने उग्र विचारों के कारण ये यूरोप के अनेक देशों से निकाले गये और अन्त में मेक्सिको में बस गये। 1940 में इन पर कुल्हाड़ी से जोरदार प्रहार किया गया जिससे इनकी मृत्यु हो गयी।

ट्राट्स्की बड़े क्रान्तिकारी विचारक थे। कला और साहित्य-सम्बन्धी इनके विचार भी बड़े महत्त्व के हैं जो इनके लेख 'दि लिमिटेशन ऑफ़् फार्मलिज़्म' में मिलते हैं। उनके विचार से कला समाज का अनुसरण करनेवाली तथा ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी है। यह मनःस्थितियों के चित्रण के लिए भी अपेक्षित शब्द और लय खोज लेती है। वह भावनाओं का परिष्कार करती है तथा व्यक्ति और समाज के आन्तरिक अनुभवों को समृद्ध बनाती है। वह व्यक्ति, वर्ग, समुदाय, समाज और समूचे राष्ट्र को शिक्षित करती है। उनका विचार था कि मार्क्सवादी विचारधारा में केवल सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कलाकृतियों का ही सम्मान नहीं है, वरन् विशुद्ध कलाकृतियों को भी उसमें स्थान दिया जाता है, क्योंकि उनसे साहित्यिक परम्पराओं और ऐतिहासिक प्रेरणाओं का पता चलता है।

ट्राट्स्की के विचार से कवि और कलाकार किसी भी विषय पर लिखने के लिए स्वतन्त्र हैं; पर उनकी रचना समय की प्रगति और जीवन्त विचारों की वाहक होनी चाहिए। इस दृष्टि से वे प्रतीकवाद को, बाह्य यथार्थ से पलायन करनेवाली कला-पद्धति मानते थे, जो केवल कल्पना-लोक का निर्माण करती है, अतः शिल्प की एक निष्क्रिय पद्धति है। वे यथार्थवाद के बहुआयामी चित्रण के पक्षपाती थे। नयी कला उसी को लेकर चलेगी। यथार्थवाद एक जीवन-दर्शन है जो कला को प्रेरणा देता है।[1]

मार्क्सवादी दृष्टिकोण से कला और साहित्य पर विचार करनेवाले प्रमुख नाम हैं— जी.वी. प्लेखानोव, ए.वी. लूनाचर्स्की, मैक्सिम गोर्की, क्रिस्टोफर काडवेल, राल्फ फाक्स, हावर्ड फास्ट, जार्ज लूकाच, अर्न्स्ट फिशर आदि। इनका मुख्य दृष्टिकोण साहित्य और कला के सम्बन्ध में मार्क्सवादी सिद्धान्तों के आधार पर विचार करने का है। यह दृष्टिकोण

---

1. *मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन*, पृ. 225-227.

मूलतः वस्तुवादी और उपयोगितावादी हैं। कला और साहित्य जिस सीमा तक समाज और व्यक्ति को प्रगतिमय जीवन की प्रेरणा दे सकते हैं, तथा आगे बढ़ने के लिए आदर्शों की स्थापना कर सकते हैं, उसी सीमा तक उनकी उपयोगिता और महत्त्व है। उसकी रूप-रचना और विधा आवश्यकतानुसार कुछ भी हो सकती है। पर समाजोपयोगी होने के लिए उसे अतिशय बौद्धिक, चमत्कारी तथा अस्पष्ट और वायवी नहीं होना चाहिए। इनमें से **प्लेखानोव** ने तालस्तोय तथा अन्यों के धार्मिक और कलावादी दृष्टिकोण का खण्डन कर श्रम पर आधारित सौन्दर्यात्मक विशेषताओं को स्पष्ट किया है। सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण भी निजी और व्यक्तिवादी नहीं होना चाहिए, उसे समाजपरक होना आवश्यक है। उनका स्पष्ट मत है कि कला का दायित्व है कि वह मानव-चेतना के विकास और सामाजिक व्यवस्था में सुधार के लिए सक्रिय हो। इतना होने पर भी कला और साहित्य को पूर्णतः प्रचारवादी नहीं होना चाहिए। **लूनाचर्स्की** का दृष्टिकोणं वस्तुपरक होने के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक है। रूप-तत्त्व के सम्बन्ध में उनका मत है कि उसे वस्तु-तत्त्व के अनुरूप होना चाहिए। उनका यह भी कहना है कि रूप-तत्त्व, वस्तु-तत्त्व और विचार-तत्त्व को एक-दूसरे से घुल-मिलकर एक हो जाना चाहिए, तभी कला या साहित्य की सार्थकता है। वे उसी रचना को महत्त्वपूर्ण मानते हैं, जो जन-जन के हृदयों को प्रभावित कर सके। उनके विचार से समीक्षक एक शिक्षक के समान है, जो लेखक को नया ज्ञान और नयी दृष्टि तथा पाठक को कृति का ठीक आस्वादन कर उसकी रुचि का परिष्कार करने में सहायक हो।[1]

उपर्युक्त चिन्तकों में विशेष महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय हैं—मैक्सिम गोर्की, क्रिस्टोफर काडवेल और जार्ज लूकाच। इन पर हम अलग-अलग चर्चा करेंगे। अन्य विचारकों ने अपने निजी अनुभव और दृष्टिकोण से मार्क्सवादी साहित्य-कला-सम्बन्धी सिद्धान्तों की व्याख्या की है।

मैक्सिम गोर्की (Maxim Gorky) (1868-1936) : गोर्की का जन्म 16 मार्च 1868 को निज्हनीय नोवगोरोद में हुआ, जो आगे चलकर गोर्की नाम से प्रसिद्ध हो गया। इनके पिता बढ़ई थे। 11 वर्ष की आयु में ही ये काम करने लगे। सन् 1884 में इनका सम्पर्क मार्क्सवादियों के साथ हुआ। उनके साथ कार्य करने के कारण 1888 में इन्हें कैद कर लिया गया। 1891 में देश का भ्रमण करने निकले तथा 1892 में इनकी पंहली कहानी प्रकाशित हुई। उसके बाद ये कविता, कहानी और उपन्यास लिखते रहे। कुछ उपन्यासों में इन्होंने शहर के धनी और गाँवों के निर्धन लोगों का वर्णन किया है। 1900 के आसपास इनका परिचय तालस्तोय और चेख़व से हुआ। इसके बाद ये क्रान्तिकारी आन्दोलन में भाग लेने लगे। 1901 में ये कैद कर देश के बाहर भेज दिये गये। इन्होंने नाटक भी लिखे तथा समाचारपत्र 'नया जीवन' के प्रकाशन में सहयोग दिया। 1905 में गोर्की का सम्पर्क लेनिन से हुआ। 1906 में अमेरिका गये और वहाँ की बुर्जुवा संस्कृति पर पुस्तकें लिखीं।

1. विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये डॉ. शिवकुमार मिश्र का ग्रन्थ *मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन।*

लेनिन, गोर्की के साहित्य के बड़े प्रशंसक थे। 1906 में इनकी विश्वविख्यात कृति *'मां'* का प्रकाशन हुआ। इस बीच इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे। अक्टूबर-क्रान्ति के बाद इन्होंने 'विश्व-साहित्य' नाम से प्रकाशन-गृह की स्थापना की। 1921 में अस्वस्थ होकर इलाज कराने विदेश गये। 1924 में इटली में रहे। गोर्की विदेश से 1931 में लौटे। गोर्की की अन्तिम कृति जो 1925 में आरम्भ हुई थी वह अधूरी ही रही और 1936 में इनका देहावसान हो गया। इसमें रूस के वातावरण का विस्तार से चित्रण है। गोर्की के साहित्य ने संसारभर में प्रगतिशील साहित्य को प्रभावित किया। वे एक महान् लेखक थे।

रचनात्मक प्रतिभा के लेखक होने के साथ-साथ गोर्की साहित्य एवं कला के विशद विचारक थे। उन्होंने अपने विचार 1934 ई. में आयोजित रूसी लेखकों के सम्मेलन में विस्तार के साथ प्रकट किये थे। ये विचार ग्रन्थरूप में भी प्रकाशित हैं।[1] साहित्य के सम्बन्ध में उनके कुछ महत्त्वपूर्ण विचार-बिन्दु इस प्रकार हैं—

1. साहित्य-रचनाकार को अपने साहित्य के इतिहास का ज्ञान होना अपेक्षित है। इसके साथ अन्य भाषाओं के साहित्य की जानकारी भी उपयोगी होती है; क्योंकि उसके आधार पर उसे यह ज्ञान हो जाता है कि सारे विश्व में ऐसी बातें पाई जाती हैं जो मानवता को एक सूत्र में बाँधती हैं। इसके साथ ही यह भी पता चल जाता है कि मानवता की प्रगति में बाधक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का विरोध किस प्रकार करती है। ऐसा करने से साहित्यकार मानवीय श्रम और सर्जना के इतिहास से भी परिचित हो जाता है।
2. साहित्य-रचना की कला के लिए कल्पना, ज्ञान और नयी दृष्टि आवश्यक होती है। कल्पना को उन्होंने बिम्बों में विचार करने की क्रिया माना है। ज्ञान का तात्पर्य जीवन का वास्तविक अनुभव तथा मानव-संस्कृति के इतिहास का ज्ञान है तथा नयी दृष्टि से अभिप्राय वर्तमान सन्दर्भों में विवेचित और प्रस्तुत करने की विशेषता।
3. गोर्की ने यथार्थवाद और स्वच्छन्दतावाद पर भी अपने विचार स्पष्ट रीति से प्रकट किये हैं। सामान्य जनों और उनकी परिस्थितियों का सच्चा और यथातथ्य प्रस्तुतीकरण यथार्थवाद है। स्वच्छन्दतावाद की कोई परिभाषा न देते हुए उनका विचार है कि वह दो प्रकार का है—एक निष्क्रिय स्वच्छन्दतावाद और दूसरा सक्रिय स्वच्छन्दतावाद। निष्क्रिय स्वच्छन्दतावाद मनुष्य को बाह्य जीवन से अलग करके, केवल अन्तर्जगत् में सीमित कर देता है तथा ऐसे प्रश्नों में उलझा देता है जिसका कोई समाधान नहीं है—जैसे प्रेम, मृत्यु आदि। सक्रिय स्वच्छन्दतावाद उस भावुकता को

1. Maxim Gorky : *On Literature,* Foreign Language Publishing House, Moscow.

जगाता है जो आगे बढ़ने और अपनी परिस्थितियों से जूझने तथा उन्हें बेहतर बनाने की प्रेरणा देती है। महान् कलाकारों में यथार्थवाद और स्वच्छन्दतावाद दोनों के तत्त्व अपने आवश्यक अनुपात में दूध और पानी की तरह मिले रहते हैं। स्वच्छन्दतावाद से नीरस जीवन में सरसता का संचार होता है।

4. भाषा के सम्बन्ध में गोर्की का स्पष्ट मत है कि जन-सामान्य के बीच प्रचलित भाषा और साहित्य की भाषा में कोई अन्तर नहीं है। भाषा को वे जनता द्वारा निर्मित वस्तु ही मानते हैं। जनभाषा कच्चे माल की तरह होती है। समर्थ साहित्यकार और रचनाकार उसका परिष्कार कर साहित्य में उपयोग करते हैं।
5. गोर्की की विचार से मनुष्य ही सारे विचारों और भावों का स्रष्टा है। वह प्रकृति की सम्पूर्ण शक्तियों का स्वामी है। संसार में जो कुछ भी सुन्दर और श्रेष्ठ है, वह मानव-श्रम की उपज है। श्रम की प्रक्रिया ही, सारे भावों और विचारों का उद्गम है। यह संसार मनुष्य की कल्पना, विवेक और अनुमान का मूर्त रूप है।[1] स्वयं ईश्वर भी मनुष्य के मानस का आविष्कार है। वे कहते हैं कि मैं स्वतः अपनी आकृति के प्रति मनुष्य के असन्तोष को एवं उसे और भी समुन्नत बनाने की उसकी इच्छा को सर्वाधिक पवित्र एवं सात्त्विक भावना के रूप में ग्रहण करता हूँ।
6. लोकगीतों और लोकसाहित्य को भी गोर्की ने महत्त्वपूर्ण माना है। लोकगीत श्रम में लगी जनता के वास्तविक इतिहास और स्थिति की जानकारी देने के प्रबल स्रोत हैं। लोकगीतों ने संसार के महान् साहित्य को प्रेरणा दी है और उसे प्रभावित किया है। लोकसाहित्य, पुराणकथाओं, दन्तकथाओं की रचना कल्पना के सहारे होती है; पर यह कल्पना यथार्थ में निहित किसी मूलभूत भाव, विचार या सत्य को लेकर चलती है।
7. गोर्की लेखक के लिए यह भी आवश्यक मानते हैं कि वह जीवन के ऊपरी रूप को देखने के बजाय, यथार्थ जीवन के प्रति एक गहरी अन्तर्दृष्टि विकसित करें।
8. 'एक पाठक' कहानी में गोर्की ने लेखक और पाठक के संवाद के माध्यम से बताया है कि साहित्य का उद्देश्य मनुष्य को अपने को समझने में मदद करना है; उसके आत्मविश्वास को जगाना और सत्य की खोज के लिए प्रेरित करना, लोगों की अच्छाइयों का उद्घाटन करना और बुराइयों का उन्मूलन करना तथा लोगों के हृदय में साहस पैदा करना, शक्ति बटोरने

---

1. *मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन* (डॉ. शिवकुमार मिश्र), पृ. 259-60.

में उनकी मदद करना तथा सौन्दर्य की पवित्र भावना से लोगों के जीवन को शुभ बनाना है।

इसके अतिरिक्त जो ह्रास, कुण्ठा, निराशा, कायरता, दासता और आलस्य मानव के भीतर आकर समाया हुआ है उसे दूर करना भी उसका उद्देश्य है—चाहे उसके लिए उसे तीव्र प्रहार करने पड़ें या प्रेम और दुलार के द्वारा उन्हें दूर किया जाय और उनके भीतर उत्साह भरा जाय।

इस प्रकार गोर्की के विचार मानव-जीवन और समाज को उदात्त प्रेरणा देनेवाले तथा उसे प्रगति की ओर ले जाने के उत्साह से भर देनेवाले हैं। उनके विचार साहित्य-सर्जना को एक प्रबल शक्ति प्रदान करते हैं।

क्रिस्टोफर काडवेल (Christopher Caudewell) (1907-1937) : क्रिस्टोफर काडवेल का जन्म 20 अक्टूबर 1907 को पुतनी (Putney) में हुआ था। उनकी स्कूली शिक्षा ईलिंग के 'बेनी डिक्टाइन' स्कूल में हुई थी। 16 वर्ष की अवस्था में इन्होंने स्कूल छोड़ दिया और 'यार्कशायर ऑब्जर्वर' नामक पत्र में संवाददाता के रूप में काम करने लगे। उसके बाद ये लन्दन आ गये और 'एरोनॉटिकल पब्लिशर' नामक कम्पनी में सम्पादक के रूप में काम करने लगे एवं बाद में उसके डायरेक्टर हो गये। इसी बीच इन्होंने इंजन से सम्बद्ध कुछ पुरजों की ईजाद की। इन्होंने पाँच पुस्तकें 'एरोनॉटिक्स' पर, सात जासूसी उपन्यास, कुछ कवितायें और कुछ कहानियाँ लिखीं। ये सब रचनायें 25 वर्ष की अवस्था के पहले लिखी जा चुकी थीं। सन् 1934 में इन्होंने मार्क्सवाद पर कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अध्ययन किया। आगे चलकर इन्होंने मार्क्स, ऐंजिल्स और लेनिन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पढ़े। तदनन्तर इन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ *इल्यूज़न ऐण्ड रियलिटी* की रचना की। इन्होंने कुछ निबन्ध लिखे जो *स्टडीज़ इन ए डाइंग कल्चर* शीर्षक से प्रकाशित हुए। इन्होंने *दि क्राइसिस इन फिज़िक्स* पुस्तक भी लिखी। इसी बीच स्पेन में गृहयुद्ध शुरू हो गया। इसमें काडवेल सम्मिलित हो गये। कुछ समय बाद ये 'इण्टरनेशनल ब्रिगेड' में भर्ती हो गये। इसी के एक युद्ध में 'जरामा' में 12 फरवरी 1937 ई. में ये मारे गये। इनकी अधिकांश पुस्तकें मरणोपरान्त प्रकाशित हुईं। *इल्यूज़न ऐण्ड रियलिटी* के सम्बन्ध में प्रोफेसर हाल्डेन का मत था कि साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में यह पुस्तक एक नितान्त नया मोड़ उपस्थित करती है। मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन पर यह एक पूर्ण एवं महत्त्व की पुस्तक है। काडवेल एक प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। वे मौलिक चिन्तक के साथ-साथ क्रियाशील पुरुष थे। यदि वे जीवित रहते, तो निश्चय ही कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखते जो नया इतिहास बनाते। उनकी मृत्यु विश्व के लिए एक अत्यन्त शोकपूर्ण घटना है।

काडवेल का मत है कि कविता मानव-मन की आदिम सौन्दर्यपरक क्रिया है। इसके अलग अस्तित्व का प्रमाण इसलिए नहीं मिलता, क्योंकि प्राचीन युग में धर्म, इतिहास, विधि, तन्त्र आदि समस्त ज्ञान-शाखाओं की अभिव्यक्ति साहित्य के द्वारा

ही होती थी जो छन्दोमय लयात्मक होती थी। यूनान, रोम, चीन, जापान, मिश्र और भारत के प्राचीन ग्रन्थ इस बात के प्रमाण हैं। उस समय की कविता, लय, छन्द, तुक उपमा-रूपक अलंकारमय रचना हुआ करती थी। उस समय, विशेष अवसरों पर ओजपूर्ण भाषा ही काव्य का रूप धारण करती थी। सामूहिक ज्ञान का ओजपूर्ण भाषा में प्रकाशन ही कविता होती थी। काडवेल के विचार से कविता उस समय, जातीय और राष्ट्रीय न होकर तत्त्वतः आर्थिक अभिव्यक्ति थीं।[1]

कविता उस समय गीत के रूप में थी, जो सामूहिक रीति से गायी जाती थी और सामुदायिक भावना का प्रकाशन करती थी। वह नृत्य, अनुष्ठान और संगीत के साथ चलती थी[2] तथा वह कार्य और परिश्रम को मधुर बनाती थी। अतः इसका मूलतः सम्बन्ध, श्रम-कार्यों और आर्थिक क्रिया-कलाप से था। आदिम कविता न तो वस्तुगत या पदार्थगत वास्तविकता है और न आदर्श कल्पना ही; वरन् वह सामाजिक वास्तविकता है। उस समय कविता और धर्म एक-दूसरे से ओतप्रोत हैं। पर आगे चलकर कविता और धर्म अलग-अलग हो जाते हैं; क्योंकि कविता प्रत्येक युग में परिवर्तनशील है, जबकि धर्म परिवर्तनशील नहीं। आधुनिक कविता धर्म, इतिहास, विज्ञान, विधि आदि ज्ञान-शाखाओं से भिन्न है। काडवेल के अनुसार उसकी विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(क) कविता लयात्मक होती है। यह लयात्मकता सहज है, आरोपित नहीं, क्योंकि हमारे हृदय की गति और श्वास-प्रश्वास भी नियमित और लयात्मक होते हैं। साथ ही साथ समूह का पारस्परिक भाव-संवाद लय के द्वारा ही भली प्रकार होता है, क्योंकि उससे पुनरुक्ति की सुविधा और स्मरणीयता बढ़ती है। गद्य में यह नहीं होता।

(ख) कविता का अनुवाद कठिन होता है। हम यह बराबर देखते हैं कि कविता के अनुवाद से उस गहराई के साथ भाव-संचार नहीं होता जितना मूल रचना से होता है। अर्थ और छन्द का अनुवाद हो सकता है, पर करते समय मूल भाव उड़ जाता है। जहाँ तथाकथित कविता का अनुवाद प्रभावशाली दिखता है; वहाँ पर वह अनुवाद न होकर मूल कविता की पुनः सृष्टि होती है।

(ग) कविता अतर्कशील (Irrational) होती है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि कविता असंगत और अनर्गल होती है। इसका यही अर्थ है कि दर्शन और विज्ञान के समान उसमें तर्क का आधार महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह भावात्मक होती है और संगति बाह्य पदार्थों से न होकर, आन्तरिक भावना या वास्तविकता से होती है।

(घ) कविता शब्दगत रचना होती है। कविता में नये भाव या विचार प्रधान

---

1. *इल्यूज़न ऐण्ड रियलिटी,* पृ. 15.
2. वही, पृ. 25.

होते हैं; पर उसमें मौलिक प्रधानता शब्दों की होती है। उस शब्द के स्थान पर दूसरा समानार्थी शब्द रख देने से कविता का चमत्कार समाप्त हो जाता है। अतः कविता शब्दगत रचना होती है; क्योंकि उसका कौशल शब्दों के चयन और उनके सही प्रयोग में ही देखा जा सकता है।

(ङ) कविता अप्रतीकात्मक होती है। यहाँ काडवेल का तात्पर्य है बाह्य प्रतीकों से रहित। प्रतीक का तात्पर्य है सदा निश्चित अर्थ देनेवाला प्रतीक, जैसे गणित या समाजशास्त्र में होता है। झण्डा किसी राष्ट्र का प्रतीक है और सदा रहता है। इन अर्थों में कविता प्रतीकात्मक नहीं है; पर उसमें मानसिक, परिवर्तनशील एवं सन्दर्भभरे प्रतीक तो रहते ही हैं।

(च) कविता साकार होती है, निराकार नहीं। वह हमारी भावना के अनुरूप ठोस वस्तुओं को हमारे मानस-पटल पर प्रस्तुत करती है।

(छ) कविता घनीभूत संवेगों से युक्त होती है। कविता के संवेग, भावात्मक और सौन्दर्यात्मक होते हैं जिनमें प्रभाव डालने की क्षमता होती है।[1]

काडवेल कला को प्रयत्न और संघर्ष से उत्पन्न तत्त्व मानते हैं। समाज में वास्तविकता और काल्पनिकता में संघर्ष रहता है; पर यह संघर्ष मानसिक नहीं। यह सामाजिक समस्या है जिसका हल कलाकार ही समाज के लिए निकालता है। काडवेल का विचार है कि कला और संस्कृति गतिशील होती है। यह बात कला और संस्कृति के इतिहास से भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है। सभी कलाओं का स्वरूप अपने समय के समाज की स्वतन्त्रता-सम्बन्धी भावना से निर्मित होता है। कला स्वतन्त्रता की एक शैली है।

यों तो सभी वस्तुयें नष्ट होती रहतीं और उत्पन्न होती रहती हैं; पर कला-तत्त्व तब तक बना रहता है, जब तक मनुष्य रहता है। जब मनुष्य व्यर्थ के निष्फल संघर्षों में विघटित होकर जर्जर हो जाता है और समाज की गति रुक जाती है, तब कला का फ़व्वारा भी लड़खड़ाने लगता है। परन्तु स्थायी सात्त्विकतायें अपने अन्तःकरण से कला की समृद्धि को जन्म देती हैं, इसलिए नहीं कि वे स्थायी हैं; वरन् इसलिए कि परिवर्तन ही उनकी सत्ता की शर्त है। इस प्रकार कला मनुष्य का आत्मसाक्षात्कार है और इस प्रकार वह मनुष्य के जीवित होने की एक वास्तविकता है।[2]

काडवेल का मत है कि कलाकार सत्य और सौन्दर्य की सृष्टि उन्हें साध्य मानकर नहीं करता, वरन् उसके लिए ये तत्त्व यथार्थ की जीवन्त गतिशीलता के अंग हैं। सच्ची सौन्दर्य-भावना का उद्भव वर्गविहीन, शोषणमुक्त समाज में ही सम्भव हो सकता है। तभी श्रम सौन्दर्यमण्डित होगा।[3]

---

1. *इल्यूज़न ऐण्ड रियलिटी,* पृ. 105-14, अध्याय VII.
2. *इल्यूज़न ऐण्ड रियलिटी,* पृ. 248, अध्याय XII.
3. *फरदर स्टडीज़ इन ए डाइंग कल्चर,* पृ. 113.

जार्ज लूकाच (George Lukacs) : जार्ज लूकाच का प्रमुख अवदान यथार्थवाद की मार्क्सवादी व्याख्या करना है। इस प्रसंग में उनका दृष्टिकोण हमें आज की आशामयी प्रेरणा प्रदान करता है। आज परमाणु-युद्ध के खतरे से सारा विश्व आतंकित है। सारे विश्व में अस्तव्यस्तता और नैतिक पतन, हिंसा और आतंकवाद दिखलायी देता है। इससे निराशावाद ही चारों ओर है तथा प्रत्येक व्यक्ति संसार के विनाश और मानव-संस्कृति के विघटन पर दुःखी है। परन्तु मार्क्सवाद इस सारे विघटन और विनाश की आशंका के बीच एक नयी दुनिया के उद्भव को देख रहा है। क्योंकि वह इसे इतिहास की एक प्रक्रिया के रूप में ग्रहण कर रहा है।

लूकाच के अनुसार मनुष्यता की सम्पूर्ण विरासत के प्रति मार्क्सवाद की गहरी रुचि और संरक्षण की भावना है। आज के आधुनिकतावादी, अतीत से कटे हुए हैं। इस अतीत की विरासत का, सौन्दर्यशास्त्र अर्थात् कला और साहित्य से सीधा सम्बन्ध है—उतना ही जितना कि जीवन के अन्य क्षेत्रों से। यह अतीत की विरासत जो हमें कलाओं और साहित्य के माध्यम से प्राप्त होती है, एक समग्र समाज एवं समग्र मानव के निर्माण के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि और सामग्री प्रदान करती है। अतः वह कला और साहित्य ही है जो मनुष्य के विकास के इतिहास को समग्रता में प्रदर्शित करता है, अतः हमारे नव-निर्माण में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। लूकाच के विचार से कला, मानव की सामाजिक और नैतिक समस्याओं से गहराई तक जुड़ी रहती है। अतः वह हमारे लिए सामग्री का स्रोत भी है, तथा नव-निर्माण का माध्यम भी। लूकाच के विचार से प्रत्येक महान् ऐतिहासिक युग, संक्रान्ति का युग होता है। लूकाच का विचार-बिन्दु विशेष रूप से उपन्यास है, फिर भी उनके विचार बड़े महत्त्वपूर्ण, मौलिक एवं नई प्रेरणा देनेवाले हैं।[1]

मार्क्सवादी विचारकों में 'अन्स्र्ट फिशर' का भी योगदान उल्लेखनीय है। उनके विचार से कला की स्थिति उतनी ही पुरानी है जितनी कि मनुष्य की। कला भी, मनुष्य के अनेक कर्मों में से एक है। कर्म करना, यह मानव की ऐसी विशेषता है जो उसे अन्य प्राणियों से अलग करती है। इसी के आधार पर उसने प्रकृति के तत्त्वों और पदार्थों का दोहन कर उनसे नयी शक्ति और ऊर्जा का विकास किया। इसी कर्म के आधार पर मानव-सभ्यता आगे बढ़ती रही। मानव-समाज की दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि भाषा है। यह भी मानव-शक्ति की अनोखी उपलब्धि है। फिशर के अनुसार कला के सृजन में उसका उद्देश्य अपनी शक्तियों में वृद्धि तथा जीवन को अधिक समृद्ध बनाना है। कला समूह की उपज है। भाषा, नृत्य, गीत आदि सामाजिक क्रिया के रूप में ही प्रकट हुए हैं।

कला की आवश्यकता मनुष्य-समाज के लिए अनिवार्य है क्योंकि मनुष्य जो कुछ है, उसके आगे और कुछ होना चाहता है। खण्ड जीवन के स्थान पर वह सम्पूर्ण जीवन का आकांक्षी है। कला व्यक्ति को समग्र से एक करने का महत्त्वपूर्ण साधन है। कला का

---

1. *मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन,* पृ. 297-310.

सम्बन्ध यथार्थ एवं वस्तुपरकता है। कला का मूल दायित्व एक सम्पूर्ण मनुष्य को सक्रिय करना है। उसे व्यक्ति को इस रूप में सम्प्रेषित करना है कि वह दूसरों के जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित कर सके तथा उसे प्राप्त कर सके जो इस समय उसके पास नहीं है और जिसे प्राप्त करने की उसकी क्षमता है।

फिशर के विचार से स्वच्छन्दतावाद, प्रभाववाद, प्रकृतिवाद, प्रतीकवाद, रहस्यवाद आदि पूँजीवादी व्यवस्था के कला-आन्दोलन हैं जिनसे कलाकार व्यापक समाज के लिए अपने दायित्व को पूरा नहीं कर पाता। समाजवादी कलाकार इसी दायित्व के लिए रचना करता है। कुछ विषयों पर इनके विचार विवादास्पद भी हैं।[1]

इस प्रकार मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन का मूल उद्देश्य कला और साहित्य की समाजपरकता तथा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उसकी अवधारणा के साथ सर्जना माने जा सकते हैं। कला और साहित्य विचारधारा का ही एक अंग है। मनुष्य उस विचारधारा का केन्द्रबिन्दु है। इस चिन्तन में जहाँ एक ओर परम्परा-बोध है, वहीं दूसरी ओर यथार्थ-बोध भी आवश्यक है। इतिहास, परम्परा-बोध एवं यथार्थ-बोध के आधार पर सामाजिक दृष्टि से यथार्थ चित्रण वांछनीय है।

(ख) मनोवैज्ञानिक कला-साहित्य-चिन्तन

आधुनिक युग में जिस प्रकार राजनीति और आर्थिक व्यवस्था पर मार्क्सवाद का प्रभाव पड़ा है, उसी प्रकार कला, साहित्य और समाज पर मनोवैज्ञानिक खोजों तथा नये-नये मनोविश्लेषण-सिद्धान्तों का बड़ी गहराई से प्रभाव पड़ा है। साहित्य का सम्बन्ध मानव-मन से है। साहित्य जो विभिन्न चरित्रों का चित्रण करता है, वह किसी न किसी मनोवैज्ञानिक आधार पर होता है। साहित्यकार को उसका ज्ञान हो या न हो, पर उसके चित्रणों में मानव-मन के क्रिया-कलाप ही यथार्थ अथवा काल्पनिक रूप में प्रतिबिम्बित होते हैं। चाहे कविता हो, चाहे कथा-साहित्य अथवा चित्रकला या मूर्तिकला, सभी मानव-मनःस्थितियों का ही चित्रण करती हैं। मनुष्य के भीतर काम और अहम् की प्रवृत्ति बड़ी व्यापक और बड़ी गहरी होती है। ये प्रवृत्तियाँ दो रूप में हमारे सामने आती हैं—एक सहज, स्वाभाविक रूप में और दूसरे विकृत रूप में। मानव-जीवन में संघर्ष और टकराव की स्थिति इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण बनती हैं। साहित्य में भी जो युद्ध, संघर्ष, दुर्व्यवहार और सदाशयता आदि के चित्रण होते हैं, वे मानव की मानसिक क्रियाओं का आधार लेकर चलते हैं। साहित्य और कलाओं में इस प्रकार के चित्रण तो आदिकाल से चले आते हैं, पर इन चित्रणों के मनोवैज्ञानिक कारणों पर प्रकाश आधुनिक युग के चिन्तकों ने डाला। उन्होंने जहाँ एक ओर जीवन के विभिन्न संघर्षों, द्वन्द्वों और टकराव के विश्लेषण द्वारा अपने सिद्धान्तों का निरूपण किया; वहीं साहित्य और कलाओं की सृजन-प्रेरणा-प्रक्रिया और सृजन के स्वरूप में भी मनोवैज्ञानिक नियमों को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया। यद्यपि इनके मत अलग-अलग

1. *मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन*, पृ. 322-23.

अतिरेकों को लेकर चलते हैं, फिर भी उनमें जीवन के सत्य का स्वरूप स्पष्ट होता है। साहित्य का प्रतिपाद्य भी जीवन का सत्य और जीवनगत सत्य है, अतः ये मनोवैज्ञानिक नियम और सिद्धान्त साहित्य की रचना और उसके विश्लेषण के लिए बड़े उपादेय सिद्ध हुए तथा व्यापक रूप से इनका प्रभाव सारे विश्व के साहित्य पर गहराई के साथ पड़ा।

यद्यपि मनोवैज्ञानिक अध्ययन और अनुसन्धान-विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा बन गयी है और उसमें योगदान करनेवाले असंख्य मनोवैज्ञानिक हैं, फिर भी जिनके सिद्धान्तों ने कला और साहित्य को अतिशय प्रभावित किया है, ऐसे विचारकों में सिगमण्ड फ्रायड, ऐल्फ्रेड एलडर, कार्ल जुंग, मैक्डूगल, हैवलाक एलिस आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनके विश्लेषणों ने न केवल कला और साहित्य को गहराई से प्रभावित किया है, वरन् उसे एक नयी दिशा और प्रेरणा भी प्रदान की है। आगे हम इनके विचारों का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण तथा मनोविज्ञान की धारा के प्रवर्तक सिगमण्ड फ्रायड माने जाते हैं।

सिगमण्ड फ्रायड (Sigmund Freud) (1856 से 1939) : फ्रायड का जन्म सन् 1856 ई. में आस्ट्रिया के मुराविया नगर के यहूदी परिवार में हुआ था। पर इनका पालन-पोषण चार वर्ष की अवस्था से वियना में हुआ। वहीं इनकी शिक्षा-दीक्षा हुई और सन् 1881 ई. में इन्होंने चिकित्सा-विज्ञान में एम.डी. की डिग्री प्राप्त की। कुछ समय तक वियना के जनरल हॉस्पिटल में काम किया। 1885-86 में पेरिस में अध्ययन हेतु गये और 1886 में ही वियना विश्वविद्यालय में व्याख्याता नियुक्त हुए। उसके बाद इनके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त प्रकाश में आने लगे। उनका प्रतिरोध भी हुआ, फिर भी इन्हें 1902 में न्यूरोलॉजी का असाधारण प्रोफेसर (Professor Extraordinary) बना दिया गया। 1920 में उन्हें पूरी प्रोफेसरशिप मिल गयी, जिस पर ये 1938 तक कार्य करते रहे। 1938 में आस्ट्रिया को जर्मनी में मिला लिया गया। उस समय ये अस्वस्थ हो गये। यहूदी होने के कारण इनका पुस्तकालय नाज़ियों ने जला दिया। इनकी प्रयोगशाला नष्ट कर दी और इनका प्रकाशन ध्वस्त कर दिया। उस समय किसी प्रकार से इन्हें 82 वर्ष की वृद्धावस्था में लन्दन ले जाया गया। वहाँ इनका सम्मान किया गया और रॉयल सोसायटी का फेलो बना दिया गया। एक वर्ष तक वहाँ ये शान्तिपूर्वक कार्य करते रहे। 1939 में द्वितीय महायुद्ध के छिड़ जाने के तीन महीने बाद इनका देहावसान हो गया।

फिर भी फ्रायड के ग्रन्थों से मनोविश्लेषण का एक जबरदस्त औज़ार चिकित्सकों को मिल गया जिसका आज तक उपयोग हो रहा है। फ्रायड की मनोवैज्ञानिक पद्धति को हम तीन विषयों में बाँट सकते हैं—(1) अचेतन मन, (2) लिबिडो या काम-वृत्ति, (3) ग्रन्थियाँ।

1. अचेतन मन : फ्रायड की स्थापना है कि मनुष्य का मन एक समुद्र में तैरते हुए बर्फ के शिलाखण्ड (आइसवर्ग) के समान है। उसका जो भाग दिखाई देता है, वह पूरे

हिमखण्ड का एक छोटा अंश होता है। उसका बहुत बड़ा भाग अदृश्य रहता है, परन्तु कुछ भाग समुद्र के भीतर, पानी में डूबा होने पर भी दिखाई देता है। यही स्थिति मानव-मन की भी होती है। उसके तीन भाग होते हैं—चेतन, अवचेतन या अर्द्धचेतन तथा अचेतन मन। चेतन मन से हम सब देखते और अनुभव करते हैं, पर अचेतन मन दमित इच्छाओं, आकांक्षाओं और सुप्त वासनाओं का एक शक्तिशाली पुंज है। मन का यह भाग हमारे लिए अज्ञात, अभेद्य एवं रहस्यमय रहता है। इन दोनों के बीच अर्द्धचेतन या अवचेतन वह खण्ड है जिस पर अचेतन की परछाईं पड़ती रहती है। निद्रा के समय जब चेतन मन निष्क्रिय हो जाता है, तब अचेतन मन की इच्छायें और वासनायें अवचेतन पर स्वप्न के रूप में प्रतिविम्बित होती हैं। फ्रायड का मत है कि चेतन और अचेतन में द्वन्द्व चलता रहता है। चेतंन मन, व्यक्ति, परिवार और समाज की नैतिकता और मर्यादा के संस्कारों से ओतप्रोत होता है; अतः जब अचेतन की इच्छायें और वासनायें चेतन के धरातल पर आने लगती हैं, तब चेतन के संस्कार उसका प्रतिरोध और निषेध करते हैं, वे असामाजिक एवं अनैतिक वासनाओं का दमन करते हैं। इस दमन के कारण मानसिक वर्जनायें और ग्रन्थियाँ निर्मित हो जाती हैं। इन ग्रन्थियों के कारण मानसिक विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, परन्तु कभी-कभी अचेतन की इच्छायें और वासनायें, चेतन मन के द्वारा परिष्कृत एवं उदात्त रूप में अभिव्यक्त की जाती हैं—यही अभिव्यक्ति कला और साहित्य का रूप धारण करती है।

2. लिबिडो या काम-वृत्ति : फ्रायड, मनुष्य के सभी क्रिया-कलाप के मूल में काम-वृत्ति को मानते हैं। धर्म, अर्थ, साहित्य और संस्कृति की मूल प्रेरणा भी यही काम-वृत्ति है। मनुष्य की कुण्ठित और दमित असामाजिक इच्छायें और प्रवृत्तियाँ उदात्त और परिष्कृत होकर कलाओं और संस्कृतियों का निर्माण करती हैं। फ्रायड काम-वृत्ति को ही साहित्य-सर्जना की मूल प्रेरणा मानते हैं। उनका विचार है कि साहित्यकार कल्पनाशील होता है, अतः वह अपनी वर्जनाओं को काम-प्रतीकों के रूप में प्रकट करता है। कला और साहित्य-सृजन काम-प्रतीकों का पुनर्निर्माण है। कला के रहस्य को तभी समझा जा सकता है जब हम कलाकार की सृजन-प्रक्रिया का पूरा विश्लेषण करें। उनका विचार है कि केवल कला ही नहीं, वरन् प्रत्येक सर्जनात्मक क्रिया में अचेतन मन की वासनायें विद्यमान रहती हैं। इस प्रकार स्वप्न कल्पनायें, योजनायें आदि मानसिक व्यापार भी कविता या कला के समान ही हैं। ये काम-तृप्ति के रूप हैं।

3. ग्रन्थियाँ या वर्जनाएँ : फ्रायड का मत है कि इच्छाओं और वासनाओं के दमन से ग्रन्थियाँ या कुण्ठायें निर्मित हो जाती हैं। उनके (वासनाओं) उदात्तीकरण से ग्रन्थियाँ खुलतीं और कुण्ठायें दूर हो जाती हैं और इस उदात्तीकृत परिष्कृत क्रिया-कलाप से सभ्यता का विकास एवं सांस्कृतिक मूल्यों का निर्माण होता है। आदिम बर्बर वासनायें एक सुसंस्कृत व्यवहार का रूप धारण करती हैं। कला और साहित्य भी इसी का एक रूप है। फ्रायड का विचार है कि वासनाओं की तृप्ति का सुख तीव्र होता है, जबकि कला और साहित्य का आनन्द मन्द और आह्लादमय होता है; पर वह सामूहिक होता है और अधिक स्थायी भी। वासनाओं की तृप्ति शारीरिक अधिक

होती है, कला का आनन्द मानसिक होता है। कला सम्प्रेषणपरक है, अतः उसका सामाजिक महत्त्व है तथा उसका साधारणीकरण भी होता है। उसी के द्वारा समाज के चेतन-संस्कार बनते हैं। कलात्मक अभिव्यक्ति कुण्ठाओं और ग्रन्थियों से मुक्ति प्रदान करती है। इसीलिए वह कलाकार के लिए आनन्द का स्रोत है।

ऐल्फ्रेड एडलर (Alfred Adler) (1870 से 1937) : फ्रायड ने चिन्तन के लिए एक नये क्षेत्र का उद्घाटन किया तथा उस क्षेत्र की मूलभूत क्षमताओं और उसके तत्वों को स्पष्ट किया। अतः उनका विशिष्ट महत्व है। आगे के चिन्तक उनसे विचार-भिन्नता रखते हुए भी किसी न किसी रूप में उनके विचार-बिन्दुओं को विस्तृत या परिष्कृत करते हैं। फ्रायड के बाद एडलर का महत्त्वपूर्ण योगदान है। एडलर वैयक्तिक मनोविज्ञान के प्रवर्तक हैं। उनका विचार है कि जीवन का एक निश्चित लक्ष्य होता है और प्रत्येक मनुष्य में अपने को स्थापित करने की प्रवृत्ति होती है। प्रायः प्रत्येक मनुष्य में किसी प्रकार की आंगिक, क्रियात्मक या मानसिक कमी पायी जाती है जिसको वह अनुभव करता है और उसमें हीनता-ग्रन्थि (Inferiority Complex) का निर्माण होता है। उसकी पूर्ति का प्रयास मनुष्य विविध प्रकार से करता रहता है। हीन-भावना के कारण, जब मनुष्य विशेष रूप से इस कमी को पूरा करने की कोशिश करता है, तब उसमें श्रेष्ठता की भावना का उदय होता है। इसे श्रेष्ठता-ग्रन्थि (Superiority Complex) कहते हैं। जो लोग दम्भी और अपने को श्रेष्ठ प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं तथा असभ्य व्यवहार करते हैं, वे वास्तव में हीनता की भावना से ग्रस्त होते हैं। इन दोनों भावनाओं का अतिरेक व्यक्तियों को मानसिक रोगी बना देता है।

एडलर के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजी जीवन-शैली होती है। उनका विचार है कि जब तक बालक में काम-वृत्ति का विकास होता है, तब तक उसकी जीवन-शैली बन चुकी होती है जिसका निर्माण उसकी निजी विलक्षणताओं से होता है, न कि काम-वासनाओं से। उनके अनुसार जीवन में तीन समस्यायें प्रमुख होती हैं—समाज-विषयक, व्यवसाय-विषयक तथा काम और विवाह-विषयक। इनमें से एक भी समस्या में असफल होने पर वह जीवन से पलायन करता है और उसकी क्षति-पूर्ति के लिए कोई कार्य करता है। इन्हीं पूर्ति के कार्यों से कला और साहित्य की रचना होती है। इनं रचनाओं से व्यक्ति के अहंभाव और असामाजिक भावना का निवारण होता है। इस प्रकार साहित्य और कला विश्वबन्धुत्व की .भावना व्यापक बनाकर सामाजिक जीवन को विकसित करते हैं।

कार्ल गुस्ताव जुंग (Carl Gustav Jung) (1875 से 1961) : जुंग, फ्रायड के समकालीन और सहयोगी थे। ये मौलिक चिन्तक थे और इन्होंने विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान (Analytic-Psycho-analysis) का विकास किया, जबकि फ्रायड का क्षेत्र मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) का था। जुंग का जन्म 26 जुलाई 1875 को स्विट्जरलैण्ड के केसविल नगर में हुआ था। इनके पिता भाषाविद् एवं गोपालक थे। बचपन इनका अकेले में बीता। परन्तु इस बीच इन्होंने अपने माता-पिता और शिक्षकों के

व्यवहार का सूक्ष्मता से अध्ययन किया। बचपन में इन्होंने दर्शन का अध्ययन किया; पर बाद में चिकित्सा-शास्त्र और मनोरोग-शास्त्र का अध्ययन किया। ये 1895 से 1900 तक बासेल युनिवर्सिटी में और 1902 तक ज्यूरिच युनिवर्सिटी में पढ़े और वहीं से एम.डी. की उपाधि प्राप्त की। 1907 से 1912 तक इन्होंने फ्रायड के साथ काम किया। पर बाद में फ्रायड के काम-सिद्धान्त को लेकर मतभेद हो गया। इन्होंने विश्लेषणात्मक मनोशास्त्र पर अपने प्रयोग जारी रखे। आगे चलकर ये ज्यूरिच युनिवर्सिटी (1933-41) में प्रोफेसर रहे और 1943 में बासेल में प्रोफेसर हुए। बाद में ज्यूरिच सरोवर के समीप सरल प्रकृति के बीच जीवन व्यतीत करते हुए 85 वर्ष की आयु में 6 जून 1961 को स्वर्गवासी हुए।

कार्ल जुंग ने विश्व का व्यापक भ्रमण किया। उनका उद्देश्य आदिम जातियों से लेकर आधुनिकतम जातियों के धर्म तथा उनकी संस्कृति का अध्ययन था। अपने इस भ्रमण के फलस्वरूप प्राप्त अनुभव तथा अध्ययन से प्राप्त विद्वत्ता के आधार पर विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान का एक नया मार्ग उद्घाटित किया, जो फ्रायड और एडलर के विचारों से भिन्न था। जुंग ने अचेतन का महत्त्व स्वीकार किया, पर उसे दो स्तरों में रखा। प्रथम वैयक्तिक और द्वितीय जातीय या सामुदायिक अचेतन। फ्रायड ने अचेतन को दमित इच्छाओं और वासनाओं का रहस्यमय भण्डार माना है, पर जुंग का मत है कि वह वैयक्तिक अचेतन का अंश है। इसके परे एक सामूहिक या जातीय अचेतन का स्तर है। यह एक प्रकार से ऐतिहासिक एवं परम्परागत संस्कार-भूमि है। सामूहिक अचेतन में जुंग के अनुसार 'एनिमस' और 'एनिमा' विद्यमान रहते हैं। 'एनिमस' नारीसुलभ गुणों का समूह है और 'एनिमा' पुरुष-गुणों का समूह है। उन्होंने व्यक्तित्व को दो कोटियों में विभाजित किया—एक बहिर्मुखी (Extrovert) और दूसरी अन्तर्मुखी (Introvert)। इनमें से प्रत्येक में चार प्रकार की मानसिक शक्तियाँ रहती हैं—(1) विचार (Thinking), (2) भाव (Feeling), (3) संवेदन (Sensation), और (4) सहज ज्ञान या अन्तर्दृष्टि (Intuition)। यह मानसिक शक्ति या ऊर्जा ही सभी कार्यों की प्रेरक है। सहज ज्ञान या इन्ट्यूशन, सत्य या वास्तविकता की वह दृष्टि या अनुभूति है जिसकी जानकारी चेतन मन को नहीं होती। फ्रायड, जहाँ काम-शक्ति या लिबिडो को सभी क्रियाओं के मूल में मानते हैं और एडलर जहाँ आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति को सभी कार्यों की प्रेरणा मानते हैं, वहाँ जुंग इसी मनःशक्ति या मानसिक ऊर्जा को मुख्य प्रेरक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। इस प्रकार जुंग की मनःशक्ति या मानसिक ऊर्जा का सिद्धान्त, फ्रायड के लिबिडो या काम-शक्ति और एडलर की आत्म-प्रकाशन-वृत्ति से अधिक स्वस्थ और अधिक व्यापक सिद्धान्त है। यह शक्ति मनुष्य की विकासशीलता, संस्कृति रचनाशीलता और प्रजननशक्ति तथा अन्य कार्यकलापों की प्रेरक है और उसका मूल स्रोत भी है।

फ्रायड ने काव्य को स्वप्न के समतुल्य अचेतन का प्रकाशन माना, पर जुंग काव्य को हृदय की गहराई में सम्पन्न चेतन-क्रिया मानते हैं, अचेतन मन का व्यापार नहीं, क्योंकि काव्य उद्देश्यमूलक है और उसका रूपविधान बड़ी सजगता के साथ

किया जाता है।[1] इसके अतिरिक्त जुंग कविता का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, कवि के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से भिन्न वस्तु मानते हैं। फ्रायड की कलाविषयक धारणा, कलाकृति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की अपेक्षा, कवि की मनोदशा का अध्ययन करने की प्रेरणा देती है, जबकि कलाकृति का अध्ययन विशेष महत्त्व का है।[2]

इसी प्रकार जुंग मनोवैज्ञानिक साहित्य और कल्पनामूलक साहित्य की सृजन-प्रक्रिया को दो भिन्न प्रकारों के रूप में मानते हैं। जहाँ मनोवैज्ञानिक साहित्य की सामग्री मानवानुभूति के विस्तृत क्षेत्र से की जाती और वह जीवन के धरातल पर स्थापित रहती है, वहाँ कल्पनात्मक साहित्य विचित्र, अस्वाभाविक, विस्मय उत्पन्न करनेवाली कुतूहलपूर्ण सामग्री को प्रस्तुत करता है और हमारी अनुभूति स्वप्निल और रहस्यमय होती है। कल्पनात्मक साहित्य को समझने के लिए व्याख्या और टीका की आवश्यकता रहती है।[3]

जुंग का विचार है कि मनोविज्ञान, कला की मूल प्रकृति का अध्ययन नहीं कर सकता, उसके द्वारा केवल उसके रूप-विधान की विवेचना की जा सकती है। कला की आधारभूत प्रकृति की व्याख्या मनोविज्ञान के सीमित मानदण्डों के सहारे नहीं की जा सकती। इसका अध्ययन सौन्दर्यात्मक या कलात्मक दृष्टिकोण से ही सम्भव हो सकता है।[4]

कला या काव्य लेखक की संकल्पशक्ति का प्रकाशन है। वह अपनी रचना एक विशिष्ट उद्देश्य से करता है और तदनुरूप सामग्री जुटाता है एवं उसे विशेष प्रभावशाली बनाने के लिए, सावधानीपूर्वक उसकी रूप-रचना करता है। अतः सृजन-प्रक्रिया में कलाकार का विवेक जाग्रत् रहता है; परन्तु वह सृजन-कार्य में इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे यह बोध नहीं रहता कि वह स्वयं ही उसका रचयिता है। कुछ कलाकार ऐसे भी होते हैं जो इतने तल्लीन हो जाते हैं कि चिन्तन या विचारधारा से अलग भी हो जाते हैं। ऐसा प्रायः बहिर्मुखी प्रवृत्ति के कलाकारों में होता है। अन्तर्मुखी कलाकार उद्देश्यों के अनुरूप विषय-वस्तु का विवेकपूर्ण उपयोग करता है।

जुंग ने आत्मा के अन्तर्गत एक 'स्वायत्त ग्रन्थि' की चर्चा की है। इसमें वह शक्ति होती है जो कलाकार को अनुशासित और निर्देशित करती रहती है। वास्तव में कला सौन्दर्य है और उसी की रचना में उसका उद्देश्य निहित है। कला से अर्थ का सम्बन्ध जुंग ने स्वीकार नहीं किया। कलाकृति में प्रयुक्त बिम्बों, प्रतीकों और अवधारणाओं से हम उसका अर्थ जानने का प्रयत्न करते हैं, और यहीं पर मनोविज्ञान हमारी सहायता कर सकता है।[5]

---

1. जुंग : *माडर्न मैन*, पृ. 175.
2. जुंग : वही, पृ. 185.
3. जुंग : वही, पृ. 180-82.
4. जुंग : *कॉण्ट्रीब्यूशन टु एनालिटिकल साइकोलॉजी*
5. जुंग : वही।

मैक्डूगल : मैक्डूगल पिछले युग के महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक चिन्तकों में हैं। इनका सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान भावों के महत्त्वपूर्ण कार्य और उनकी शक्ति के उद्घाटन करने में है। उनके विचार से प्रत्येक व्यक्ति में एक ऐसी महत्त्वपूर्ण शक्ति होती है, जो उसे बल प्रदान करती है और कार्य करने के लिए प्रेरणा देती रहती है। वही शक्ति मनुष्य में जिजीविषा भी उत्पन्न करती है और अन्त तक कायम रखती है। जीवन की प्रत्येक इच्छा जैविक आधार पर विकसित होती है और आगे चलकर नैसर्गिक वृत्ति (Instinct) का रूप धारण करती है। मैक्डूगल के अनुसार ये वृत्तियाँ बारह होती हैं। इन वृत्तियों के तीन प्रकार होते हैं—ज्ञानात्म, भावात्म और क्रियापरक। ये वृत्तियाँ ही विकसित और परिवर्तित होकर विभिन्न भावों का रूप धारण करती हैं। वास्तव में जब किसी वस्तु के आसपास कई वृत्तियाँ इकट्ठी होकर सम्मिश्रित हो जाती हैं; तो वह सम्मिश्रित रूप भाव बन जाता है। यह भाव एक मानसिक ढाँचे के समान होता है। जीवन में कार्य-संचालन इन्हीं भावों के द्वारा होता है। यही भाव साहित्य और कला-सृजन के प्रेरक होते हैं और उनमें अभिव्यक्ति भी प्राप्त करते हैं। इस प्रकार मैक्डूगल ने सहज मनोवृत्ति को मनोभावों के रूप में परिणत होने की बात का विश्लेषण कर साहित्य और कला के मूल स्रोत को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भारतीय भाव और रस-शास्त्र के प्रसंग में मैक्डूगल के ये विचार बड़े उपादेय हैं।

डॉ. हैवलाक एलिस (1859-1939) : हैवलाक एलिस का जन्म क्रोयडन सरे में 2 फरवरी 1859 में हुआ था। छः वर्ष की अवस्था में ही ये अपने पिता के साथ आस्ट्रेलिया और दक्षिण अमेरिका में भ्रमण को गये थे। बचपन में संगीत में इनकी बड़ी रुचि थी। 1857 से 1879 तक इन्होंने आस्ट्रेलिया में अध्ययन का कार्य किया। बाद में चिकित्सा-विज्ञान के अध्ययन के लिए ये इंग्लैण्ड लौट गये। पढ़ने के बाद इन्होंने कुछ दिनों डॉक्टर के रूप में प्रैक्टिस भी की, तभी इनकी रुचि मनोविज्ञान और विशेष रूप से यौन-मनोविज्ञान में हो गयी। सन् 1891 में इन्होंने 'स्टडीज़ इन दि साइकोलॉजी ऑफ् सेक्स' नामक ग्रन्थ का लिखना आरंभ किया। इसके प्रकाशित होने पर प्रकाशक पर अश्लीलता का अभियोग लगाया गया। परिणामस्वरूप उनके ग्रन्थों का प्रकाशन अमेरिका से हुआ। इनके ग्रन्थों से जन-सामान्य के यौन-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सन् 1939 में इनकी मृत्यु हुई।

हैवलाक का विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना अलग दर्शन होता है, पर दर्शन नैतिकता से भिन्न है। किन्हीं दो ईमानदार विचारशील व्यक्तियों का दर्शन एक नहीं हो सकता। अन्य के दर्शन अपना बना लेना अपने व्यक्तित्व की तौहीन है, क्योंकि हर चिन्तनशील व्यक्ति का अपना निजी दर्शन होना ही चाहिए। हैवलाक यह भी मानते थे कि दर्शन का निर्माण चेतन-सत्ता के नियन्त्रण से बाहर है। दार्शनिक सिद्धांत का स्वरूप अवचेतन द्वारा बनता है जिस पर हमारा कोई वश नहीं।

हैवलाक का यह भी विचार था कि विरोधी शक्तियों में खींचतान और संघर्ष प्रकृति का नियम है। विरोध का अस्तित्व जीवन के लिए बाधा नहीं। वह जीवन के विकास के लिए आवश्यक है। विरोधी शक्तियों का संघर्ष वनस्पतियों और प्राणिजगत् में भी रहता है। यह विरोध और संघर्ष वास्तव में उन सभी जगहों में है जिसे हम जीवन कहते हैं। उसे हम विरोधी शक्तियों के सन्तुलन के रूप में देखते हैं। सेक्स और संस्कृति भी इसी प्रकार के विरोधी और संघर्षों के सन्तुलित रूप हैं। सभी कलाओं में भी समन्वयात्मक संघर्ष देखा जा सकता है। वास्तु, स्थापत्य, नृत्य आदि में भी विरोधी तत्त्वों का संघर्ष, संतुलन और समन्वय रहता है।

काव्य में भी संवेदना की अभिव्यक्ति की चाह और रूप रचना-शिल्प के बीच संघर्ष उपस्थित रहता है। वास्तव में अभिव्यक्ति की चाह का छंद, अलंकार, शब्द आदि के द्वारा नियन्त्रण किया जाता है। इन विरोधी तत्त्वों के बीच में समन्वय ही रचना की उपलब्धि होती है। कवि जब इस प्रकार के भाव और शिल्प के विरोध के प्रति विद्रोह करता है, तब उसकी रचना एकांगी हो जाती है। विरोधी तत्वों के बीच समन्वयात्मक संघर्ष का सिद्धान्त सभी कलाओं में खोजा जा सकता है; क्योंकि प्रकृति के सभी कार्य-कलापों में भी विरोधी तत्त्वों के समन्वयात्मक संघर्ष की माँग कार्य करती है। और मनुष्य और उसकी कला भी प्रकृति के ही अंग हैं अतः यह सिद्धान्त सभी पर लागू होता है।

(ग) अस्तित्ववादी साहित्य-चिन्तन

अस्तित्ववाद पाश्चात्य दर्शन की आधुनिक धारा है। यह विचारधारा हीगेल के आदर्शवाद और नियतिवाद की प्रतिक्रिया के रूप में पनपा। नियतिवाद यह मानता है कि सारा जगत् भौतिक नियमों के अधीन कार्य करता है—चाहे जड़ हो, चाहे चेतन। प्रत्येक व्यापार कारण-कार्य के नियम से होता है। चेतन जीव, जड़ की ही विकसित स्थितियाँ हैं। मानव भी विशाल प्राकृतिक जीवन का एक क्षुद्र अंश है। उसकी स्थिति पहले से ही निर्धारित है और वह स्वतन्त्र नहीं। चेतन भी प्रकृति या विधाता के जड़ नियमों के अधीन है। परन्तु आदर्शवाद नियतिवाद का विरोधी है। उसके अनुसार चेतन ही जगत् का केन्द्रीय तत्त्व है। वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए कार्य करता है। ये उद्देश्य आध्यात्मिक होते हैं और मनुष्य ही इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्वतन्त्र है। वही अपने आदर्शों के अनुसार जीवन का निर्माण और विकास करता है। एक में मनुष्य नियति के द्वारा और दूसरे में वह उद्देश्यों के द्वारा नियन्त्रित है। अस्तित्ववाद, इन दोनों को ही मानव-व्यक्तित्व पर कुठाराघात करते हैं और मनुष्य की स्वतन्त्रता का अपहरण करते हैं, यह मानता है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व का अनुभव करता है। उसमें स्वतन्त्रता और दायित्व की चेतना होती है। आदर्शवाद में मृत्यु की सचाई को स्वीकार नहीं किया जाता है, परन्तु मृत्यु एक सचाई है और अस्तित्ववाद मानव-अस्तित्व के इसी सत्य की व्याख्या करता है। मनुष्य का ही वास्तव में अस्तित्व है, अन्य पदार्थ और गुण सारभूत हैं।

अस्तित्ववाद का दार्शनिक क्षेत्र में उतना गहरा प्रभाव नहीं पड़ा, जितना कि साहित्य और कला के क्षेत्र में। अतएव कला और साहित्य के विवेचन के प्रसंग में अन्य दर्शनों की उतनी प्रासंगिकता नहीं है, जितनी अस्तित्ववाद की। इसीलिए साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में अस्तित्ववाद का महत्त्व है। अस्तित्ववाद पर विचार करनेवाले अनेक विचारक हैं, परन्तु उसके प्रवर्तक या प्रथम विचारक 'कीर्केगार्द' हैं, किन्तु साहित्य-क्षेत्र में उसे लानेवाले ज्याँ पॉल सार्त्र, उनके शिष्य अल्बेयर कामू और कार्ल जास्पर्स हैं। मार्टिन हेडेगर का महत्त्वपूर्ण योगदान है, क्योंकि वे नास्तिक अस्तित्ववादी और मृत्यु-दर्शन के प्रस्तोता हैं।

सोरेन कीर्केगार्द (Soren Kierke Gaard) (1813 से 1855) : सोरेन कीर्केगार्द का जन्म 5 मई 1813 ई. में डेनमार्क के कोपेनहेगन में हुआ था। इनके पिता पहले एक गरीब कृषक मजदूर थे। एक बार गरीबी से तंग आकर उन्होंने ईश्वर को बहुत कोसा। उसके बाद वे कोपेनहेगन आये और वहाँ उनका भाग्योदय हुआ। वे एक बार बमबारी में भी बच गये। इसका प्रभाव उनके चित्त पर पड़ा और वे सदैव परमात्मा को कोसने की पापानुभूति करते रहे। उनकी 1838 ई. में मृत्यु हो जाने पर उनके पुत्रों को काफी सम्पत्ति मिली; पर सोरेन कीर्केगार्द पर उनके पिता के गम्भीर विषाद और पापानुभूति का बड़ा प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव को उन्होंने 'बड़े भूकम्प' की संज्ञा दी। आगे उनके पाँच भाई-बहनों की मृत्यु हो जाने पर, उन्हें यही लगा कि यह ईश्वर को कोसने का ही दुष्परिणाम है। ये कोपेनहेगन के विश्वविद्यालय में पढ़ने गये और धर्मशास्त्र तथा दर्शन का अध्ययन किया। वहाँ इन पर दर्शन के प्रोफेसर का बड़ा प्रभाव पड़ा। इन्होंने दर्शन-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे जो प्रकाशित हुए। इनमें इन्होंने हीगेल के आदर्शवाद का खण्डन किया। इनके वैवाहिक जीवन और अन्ततोगत्वा विच्छेद का भी इनके मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। पिता की पापानुभूति और स्वयं के द्वारा अपनी सुन्दरी पत्नी से विच्छेद होने के गहरे भाव इनकी डायरी तथा अनेक ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं। लेखन-कार्य और अपने मत के प्रचार का इनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ा और 11 नवम्बर सन् 1855 ई. में अस्पताल में इनका देहावसान हो गया।

कीर्केगार्द ने अपने समय की विश्व की घटनाओं तथा पारिवारिक घटनाओं से प्रभावित होकर मानव-अस्तित्व पर बड़ी गहराई से विचार किया। अस्तित्ववाद विचार और तर्क के विरुद्ध जीवन और भावना की प्रतिक्रिया है। वे एक धार्मिक व्यक्ति थे और ईसाई धर्म पर उनका विश्वास था। ईश्वर को वे परमात्मा मानते थे। वही परमसत्य है, अतः सत्य को भी उन्होंने विषयगत न मानकर विषयीगत या व्यक्तिगत माना था। व्यक्ति सत्यसम्पन्न है अतः वह जितना ही आत्म का अनुभव करता है, उतना ही, वह अधिक सत्य और आध्यात्मिक होता है। मनुष्य का व्यक्तित्व रहस्यमय है। उसे दार्शनिक विचारधारा से अभी तक पूरी तरह नहीं समझा जा सका है, फिर ईश्वर को समझना तो दूर की बात है। उनके विचार से व्यक्ति सृष्टि का अनुपम तत्त्व

है। उसे पूरा समझना कठिन है। व्यक्ति पूर्वनिर्मित नहीं होता। वह निरन्तर बनता रहता है और आन्तरिक रूप से स्वतन्त्र होता है। वह स्वयं निर्णय करता है, किसी की प्रेरणा से नहीं। कीर्केगार्द, ईसाई-मत से प्रभावित थे। उनका विचार था कि अस्तित्व का अर्थ है ईश्वर के सामने अस्तित्व। अतः अस्तित्ववान् होने का अर्थ है स्वयं को पापी समझना। यद्यपि अस्तित्व एक उच्चतर मूल्य है, वह एक पाप भी है। इसी पाप-भावना के कारण वह धर्म का सहारा लेता है। व्यक्ति की सार्थकता है अस्तित्व के प्रति जागरूक रहना; क्योंकि उसके माध्यम से अपने अन्तर के ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहता है। कीर्केगार्द मानव-व्यक्तित्व को ही अस्तित्व से युक्त मानते हैं तथा आकारयुक्त, प्रयोजनसहित निष्क्रिय प्रकृति को 'सारभूत' की संज्ञा देते हैं। प्रकृति सारभूत हैं और व्यक्ति अस्तित्वयुक्त। ईश्वर की स्थिति तर्क द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती। इस प्रकार से कीर्केगार्द के अस्तित्ववादी विचारों ने चिन्तन के क्षेत्र में स्वतन्त्र चेतना जाग्रत् कर दी।

मार्टिन हेडेगर : अस्तित्ववादी दो पक्षों के होते हैं—एक धार्मिक और दूसरे नास्तिक। कीर्केगार्द धार्मिक अस्तित्ववादी थे, परन्तु मार्टिन हेडेगर नास्तिक अस्तित्ववादी थे। उनका विचार था कि किसी वस्तु की मूल सत्ता अन्तश्चक्षुओं से ही देखी जा सकतीं है। अस्तित्व का अन्तर्बोध ही सम्भव है, उसका सम्बन्ध चेतना से नहीं है। तत्त्व अस्तित्व से भिन्न है। किसी वस्तु को समझने की इच्छा उसके तत्त्व को समझने की इच्छा है। जब हम वस्तु को जान लेते हैं, तब उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में जिज्ञासा कर सकते हैं। तत्त्व में अस्तित्व निहित नहीं होता। प्रत्येक बाह्य पदार्थ में तत्त्व प्रमुख होता है, अस्तित्व गौण, परन्तु व्यक्ति में अस्तित्व प्रमुख होता है और तत्त्व गौण। 'मैं कौन हूँ?' यह प्रश्न तब तक सार्थक नहीं है, जब तक कि मैं अपने अस्तित्व को मान नहीं लेता। अपने होने का आभास होना ही अस्तित्व है। अस्तित्व का बोध आत्मगत होता है। मेरा वैशिष्ट्य मेरे अस्तित्व का ही वैशिष्ट्य है।

हेडेगर का विचार है कि वस्तु के गुणों को अलग किया जा सकता है, क्योंकि वस्तु कतिपय गुणों का समवाय है। गुणों के अलग होने पर वस्तु शून्यरूप में बचती है, यही मूलवस्तु सारभूत है; परन्तु जब मैं स्वयं को गुणों से अलग कर लेता हूँ, तब मैं शून्य न होकर अपनेपन को बनाये रखता हूँ। अतः मैं विशुद्ध अस्तित्व का बोधक है। मैं या अहं की अनुभूति अस्तित्व का मूल तत्त्व है। अहं के गुण अस्तित्व के आयाम हैं, किन्तु वे वस्तुओं के गुण के समान नहीं हैं। मैं अपनी कुछ सम्भावनाओं को जानता हूँ और अन्यों को नहीं। दूसरा उन्हें बता सके, तो मैं उन्हें स्वीकार करता हूँ; परन्तु वस्तु के सम्बन्ध में यह बात सत्य नहीं है। व्यक्ति स्वतन्त्र है। उसका अस्तित्व अनेक तात्त्विक सम्भावनाओं से युक्त होते हुए भी, वे तत्त्व द्वारा नियन्त्रित नहीं हैं। व्यक्ति का अस्तित्व तत्त्व से पृथक् है। यही पृथकता व्यक्ति के स्वातन्त्र्य का द्योतक है। अन्य व्यक्ति भी मेरे समान अस्तित्ववान् हैं; पर वे मेरे ही अस्तित्व की सम्भावनायें

हैं। यही अवधारणा, व्यक्ति को पशु-जीवन से ऊपर उठाती है। इसी में व्यक्ति का स्वातन्त्र्य भी निहित है। परन्तु संसार के बीच उसकी स्वतन्त्रता परिसीमित है। उसकी लौकिक परिस्थिति उसे नियन्त्रित करती है। यही उसकी नियति है।

व्यथा अस्तित्व का एक अन्य मूलभूत तत्त्व है। सारा मानव-जीवन व्यथा से परिपूर्ण है। व्यथा ही मृत्यु से हमें जोड़ती है। हमारा अस्तित्व हमारी इच्छा से नहीं होता। हम अस्तित्व-धारण के लिए विवश हैं। मृत्यु शून्यता है, व्यथा हमें अस्तित्व की शून्यता की ओर ले जाती है। व्यक्ति ऐतिहासिक परिस्थितियों के बीच फेंका गया अस्तित्व है।

कार्ल जास्पर्स (Karl Jaspers) (सन् 1883 से 1969 तक) : कार्ल जास्पर्स, मार्टिन हेडेगर (Martin Heidegger), साथ मिलकर दो ऐसे महत्त्वपूर्ण जर्मन विचारक थे, जिन्होंने अस्तित्ववादी वैचारिक आन्दोलन में जर्मनभाषी क्षेत्र का प्रतिनिधित्व किया। पहले ये डॉक्टर थे, परन्तु चिन्तनशीलता के कारण दर्शन की ओर इनका झुकाव हो गया। नाज़ियों के अत्याचारों और द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका के फलस्वरूप, इन्होंने विश्व की एकता को लक्ष्य में रखकर विश्व-दर्शन की कल्पना की।

जास्पर्स का जन्म 23 फरवरी 1883 को ओल्डेनबर्ग में हुआ था। इनके पिता एक वकील और बैंक के संचालक थे। अतः इन्हें आर्थिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। बचपन में पढ़ाई-लिखाई में ये सामान्य विद्यार्थी थे और कठोर अनुशासन से इन्हें घृणा थी। इन्होंने हीडेलबर्ग और म्यूनिख विश्वविद्यालयों में कानून की शिक्षा पाई। उसके बाद बर्लिन और हीडेलबर्ग के विश्वविद्यालयों में चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन किया। कुछ समय तक इन्होंने बाल-चिकित्सा पर शोध-कार्य भी किया। उसके बाद इन्होंने मानसिक रोग-विज्ञान पर स्वतः खोज की। इनके शोध-पत्र और ग्रन्थ प्रकाशित हुए जिसके कारण हीडेलबर्ग युनिवर्सिटी में इन्हें असिस्टेण्ट प्रोफेसर और बाद में 1921 ई. में दर्शन का प्रोफेसर नियुक्त किया गया। इस बीच इन्होंने तीन खण्डों में दर्शनशास्त्र पर ग्रन्थ प्रकाशित किया जो अस्तित्ववादी दर्शन की व्यवस्थित व्याख्या एवं विवेचना प्रस्तुत करता है। इनकी पत्नी यहूदी होने से द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान इन्हें कठिनाई का सामना करना पड़ा। हीडेलबर्ग विश्वविद्यालय को भी नाज़ियों द्वारा बड़ी क्षति पहुँची थी। युद्ध शान्त होने पर इन्होंने उसका पुनरुद्धार किया। पर इस समय की परिस्थितियों ने इन्हें और गम्भीर चिन्तक बना दिया। 1948 ई. में इन्होंने स्विट्जरलैण्ड के बासेल विश्वविद्यालय में प्रोफेसर का पद स्वीकार कर लिया। इस बीच अस्तित्ववादी दर्शन की अपेक्षा विश्व-दर्शन की ओर उनका झुकाव अधिक हो गया और दर्शन एवं विश्व-इतिहास पर अनेक ग्रन्थ लिखे। इनकी 30 प्रकाशित पुस्तकें हैं और अनेक अप्रकाशित हैं। बाद में ये स्विट्जरलैण्ड के नागरिक बन गये। इनकी मृत्यु 26 फरवरी 1969 में हुई।

जास्पर्स ने अस्तित्ववादी विचारों की प्रेरणा कीर्केगार्द के लेखों से ग्रहण की; परन्तु उसमें इन्होंने नये विचारों का समावेश किया। उनका विचार है कि आधुनिक

यान्त्रिक समाज ही मानव-अस्तित्व की स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधा उत्पन्न करता है। निरपेक्ष सत्ता का ज्ञान प्रतीकों के द्वारा किया जा सकता है और सिद्धान्त रूप में जाना जा सकता है। व्यक्ति अपने अस्तित्व की अनुभूति अपने संकल्प, इच्छा और कार्यों के माध्यम से करता है। व्यक्ति की इच्छा और संकल्प का स्रोत उसकी आत्मा है। प्रत्येक वस्तु व्यक्ति-चेतना से सम्बद्ध है, अतः वस्तु को जो ज्ञान-विज्ञान द्वारा प्राप्त होता है, उससे भिन्न जानकारी हम अपनी चेतना से प्राप्त कर सकते हैं। यह ऐसा पक्ष है जिसमें विज्ञान की गति नहीं। आत्मा की अनुभूति ही अस्तित्व की अनुभूति है। जास्पर्स चेतना को ही संकल्प मानते हैं और आत्मा भी वही है। अतः आत्मा, चेतना और संकल्प एक ही हैं। व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिए स्वतन्त्र नहीं है। वह जीवन इसलिए धारण करता है जिससे वह आगे बढ़कर उस निरपेक्ष सत्ता की अनुभूति कर सके, जो उसके अस्तित्व की नियामक है। संघर्ष, पाप और मृत्यु की चेतना किसी अन्य नियामक तत्त्व की ओर संकेत करती है। समाज और संसार, व्यक्ति को सीमित नहीं करते, वरन् उसको सीमित करनेवाली एक असांसारिक निरपेक्ष सत्ता है। वह संसार से ही परे नहीं, वरन् अस्तित्ववान् जीव से भी परे है। जास्पर्स के ये विचार भारतीय आत्मवादी दर्शनों के विचारों से बहुत मिलते-जुलते हैं।

काफ़्का फ्रांज (Kafka Franz) (1883 से 1924 ई.) : काफ़्का फ्रांज का जन्म 3 जुलाई 1883 ई. को ज़ेकोस्लोवेकिया के प्राग नगर में एक यहूदी मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। इनके पिता एक व्यापारी थे और इनके दो बड़े भाई बचपन में ही दिवंगत हो गये थे। आध्यात्मिक पवित्र विचारों तथा अन्य बातों के कारण ये अपने ननिहाल के लोगों के साथ अधिक रहे। अपने पिता के प्रभावी व्यक्तित्व का गहरा असर इन पर जीवनभर रहा। ये प्रायः कहानी और उपन्यासों के रचयिता थे, परन्तु इनकी अनेक कृतियों में पिता के बलिष्ठ व्यक्तित्व का प्रभाव दिखाई पड़ता है, जो इनके दुर्बल शारीरिक व्यक्तित्व के विपरीत था। इनका जीवन एकान्तिक रहा जिसका दर्शन इनकी रचनाओं में दिखाई देता है। अपनी युवावस्था में ही ये नास्तिक और समाजवादी विचारों के हो गये थे। 1906 में इन्हें डॉक्टरेट की उपाधि मिली, परन्तु आगे शिक्षा और साहित्य-क्षेत्र से हटकर दूसरे क्षेत्र में चले गये और बीमा कम्पनी की नौकरी की। 1917 में इन्हें क्षय रोग हो गया और 1922 में ये सेवा-निवृत्त हो गये। इनका स्वास्थ्य गिरता गया और 3 जून 1924 ई. को इनका देहावसान हो गया।

काफ़्का बड़े अध्ययनशील और उदासीपूर्ण भावों के व्यक्ति थे। इनकी कुछ रचनाएँ इनके जीवनकाल में प्रकाशित हुई थीं, पर अधिकांश इनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुईं। इन्हें यश की प्राप्ति भी जीवनकाल में उतनी नहीं, जितनी मरणोपरान्त हुई। इनका आधे से अधिक जीवन बीमारी में स्वास्थ्य-केन्द्रों में बीता। इनका जीवन भी निराशापूर्ण था और तदनुसार इनका चिन्तन भी। इनकी रचनाओं में बौद्धिकता, शंका, व्यंग्य, निराशा और उदासी भरी हुई है। ये ईश्वर को नहीं मानते थे, फिर भी ईश्वर की आवश्यकता को इन्होंने स्वीकार ही नहीं, समर्थन भी दिया है। इन्होंने आदर्शवाद का विरोध किया और युंग के

यथार्थ का उद्घाटन कर अपनी भोगी हुई वास्तविकता का चित्रण कर अस्तित्ववादी विचारधारा को अपनी रचनाओं में उतारा है। वे गुलामी को बड़ा अभिशाप मानते थे और आजादी को ही जीवन का मूल तत्त्व समझते थे। वे दुष्कर्मों के विरोधी तथा मानवता के पुजारी थे। किसी विशिष्ट विचारधारा का प्रतिपादन किये बिना इन्होंने अपने साहित्य में अस्तित्ववादी विचारधारा को प्रतिफलित किया है।

ज्याँ पॉल सार्त्र (Jean Paul Sartre) (1905 से 1980 तक) : सार्त्र अस्तित्ववादी दर्शन के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त फ्रेञ्च विचारक थे। आधुनिक युग के चिन्तकों में इनका नाम मूर्धन्य कोटि में परिगणित होता है। सार्त्र का जन्म 21 जून 1905 को पेरिस में हुआ था। इनके पिता की मृत्यु इनकी बाल्यावस्था में ही हो गयी थी, अतः इनका पालन-पोषण नाना के यहाँ हुआ। बचपन में इनके अपनी माँ के साथ अनुभव इनकी आत्मकथा 'ले मोत्स' (The Words) में लिखे प्राप्त होते हैं। इन्होंने 1929 में ग्रेजुएट तक की शिक्षा पूरी की। 1931 से 1945 तक इन्होंने अध्यापन-कार्य किया। सन् 1939 में द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने पर इन्हें लड़ाई के मैदान में जाना पड़ा। 1940 में ये बन्दी बनाये गये और बाद में छोड़ दिये गये। युद्ध की समाप्ति पर इनका झुकाव साम्यवाद की ओर हो गया। 1954 में इन्होंने रूस, स्कैण्डेनेविया, अफ्रीका, अमेरिका आदि देशों का भ्रमण किया। सोवियत रूस द्वारा हंगरी पर आक्रमण करने के उपरान्त इनके विचारों में परिवर्तन हुआ। मार्क्सवाद को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी इन्होंने अस्तित्ववाद और व्यक्ति-स्वतन्त्रता पर बल दिया। इन्होंने अनेक उपन्यास और अनेक दार्शनिक ग्रन्थ लिखे। इन्होंने नाटक भी लिखे। 1960 से 1971 तक उन्होंने 'फ़्लाबेयर' नामक चार खण्डों में पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने आत्मकथात्मक ढंग पर एक ओर मार्क्सवाद के इतिहास और वर्ग-संघर्ष को स्पष्ट किया और दूसरी ओर फ्रायड के अन्धकारमय पक्ष पर प्रकाश के रूप में अपने बचपन और पारिवारिक सम्बन्धों को उजागर किया है। इनके नवीन विचारों और विशाल साहित्य के आधार पर विश्व के साहित्य ने एक नया मोड़ लिया। वे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के लेखक और विचारक थे। इनका देहावसान 15 अप्रैल 1980 को हुआ। अस्तित्ववादी विचारकों में सार्त्र का स्थान शीर्षस्थ है। वे नास्तिक अस्तित्ववादी चिन्तक थे। अपने विचारों को उन्होंने साहित्य के माध्यम से अत्यन्त प्रभावशाली बनाया। उनके विचारों का व्यावहारिक रूप उनके रचनात्मक साहित्य में पूर्णतया व्यक्त हुआ है और उसमें आधुनिक युग के सभी दर्शनों का विवेचन भी है। सार्त्र के विचार में वस्तु और तत्त्व में भेद है। वस्तु भौतिक पदार्थ है और तत्त्व चेतना होती है।

चेतना, वस्तु के निषेध से प्रकट होती है। चेतना की प्राप्ति के लिए जीवन को शून्य बनाना होता है। सारहीनता से मुक्त होकर हमें अपने अस्तित्व की अनुभूति होती है। परन्तु ऐसा भी होता है कि अन्य दूसरे का अस्तित्व मेरे अस्तित्व से टकराता है। तब दूसरे मेरे विरोधी लगते हैं। यह अस्तित्व का विरोध, यह पारस्परिक विरोध ही हमारे सम्बन्धों का आधार होता है।

अस्तित्व का मूल तत्त्व स्वतन्त्रता है। परिस्थितियाँ मानव की शक्ति का नियन्त्रण

करती हैं, पर उसकी स्वतन्त्रता का दमन नहीं कर सकतीं। वह स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य है। इसी कारण संघर्ष उत्पन्न होते हैं। सार्त्र का मत है कि व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। ईश्वर को जीवन का नियामक मानना भूल है। सार्त्र ने वस्तुगत शाश्वत मूल्यों का भी विरोध किया है। मूल्यों का स्रोत ईश्वर नहीं है। व्यक्ति ही मूल्यों का निर्माता है। मानव आत्मचेतन एवं स्वाधीन है। स्वतन्त्र स्थिति में ही निर्माण या रचना की क्रिया सम्भव है। सांसारिक पदार्थ अपने-आपमें मूल्यहीन हैं। मनुष्य ही उन्हें मूल्यवान् बनाता है। वही नैतिक मूल्यों का मानदण्ड भी स्थिर करता है। सभी मूल्य मानव-सापेक्ष होते हैं। मनुष्य अपने-आपका निर्माता है, पर वह अपने कार्यों और विचारणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं। उसका अस्तित्व उतना ही है जितना वह अनुभव करता है। मनुष्य के जीवन और कार्य का बोझ उसके ही कन्धों पर है; पर उसका दायित्व इसलिए बड़ा है, क्योंकि उसका कार्य संसार के परिप्रेक्ष्य में होता है। व्यक्ति अच्छा कार्य करता है; पर उसके अच्छे कार्य का चुनाव संसार के लिए होता है।[1] यही उसकी व्याकुलता का कारण है।

कृति की रचना और परिणाम की भी जिम्मेदारी व्यक्ति की है। कृति के पूर्व, वह इसकी कल्पना करता है जो अभी नहीं है। वह न होने की रिक्तता को अपनी कृति से भर देना चाहता है। लेखक वही बताता है जो लोग नहीं जानते। पर लेखक ऐतिहासिक स्थितियों से बँधा होता है। लिखना और पढ़ना एक ही ऐतिहासिक सन्दर्भ के दो पहलू हैं। लेखक की प्रतिबद्धता यह है कि वह पाठकों में प्रगति के प्रति आन्तरिक स्फूर्ति पैदा करे। लेखक की श्रेष्ठता इसी मध्यस्थता में है। साहित्य लेखक की आत्म-चेतना से सदैव परिपूर्ण रहता है।

भाषा और शैली पर भी सार्त्र ने अपना मत व्यक्त किया है। इस सम्बन्ध में उनकी पुस्तक *साहित्य क्या है? (व्हाट इज़ लिटरेचर?)* महत्त्वपूर्ण है। उनके विचार से शब्द वस्तुयें नहीं हैं, वे उनके संकेत हैं। अतः भाषा के सम्बन्ध में यह देखना आवश्यक नहीं कि वह प्रसन्नता की सृष्टि करती है या विषाद की; वरन् हमें यह देखना चाहिए कि भाषा उस वस्तु या विचार का यथार्थ रूप में संकेत देने में समर्थ है या नहीं। प्रत्येक शब्द, क्रियाविशेष का एक विशिष्ट क्षण होता है। उससे अलग वह निरर्थक है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने स्वरूप का आविष्कार करता है, इसी प्रकार प्रत्येक विषय से ही उसकी शैली का सुझाव मिलता है। लेखक वही व्यक्ति होता है जो अपने विचारों को विशिष्ट ढंग से कह सकता है। साहित्य का अस्तित्व उसकी गतिशीलता में निहित है। साहित्यकार का एक ही लक्ष्य होता है—वह है स्वतन्त्रता।

अस्तित्ववादी चिन्तकों में सार्त्र के शिष्य **अल्बेयर कामू** (Albert Kamu) हैं जो चिन्तक से अधिक अस्तित्ववादी साहित्यकार हैं। उनका विश्व के उपन्यासकारों और नाटककारों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके दो उपन्यास *दि स्ट्रेंजर* और *दि प्लेग* विश्व-साहित्य में उत्कृष्ट स्थान रखते हैं। साहित्य की उत्कृष्टता के कारण इन्हें विश्व का सबसे बड़ा पुरस्कार 'नोबेल पुरस्कार' प्रदान किया गया। इनकी रचनायें साहित्य में आधुनिकता की

---

1. *आधुनिक पाश्चात्य काव्य और समीक्षा के उपादान* : डॉ. नरेन्द्रदेव वर्मा, पृ. 27-28.

प्रतीक हैं। इन उपन्यासों में कामू ने परम स्वतन्त्र व्यक्ति के अस्तित्व की कल्पना की है। वह व्यक्ति सामाजिक और नैतिक सभी मान्यताओं से अलग होकर जीना चाहता है और उसे किसी भी नियन्त्रण और व्यवस्था से घृणा है। कामू में एक संकटग्रस्त अस्तित्ववादी की बेचैनी विद्यमान है। कामू भी सार्त्र के समान नास्तिक अस्तित्ववादी है।

गैब्रिल मार्सल : ये ईसाई विचारधारा के धार्मिक अस्तित्ववादी हैं और सार्त्र एवं कामू की अपेक्षा, कीर्केगार्द और जास्पर्स के अधिक निकट हैं। वे 'मैं क्या हूँ?' इस प्रश्न को मुख्य दार्शनिक समस्या मानते हैं। वे समस्या और रहस्य के भेद को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि समस्या वस्तुमूलक होती है और उसका विश्लेषण किया जा सकता है, पर रहस्य का समाधान नहीं ढूँढ़ा जा सकता।

अस्तित्व, समस्या नहीं, एक रहस्य है, क्योंकि अस्तित्व को व्यक्ति से अलग नहीं किया जा सकता। अस्तित्व को व्यक्ति द्वारा अनुभव ही किया जा सकता है। उसका बौद्धिक विश्लेषण नहीं, क्योंकि व्यक्ति, आत्मा भी है और शरीर भी। शरीर आत्मा से भिन्न है, पर अस्तित्ववाले से भिन्न नहीं है। अस्तित्व देहयुक्त आत्मा है, पर अस्तित्व की अनुभूति देह की अनुभूति नहीं। यही रहस्य है। अस्तित्व की अनुभूति के लिए विश्वास आवश्यक है। हमारा उच्चतम विश्वास हमें सीमापारी तत्त्व का बोध कराता है जिसे हम ईश्वर कहते हैं। बाह्य वस्तु, अन्य व्यक्ति और ईश्वर को तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता। प्रत्येक अस्तित्व साक्षात् सम्पर्क के माध्यम से अनुभव किया जा सकता है। मार्सल के विचार से अस्तित्व का अर्थ साक्षात् सम्पर्क है। वे जीवन और अस्तित्व को भिन्न-भिन्न मानते हैं। अस्तित्व जीवन की अपेक्षा अधिक व्यापक तत्त्व है। जीवन अनेक समस्याओं के बोझ से दबा रहता है, पर अस्तित्व, इस प्रकार के भार से मुक्त है। प्रेम एक महत्तर तत्त्व है। प्रेम में व्यक्ति सीमाओं का त्याग कर देता है। प्रेमी व्यक्ति एक-दूसरे के जीवन में घुल-मिल जाते हैं। आशा भी महान् है, पर आशा और प्रेम को पल्लवित होने के लिए विश्वास की धरती चाहिए।

इस प्रकार अस्तित्ववाद के दो वर्गों में निराशा और आशा का भेद मुख्य रीति से जान पड़ता है। आस्तिकता प्रेम और आशा का आधार है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है अस्तित्ववाद को दार्शनिक क्षेत्र में उतनी प्रतिष्ठा नहीं मिली, जितनी कि साहित्य-सर्जना के क्षेत्र में। अस्तित्ववादी दृष्टिकोण को लेकर बहुत साहित्य लिखा गया। इस विचारधारा के लेखकों ने मानव-व्यक्तित्व की 'स्वतन्त्रता' का प्रचार किया और यथार्थ जीवन-चित्रण को अपना लक्ष्य बनाया। इनके चित्रणों में महायुद्धोत्तर जीवन की निराशाओं एवं विगलित अवस्था का दिग्दर्शन है। प्रायः इनमें मानवीय आस्था के विघटन एवं मूल्यों के ह्रास के चित्र हैं। मूल्य शून्य जीवन की विकृतियाँ अस्तित्ववादी साहित्य में भरी पड़ी हैं। मानव-जीवन की शून्यता और सारहीनता की अनुभूति इस साहित्य में व्याप्त है। मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों, अमर्यादित यौन-भावनाओं, असामाजिक कुण्ठा-ग्रस्त प्रवृत्तियों का नग्न रूप इस साहित्य में भरा पड़ा है। इन सब बातों को देखकर ऐसा लगता है कि अस्तित्ववादी साहित्य पर, इस विचारधारा के

साथ-साथ फ्रायड, जुंग, एडलर आदि मनोवैज्ञानिकों के विश्लेषण का बहुत प्रभाव है। दार्शनिक रूप से चाहे अस्तित्ववाद मनोदर्शन से भिन्न आधार पर माना जाय, पर उसके साहित्य में निश्चित रूप से यौनभावना, कुण्ठा, हीनता, अन्तर्मुखता आदि की प्रवृत्तियाँ, मनोवैज्ञानिक चिन्तनधारा से पूर्णतया प्रभावित हैं।

अस्तित्ववादी साहित्यकारों के निष्कर्ष मानव-संस्कृति के विकास को प्रशस्त करने के बजाय, उसमें अवरोधों की योजना प्रस्तुत करते हैं। सोचने की बात तो यह है कि अस्तित्ववादी दर्शन का आग्रह, इस प्रकार की निराशा और विकृति की ओर नहीं है। उसमें तो व्यक्ति कार्यों के चुनाव और निर्णय के लिए पूरी तरह से स्वतन्त्र है। उसके सामने आत्म-साक्षात्कार, अस्तित्व की अनुभूति और उसके द्वारा परोक्ष निरपेक्ष परमतत्त्व के साक्षात्कार एवं उसकी ओर अग्रसर होने का मार्ग भी संकेतित है, पर तथाकथित अस्तित्ववादी साहित्य में मूल्य-चेतना से रहित, नैतिक भावना से शून्य चरित्रों का ही चित्रण मिलता है। अस्तित्ववादी विचारधारा के अनुसार यह सत्य है कि मूल्य शाश्वत नहीं तथा नैतिकता और आदर्शों एवं मूल्यों का निर्माण मनुष्य या व्यक्ति स्वयं करता है और यह भी सत्य है कि आज के सामाजिक जीवन में मूल्यों और आदर्शों तथा नैतिक भावनाओं का विघटन और ह्रास हो रहा है; तो ऐसी दशा में अस्तित्ववादी साहित्यकार का जहाँ एक ओर यह कर्त्तव्य है कि वह मूल्य-विघटन एवं नैतिकता के ह्रास की असलियत का चित्रण करे, वहीं अस्तित्ववादी दर्शन यह भी प्रेरणा देता है कि उससे प्रभावित साहित्य में व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता और अस्तित्व का इस प्रकार का भी चित्रण हो कि उससे व्यक्ति के नैतिक मूल्यों और आदर्शों का निर्माण हो सके। पर ऐसा बहुत कम या नहीं के बराबर हुआ है। अस्तित्ववादी साहित्य में तो प्रायः मानव-जीवन के अन्धकारमय पक्षों, पाशविक प्रवृत्तियों के घृणित, बीभत्स और अश्लील रूपों का ही चित्रण अधिक है, विशेषकर कथा-साहित्य में। इस प्रकार के चित्रण के औचित्य को सिद्ध करने के लिए वागाडम्बरपूर्ण शब्दावली का घटाटोप अवश्य मिलता है। अस्तित्ववादी कथा-साहित्य को हम कोसते हैं, क्योंकि उसमें कायर, हताश, दुष्ट, धूर्त, लम्पट, व्यभिचारी और पलायनवादी पात्रों का ही अधिक चित्रण है। सार्त्र के विचार से इस साहित्य में इनका चित्रण इसलिए हुआ है; क्योंकि वे मानते हैं कि व्यक्ति का असली रूप यही है और हम व्यक्ति का यथार्थ चित्रण करते हैं, तो लोगों को क्यों चौंकना चाहिए। हम असली रूप से घृणा क्यों करते हैं? सार्त्र के विचार से अस्तित्ववादी तो वास्तविक जीवन के चित्रण के लिए प्रतिबद्ध है और हम आत्मचित्र प्रस्तुत करते हैं। साहित्य आत्मचित्र ही तो है। यह सत्य है कि इस प्रकार की स्थिति, जीवन की एक कटु और घृणित स्थिति है, पर जीवन की सुन्दर, मधुर और भली भी स्थिति, तो है। वह भी जीवन का एक यथार्थ पक्ष है। उसकी नितान्त उपेक्षा करना कहाँ तक ठीक है? यथार्थ का तकाज़ा यही है कि जीवन के कटु यथार्थों के साथ-साथ उसके मधुर और सुन्दर वांछनीय यथार्थ का भी चित्रण किया जाय। अस्तित्व का, चेतना का और आत्मा का यह दूसरा पक्ष नगण्य या उपेक्षणीय नहीं।

(घ) आधुनिक युग—कला और साहित्य की शुद्ध चिन्ताधारा

अभी तक हमने आधुनिक युग के उन साहित्य-कला चिन्तकों के विचारों का अध्ययन किया है जिन्होंने मूलतः किसी अन्य दार्शनिक मान्यता, गवेषणा या साहित्य और कला से बाह्य किसी चिन्ताधारा से अनुप्राणित होकर, उसी दर्शन या चिन्तना के परिप्रेक्ष्य में, कला और साहित्य पर भी प्रकाश डाला है। निश्चय ही उनके कला-साहित्य-चिन्तन में, उनकी दार्शनिक विचारधारा का आग्रह है। आगे हम उन कला-साहित्य-चिन्तकों के विचारों को प्रस्तुत कर रहे हैं जिनका मूल क्षेत्र ही कला और साहित्य की समीक्षा का था। अतः निश्चय ही इनका दृष्टिकोण, विवेचन और स्थापनायें अधिक सीधी, तत्सम्बद्ध स्वक्षेत्रीय और प्रभावशील होंगी।

इसके साथ ही साथ वर्तमान युग में विश्व इतना छोटा और उसके विभिन्न देश एक-दूसरे के इतने निकट हो गये हैं कि अब देशों या क्षेत्रों के आधार पर उनके काव्यशास्त्रीय विचारों का परिचय और समीक्षा प्रस्तुत करना अनावश्यक है। यातायात में द्रुतगति के साधनों का विकास और विस्तार, संचार-व्यवस्था की नवीन प्रणालियों का आविष्कार और प्रयोग, ग्रन्थों का प्रकाशन, विविध माध्यमों का सूक्ष्म विकास, विश्व के एक छोर को, दूसरे छोर के निकट खड़ा कर देता है। एक देश में जो साहित्य प्रकाशित होता है, वह शीघ्र ही संसार के अन्य देशों में अनूदित होकर फैल जाता है। विविध भाषा-माध्यमों में वह प्रायः सभी भाषाभाषियों को सुलभ हो जाता है। इसी प्रकार कोई नया विचार या वैज्ञानिक आविष्कार भी किसी देश-विशेष की सीमा में ही आबद्ध नहीं रहता, वरन् देश की सीमाओं को लाँघकर सर्वत्र पहुँच जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अब सारा विश्व एक बड़ा देश जैसा बन गया है। लगता है कि समस्त विश्व की एक सामान्य संस्कृति बन गई है। भाषा की भिन्नता और भौगोलिक दूरियाँ भी अब एक-दूसरे के बीच संवाद करने में बाधा नहीं बन सकतीं। एक-दूसरे के उल्लास और विषाद के क्षणों में सभी देशों के लोग सम्मिलित होते हैं तथा संवेदना का भाव व्यक्त करते हैं। सारे विश्व की एक समन्वित मानव-संस्कृति बन रही है। ऐसी परिस्थिति में हम आधुनिक युग के कला-साहित्य-चिन्तकों के विचारों का परिचय भी अलग-अलग देशों के आधार पर न देकर, एकसाथ दे रहे हैं। पर इनमें वही चिन्तक सम्मिलित हैं जिन्हें पाश्चात्य कह सकते हैं।

सबसे पहले हमारे समक्ष इटली के सुप्रसिद्ध चिन्तक और कला एवं काव्य-सौन्दर्य पर विचार करनेवाला व्यक्ति 'बेनेदेतो क्रोचे' आते हैं।

बेनेदेतो क्रोचे (Benedetto Croce) (1866-1952) : क्रोचे का जन्म इटली के नेपल्स नगर में 1866 में हुआ था। ये विश्व के प्रख्यात सौन्दर्यशास्त्री माने गये। इनकी पुस्तक *ईस्टेटिका (Estetica)* पहले-पहल 1901 में प्रकाशित हुई। काफी समय तक लोगों का ध्यान उसकी ओर नहीं गया। 1912 में जब इसका अनुवाद प्रकाशित हुआ, तो उस सिद्धान्त को उतना ही महत्त्व दिया गया जितना नेपचून ग्रह की खोज को। क्रोचे को कोलम्बिया विश्वविद्यालय ने इस मौलिक ग्रन्थ पर स्वर्णपदक

दिया। ये इटैलियन गवर्नमेण्ट के शिक्षामन्त्री रहे। कई विश्वविद्यालयों ने इन्हें व्याख्यान के लिए आमन्त्रित किया। इनका देहान्त 1952 में हुआ।

क्रोचे एक प्रतिभाशाली और मौलिक चिन्तक थे। उनका कला और काव्य-विषयक चिन्तन शुद्ध सौन्दर्य-दर्शन है। उन्होंने बड़ी बारीकी के साथ कविता और कला की रचना-प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। उनका विचार है कि कविता या कला वास्तव में अभिव्यंजना है। जब अभिव्यंजना पूरी होती है या सफल होती है, तब वह स्वयं ही कला का रूप धारण कर लेती है। अभिव्यंजना के महत्त्व के कारण ही उनका सिद्धान्त अभिव्यंजनावाद कहलाता है।

क्रोचे का विचार है कि सौन्दर्यपरक ज्ञान तार्किक ज्ञान से भिन्न है। वह विज्ञान, इतिहास, नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र से भी अलग है; क्योंकि वह तर्कमूलक ज्ञान नहीं है। वह सहज ज्ञान या सहजानुभूति है। उसका सम्बन्ध कल्पना और अनुभूति से है, जबकि अन्य ज्ञानों का सम्बन्ध बुद्धि से है। सहजानुभूति साकार व्यक्तियों और वस्तुओं के रूप में होती है, सामान्य नियमों और निराकार तर्कप्राप्त निष्कर्षों के रूप में नहीं। कला भौतिक विज्ञान की परिधि से बाहर है। कला सहजानुभूति है। उसका दुःख, सुख और उपयोगिता से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। पर कला सुखात्म होती है। वह एक विशेष प्रकार के आनन्द को प्रदान करती है, सामान्य सुख नहीं। कला नैतिक व्यापार भी नहीं है। उसका प्रयोजन कलात्मक ही है, अन्य कोई नहीं।

कला का सम्बन्ध किसी वर्ग या जाति से नहीं है। कला के सम्बन्ध में एक और प्रश्न उठता है कि वह वस्तु है या रूप? यद्यपि हम वस्तु और रूप में भेद कर सकते हैं; पर उनमें से प्रत्येक को कलात्मक विशेषण से युक्त नहीं कर सकते;[1] क्योंकि दोनों की संहिति या समन्विति कलात्मक होती है। अनुभूति, बिम्ब के बिना अन्धी है और बिम्ब अनुभूति के बिना खोखला है। अनुभूति और बिम्ब, समन्विति के बाहर कलात्मक भावना नहीं रखते।

कला के विभिन्न रूप, भेद और प्रकार भी महत्त्व नहीं रखते। वे भी भ्रमात्मक हैं। वास्तविक तथ्य यह कि कला, अभिव्यंजना है। वह सहजानुभूति है, अतः प्रगीतात्मक या लिरिकल (Lyrical) है। सहज ज्ञान या सहजानुभूति अपने-आपमें अभिव्यक्ति है, क्योंकि वह बिम्बात्मक है। बौद्धिक क्रिया की अपेक्षा सहज मानसिक क्रिया में सहजानुभूति (इंट्यूशन) उसी मात्रा में प्राप्त होता है जिस मात्रा में वह अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार सहजानुभूति अभिव्यंजना है। न उससे कम और न उससे अधिक, सहजानुभूति कल्पना पर पड़े प्रभाव की अभिव्यक्ति रूप में होती है—वह बिम्बात्मक होती है, अतः वह कला है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि कला या अभिव्यंजना सहजानुभूति है। उसके विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि अभिव्यंजनावाद, कलावाद, बिम्बवाद, भाववाद, प्रतीकवाद आदि वादों के मूल में है।[2]

---

1. क्रोचे : *ईस्टेटिका (Estetica)*—एसेन्स ऑफ़ ईस्थिटिक्स, पृ. 39.
2. क्रोचे : *थियरी ऑफ़ ईस्थिटिक्स,* पृ. 1.

क्रोचे की एक विलक्षण स्थापना है कि सभी मनुष्य कवि हैं। कुछ बड़े और कुछ छोटे।[1] जिनकी सहजानुभूति या अभिव्यंजना पूर्ण है, वे बड़े कवि और जिनकी अपूर्ण है, वे छोटे कवि। उनके विचार से अभिव्यंजना, कला या काव्य एक सौन्दर्य-सृष्टि है। इसकी सृजन-प्रक्रिया की चार अवस्थायें हैं।[2] प्रथम अवस्था, कल्पना पर पड़े प्रभाव की, द्वितीय मानसिक सौन्दर्यात्मक संश्लेषण की, तृतीय सौन्दर्यानुभूति के आनन्द की तथा चतुर्थ उसकी शारीरिक क्रिया के रूप में रूपान्तरण की यथा ध्वनि, स्वर, गति, रंग, रेखा आदि के रूप में प्रकटीकरण की। ये चारों अवस्थायें, जिनकी सहजानुभूति यां अभिव्यंजना के साथ निर्बाध रूप से पूर्ण या सफल होती है, वही बड़ा कवि या कलाकार होता है। अन्य कवि या कलाकारों में ये सभी अवस्थायें पूर्णता को प्राप्त नहीं होतीं, पर द्वितीय स्थिति तक तो सभी आते हैं।

क्रोचे के मत से केवल प्रभाव नहीं, वरन् प्रभाव की रूप-रचना अभिव्यंजना या कला है। यह रूप-सर्जना ही कवि या कलाकार का कार्य है, सामान्य गुण-विवेचन नहीं। क्रोचे के विचार से सहज ज्ञान या अभिव्यंजना; विचार, विज्ञान या बुद्धिजन्य ज्ञान की पहली सीढ़ी है। अभिव्यंजना, विचार के बिना हो सकती है; परन्तु विचार, अभिव्यंजना के बिना नहीं। यही कारण है कि सभ्यता की आदिम अवस्था में कविता मिलती है, गद्य बाद में आता है। क्रोचे का मत है कि कविता मानव-जाति की मातृभाषा है। आदिम मनुष्य निसर्गतः उदात्त कवि थे।[3] क्रोचे के विचार से सौन्दर्य सफल-अभिव्यंजना है या केवल अभिव्यंजना है? क्योंकि जो सफल नहीं, वह अभिव्यंजना ही नहीं। इस प्रकार कुरूप या भद्दा असफल अभिव्यंजना है। जिनमें अभिव्यंजना अंसफल है, उनमें भी कहीं-कहीं गुण विद्यमान रहते हैं। क्रोचे का यह भी मत है कि सुन्दर कृतियों की कोटियाँ नहीं होतीं। असुन्दर की ही कोटियाँ होती हैं। निश्चय ही क्रोचे के ये विचार आदर्शवादी हैं।

क्रोचे का यह भी विचार है कि प्रकृति उन्हीं के लिए सुन्दर है जो कलाकार या कवि की दृष्टि से देखते हैं।[4] कल्पना की दृष्टि के बिना प्रकृति का कोई अंग सुन्दर नहीं। कवि प्रकृति के स्वरूप को अपने दृष्टिकोण से सुधारकर प्रस्तुत करता है, तब उसमें सौन्दर्य की सत्ता आती है। बाह्य पदार्थों का केवल यही महत्त्व है कि वह कल्पना में बिम्ब उत्पन्न करते हैं।

---

1. क्रोचे : *थियरी ऑफ् ईस्थिटिक्स,* पृ. 24.
2. वही, पृ. 156.
3. The relation between intuitive knowledge or expression and intellectual knowledge or concept, between art and science, poetry and prose cannot be otherwise defined than by saying that it is of the double degree. The first degree expression and the second the concept; the first can exist without the second, but the second cannot exist without the first. There exists poetry without prose; but not prose without poetry. Expression, indeed is the first affirmative of human activity. Poetry is "The maternal language of the human race; the first men were by nature sublime poets."—Croce : *Theory of Aesthetics,* p. 43.
4. Croce : *Theory of Aesthetic,* p. 10.

क्रोचे के विचार से कला का प्रयोजन अभिव्यंजना में ही पूर्ण हो जाता है। उनकी दृष्टि में काव्य और कला एक ही कोटि की वस्तुयें हैं और सौन्दर्य व्यक्ति-कल्पना की वस्तु है। अतः यह स्पष्ट है कि कलाकार की अभिव्यंजना अन्तर्जगत् की वस्तु को ही प्रकट करती है, बाह्य जगत् की नहीं। बाह्य जगत् की वस्तु पहले कलाकार के अन्तर्मानस में आती है और फिर उसकी अभिव्यंजना होती है। सौन्दर्य की सृष्टि भी अन्तस् में ही होती है। अन्य लोग भी उसी को सुन्दर मानते हैं जिसमें उनकी अन्तर्भावनायें अभिव्यक्ति पाती हैं। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि अभिव्यंजनावाद मूलतः कला की रचना-प्रक्रिया का सिद्धान्त है।

एज़रा पाउण्ड (Ezra Loomis Pound) (1885 से 1972) : एज़रा पाउण्ड अमेरिकन थे और 1908 से 1920 तक लन्दन में रहे। ये बड़े समर्थ कवि थे, जिन्हें कवि के रूप में व्यापक ख्याति मिली। ये टी.एस. इलियट के परम मित्रों में से थे। इनके आलोचनात्मक लेखों का संग्रह *मेक इट न्यू (make it new)* शीर्षक पुस्तक में प्रकाशित है। इनकी तीन कविता-पुस्तकें भी हैं।

आधुनिक साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में एज़रा पाउण्ड का मौलिक योगदान है। उनके विचार से कविता का गुण संक्षिप्तता है। कला मानव के अन्तर्मानस और प्रकृति को व्याख्यायित करती है। कलागत सौन्दर्य चरम तत्त्व के सौन्दर्य की ओर इंगित करता है। कला की दृष्टि से जीवन की कुरूपता और सौन्दर्य दोनों ही ग्राह्य हैं; क्योंकि दोनों में ही कला का सौन्दर्य है।

पाउण्ड के विचार से कविता और साहित्य, एक विज्ञान है। कविता, एक प्रकार की स्फूर्त गणित है, जो हमें समीकरण प्रदान करती है। पर यह समीकरण निराकार अंकों, त्रिभुजों, वृत्तों आदि का नहीं, वरन् यह मानव-भावों और रूपों का समीकरण है।[1]

फ्रांस के बिम्बवादियों के प्रभाव से एज़रा पाउण्ड ने सन् 1912 में बिम्बवाद का आन्दोलन चलाया था। वे कविता की इकाई बिम्ब को मानते थे। बिम्ब की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा कि बिम्ब बौद्धिक और रागात्मक ग्रन्थि के प्रकाशन का क्षण है। बिम्ब के माध्यम से ग्रन्थि के प्रकाशन से देश-काल की परिधि से मुक्ति की भावना प्राप्त होती है। "जीवनभर किताबों का ढेर लगाने के स्थान पर इस प्रकार के एक बिम्ब का नियोजन अधिक मूल्यवान् होता है।"[2] पाउण्ड ने बिम्बवादी सिद्धान्त के तीन आधार बताये हैं[3]—

1. सामान्य या विशिष्ट वस्तु का स्पष्ट चित्रण करना।

---

1. "Poetry is a sort of inspired mathematics which gives us equations not for abstract figures, triangles, spheres and the like, but equations for the human emotions."
   —*The Spirit of Romance :* Ezra Pound (London, 1910), p. 5.
2. *Letter of Ezra Pound* by D.D. Paige, p. 294.
3. Ezra Pound : *Make it New,* p. 335-36.

2. ऐसे किसी शब्द का प्रयोग न करना जो अभिव्यक्ति में सहायक न हो।

3. परम्परागत लयों के स्थान पर संगीतात्मक नयी लयों का प्रयोग।

उनका विचार है कि कविता संगीत के प्रवाह पर आधारित है, क्योंकि प्राकृतिक अवस्था संगीतमय है। संगीत यद्यपि अनिवार्य नहीं, पर उसका मूल प्रवाह कविता के लिए आवश्यक है। संगीत के नियम कविता को अनुशासित करते हैं। कविता और संगीत दोनों ही, उस क्षण में एक आकार की उद्भावना करते हैं।[1] पाउण्ड का विचार है कि कविता में एक निरपेक्ष एवं व्याख्यात्मक लय बराबर रहती है। कवि को विदेशी भाषाओं की उत्कृष्ट स्वरलयों की खोज करनी चाहिए, ताकि शब्द उसकी गति के निर्वाह में बाधा न डाल सके। लय का स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि उसमें शब्दों का आकार, उनकी ध्वनि-व्यंजना और उसकी अर्थवत्ता सुरक्षित रह सके। शिल्प कलाकार की गहराई का मानदण्ड है। उसी के आधार पर उसकी ईमानदारी की परीक्षा की जा सकती है।

सुगठन या संहिति कविता के लिए आवश्यक है, क्योंकि लेखक वही कहता है जो उसे अभीष्ट है। उसे पूरी स्पष्टता और सरलता से कहता हुआ भी वह कम-से कम शब्दों का व्यवहार करता है।[2] एजरा पाउण्ड के विचार से कविता या साहित्य का कार्य मानव को जीने की प्रेरणा प्रदान करना है। मानसिक तनाव को दूर कर शान्ति देना और संवेदनाओं को पोषित करना भी उसका प्रयोजन और दायित्व होता है। इस दायित्व के निर्वाह के लिए विचारों और संवेदनाओं को स्पष्टतः शक्तिशाली रूप में प्रेषित करना अपेक्षित है। यह कार्य शब्द की शक्ति से ही सम्भव है। उनका मत है कि अर्थ ही सम्पूर्ण सम्भावित मात्रा से सम्पन्न भांषा ही महान् साहित्य होता है। कविता में भाषा का नियोजन इसी दृष्टि से होता है।[3]

पाउण्ड के विचार से वस्तु और अभिव्यंजना, समानपदवाली हैं। अच्छी कविता में जहाँ प्रत्येक शब्द अपना कार्य पूर्णता से सम्पादित करता है, वहाँ अस्पष्ट कथन अलंकृति या यान्त्रिकी बेतुकी लय का कोई स्थान नहीं। पदावली अर्थ को पूर्ण अभिव्यक्ति देती है; वास्तव में अभिव्यंजना ही अर्थ है। उनके विचार से महान् साहित्य वही होता है जिसमें भाषा पूर्णतः अर्थ से सम्पन्न होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एज़रा पाउण्ड के साहित्य और कला-सम्बन्धी विचार मौलिक और आदर्शवादी हैं।

टी.एस. इलियट (Thomas Stearns Eliot) (1888-1965) : थामस स्टीर्न्स इलियट का जन्म 26 सितम्बर 1888 को मिसौरी (अमरीका) के सेण्ट लुई नामक स्थान में हुआ था। इलियट के पितामह रेव. ग्रीनलीफ इलियट, वाशिंगटन युनिवर्सिटी के संस्थापक तथा 1872 ई. में उसके चांसलर थे। इनके पिता हेनरी वेयर इलियट (Henry

---

1. T.S. Eliot : Introduction to *Selected Poems of Ezra Pound,* p. IX.
2. T.S. Eliot : *Literary Essays of Ezra Pound,* p. 50.
3. वही, पृ. 12.

Ware Eliot) एक व्यापारी थे। परन्तु टी.एस. इलियट को अपनी शिक्षा और अध्ययन के लिए पूरी सुविधा और स्वतन्त्रता थी। इनकी माँ भी कवयित्री थीं। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा सेण्ट लुई में और उच्च शिक्षा हारवर्ड में हुई। 1909 में इन्होंने वहाँ से बी.ए. की डिग्री ली। एक-दो वर्ष फ्रान्स में रहने के बाद सन् 1911 में ये हारवर्ड वापस लौट आये और भारतीय दर्शन का अध्ययन करने लगे। हारवर्ड के सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् चार्ल्स लैनमैन से संस्कृत पढ़ी। ये अपने समय के अंग्रेजी कवियों में सर्वाधिक अधीत व्यक्ति रहे। इलियट कवि, नाटककार, आलोचक और सम्पादक के रूप में सुप्रसिद्ध रहे। इलियट की 1917 से 1920 तक प्रकाशित कविता-पुस्तकों ने 20वीं शती कविता-आन्दोलन को गति और प्रौढ़ता प्रदान की। एज़रा पाउण्ड ने अपने समय की कविता को नयी काव्यभाषा प्रदान की, जो न तो ग्राम्य थी और न आडम्बरयुक्त। ये अध्यापक भी रहे और बैंक में क्लर्क भी। 1922 में जब इनकी पुस्तक 'वेस्ट लैण्ड' प्रकाशित हुई, तभी से इलियट को व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली। 1920 में प्रकाशित इनकी रचना *दि सैक्रेड वुड* भी काफी प्रसिद्ध हुई। इनकी रचना *सेलेक्टेड एसेज* (जो 1932 में प्रकाशित हुई) के प्रकाशित होने के बाद, इलियट का काव्य-रचना में 'तटस्थता का सिद्धान्त' (Theory of Objectivity) पूरी तरह से सामने आ गया। 1933 में इनका ग्रन्थ *यूज़ ऑफ् पोइट्री ऐण्ड यूज़ ऑफ् क्रिटिसिज़्म* प्रकाशित हुआ। इसके बाद इन्होंने समाजशास्त्र और धर्मशास्त्र पर भी अपनी लेखनी चलाई। इन्होंने अनेक काव्य और नाटक भी लिखे। अपने बहुमुखी साहित्य-सृजन तथा मौलिक विचारों के कारण बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध अंग्रेजी-साहित्य के अन्तर्गत 'इलियट-युग' के रूप में विख्यात रहेगा।

इलियट का विचार था कि कोई रचना कविता है या नहीं इस बात का निर्णय उसे साहित्यिक कसौटियों पर कसकर करना चाहिए; परन्तु वह रचना महान् कविता है या नहीं—इसका निर्णय हमें साहित्यिक कसौटियों से ऊँचे मूल्यों के आधार पर करना चाहिए। इलियट की काव्यभाषा, शैली और काव्य-वस्तु सम्बन्धी प्रयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। 1948 में इन्हें जीवित अंग्रेजी के कवि और लेखक के सम्मान तथा नोबेल पुरस्कार के अलंकार से विभूषित किया गया। इनकी मृत्यु 4 जनवरी 1965 में लन्दन में हुई।

इलियट की गणना बीसवीं शताब्दी के सबसे प्रभावशाली और समर्थ समीक्षकों में की जाती है। इन्होंने साहित्य की प्राचीन मान्यताओं की पुनःस्थापना की। इनके लिए आदर्श साहित्य-चिन्तक अरस्तू थे। इन पर बिम्बवाद, प्रतीकवाद, कलावाद और अभिव्यंजनावाद का प्रभाव था, परन्तु साहित्य के सम्बन्ध में इनके विचार बड़े सन्तुलित थे। बिम्बवादी आन्दोलन में तो एज़रा पाउण्ड और टी.एस. इलियट का महत्त्व-पूर्ण योगदान रहा; फिर भी इन्होंने व्यक्तिगत दृष्टिकोण के स्थान पर वस्तुवादी (Impersonal) दृष्टिकोण को महत्त्व प्रदान किया। इलियट क्लासिकवादी या शास्त्रवादी भी थे। ये परिपक्वता और प्रौढ़ता को रचना के लिए आवश्यक मानते थे। उनका यह निश्चित मत था कि क्लासिकल या उत्कृष्ट साहित्य की रचना तभी हो सकती

है, जब सभ्यता, भाषा, साहित्यिक दृष्टि, साहित्यकार का अनुभव और मस्तिष्क प्रौढ़ हो। मस्तिष्क की प्रौढ़ता के लिए इलियट ऐतिहासिक ज्ञान और इतिहास-बोध या ऐतिहासिक चेतना को आवश्यक मानते थे। उनका विचार था कि कवि और साहित्यकार को अपने देश और जाति के इतिहास के साथ-साथ अन्य सभ्य जातियों के इतिहास का अध्ययन करना चाहिए। इलियट चरित्र की प्रौढ़ता भी आवश्यक मानते थे; क्योंकि उसके बिना आदर्श चरित्र का निर्माण नहीं हो सकता। भाषा की प्रौढ़ता के लिए वे पूर्ववर्ती महान् कवियों और रचनाकारों की भाषा के अध्ययन को अपेक्षित एवं महत्त्वपूर्ण मानते थे। महान् कवि क्लासिक हो, यह आवश्यक नहीं। महान् कवि केवल एक विधा में पराकाष्ठा तक पहुँचता है और सदा के लिए उसकी सम्भावना को समाप्त कर देता है। परन्तु क्लासिक कवि वह है जो विधा को ही नहीं, भाषा को भी पराकाष्ठा तक पहुँचाकर उसके आगे के विकास की सम्भावना को समाप्त कर देता है। क्लासिक कवि के लिए मस्तिष्क की प्रौढ़ता, शील की प्रौढ़ता, भाषा-शैली की प्रौढ़ता और दृष्टिकोण से सार्वभौमता (Universality) अनिवार्य तत्त्व है। संकीर्णता और सीमित धार्मिक चेतना उसके लिए अग्राह्य है। इलियट का क्लासिकवाद और तटस्थता का मत इनके पूर्व चले आते स्वच्छन्दतावाद और व्यक्तिवाद के प्रबल प्रभाव के विरोध में था। प्रभाववाद को भी इलियट ने अस्वीकार कर दिया।

इलियट का दूसरा आग्रह परम्परा और इतिहास-बोध का था। वे परम्परा के अन्धानुकरण को नहीं, वरन् उसके बोध को आवश्यक मानते थे। ऐतिहासिक बोध से उनका तात्पर्य अतीत को वर्तमान में देखना था। क्योंकि इतिहास, वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में ही साहित्य के लिए प्रासंगिक होता है। उससे आधुनिक दृष्टि में प्रौढ़ता आती है। परम्परा-ज्ञान से उनका तात्पर्य रूढ़ि-पालन से नहीं था; क्योंकि उसके ज्ञान से उसके प्रति विद्रोह भी उत्पन्न हो सकता है। पर उसे स्वीकार करना चाहिए या उसके प्रति विद्रोह करना चाहिए—यह तभी निश्चित हो सकता है, जब पहले उसका ठीक-ठीक ज्ञान हो। परम्परा के आलोक में जहाँ पर साहित्यकार को यह जानकारी हो जाती है कि उसे क्या करना है, वहीं उसे इसका भी ज्ञान हो जाता है कि उसकी कृति का परम्परा के बीच मूल्य क्या है? इस प्रकार टी.एस. इलियट का मौलिक दृष्टिकोण अतीत को वर्तमान में देखना है।

इनका सिद्धान्त कला या कविता में निर्वैयक्तिकता (Impersonal Theory of Art) का अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ है। इस दृष्टिकोण में इलियट एज़रा पाउण्ड के साथ हैं। वे मानते हैं कि कवि को वैज्ञानिक के समान निर्वैयक्तिक होना चाहिए। परम्परा को आवश्यक मानते हुए भी वे वैयक्तिकता के विरोधी हैं। उनका विचार है कि परम्परा के ज्ञान से आत्मनिष्ठता नियन्त्रित होती है। वे व्यक्तित्व के सिद्धान्त को भी नहीं मानते हैं। उनका मत है कि कवि अपने व्यक्तित्व का अध्ययन नहीं करता है, वह तो किसी वस्तु की अभिव्यक्ति का विशिष्ट माध्यममात्र है। उसका कर्त्तव्य है कि ईमानदारी के साथ वह अपने निजत्व से पलायन करके जिसका निरूपण कर रहा

हो, उससे पूर्णतया एकनिष्ठ हो। वास्तव में कवि कविता नहीं लिखता। कविता स्वयं कवि के माध्यम से प्रकट होती है।[1] आगे चलकर उनके इन विचारों में परिवर्तन भी हुआ। बाद में उन्होंने निर्वैयक्तिकता के दो रूप स्वीकार किये—

प्रथम वह जो कुशल शिल्पी मात्र के लिए सहज या प्राकृतिक होती है। और द्वितीय वह जो प्रौढ़ कलाकार के द्वारा अधिकाधिक उपलब्ध की जाती है।

उनका विचार है कि कवि के यद्यपि निजी भाव होते हैं, पर वे इस प्रकार अभिव्यक्त होते हैं कि सर्वसाधारण के भाव बन जाते हैं। यही कवि का व्यक्तित्व से पंलायन, निर्वैयक्तिकता है।[2]

इलियट कविता के तीन स्वर मानते हैं—प्रथम वह जिसमें कवि अन्य से नहीं, स्वयं से बात करता है, द्वितीय वह जिसमें वह श्रोताओं से बात करता है और तृतीय वह जिसमें वह तिरोहित हो जाता है और पात्रों के माध्यम से श्रोताओं से बात करता है। इनमें प्रथम प्रगीत-काव्य, द्वितीय प्रवन्ध-काव्य तथा तीसरा नाटक है।

इलियट का विचार था कि कविता का अनुवाद नहीं किया जा सकता। कविता भाव-प्रधान होती है। प्रत्येक राष्ट्र और जाति की अनुभूति-शक्ति की अपनी निजी विशिष्टता होती है। यही उसकी भाषा में व्यक्त की जाती है। अनुवाद में उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। परम्पराबद्ध भाषा कवि के नये दृष्टिकोण और अनुभूति को व्यक्त नहीं कर पाती। इसलिए कवि परम्परागत भाषा को छोड़कर नयी भाषा का निर्माण करता है। कवि-कर्म भाषा के माध्यम से ही होता है। इसी माध्यम से वह समाज को नवीन संवेदन-शक्ति और भावानुभूतियाँ प्रदान करता है। इन नवीन भावानुभूतियों को व्यक्त करने के लिए वह परम्परागत भाषा से संघर्ष करता है और उसे अपनी अभिव्यक्ति के अनुकूल बनाता है तथा उसे शक्ति प्रदान करता है। वह शब्दों को नये अर्थ और मुहावरे देता है। भाषा युग की भाषा के इतनी निकट होनी चाहिए कि श्रोता या पाठक उसे सुनकर या पढ़कर कह उठे कि मैं भी इसी प्रकार से अपनी बात कहता। उनका विचार था कि आधुनिक युग की कविता गाने के लिए नहीं, बोलने के लिए लिखी जाती है, अतः उसका सम्बन्ध बोलचाल की भाषा से है।

समीक्षा के सम्बन्ध में भी इलियट ने बहुत-कुछ लिखा है। उनके विचार से

---

1. The poet has not a personality to Express, but a particular medium, which is only medium and not a personality, is which impressions and experiences combine in peculiar and unexpected ways.
   —T. S. Eliot : *Selected Essays (1917),* Newyork, 1932, p. 8.
   "The emotion of art is impersonal. And the poet cannot reach this impersonality without surrendering himself wholly to the work to be done." —*Selected Essays,* p. 11.
2. "Poetry is not tuming loose of emotion, but an escape from emotion, it is not expression of personality, but an escape from personality." —*Selected Essays,* p. 10.

समीक्षक को दार्शनिक और निष्पक्ष होना चाहिए। उसमें सूक्ष्म, पर प्रचुर संवेदन-शक्ति होनी चाहिए। वह मर्मज्ञ, स्वतन्त्रचेता और अनाग्रही हो—यह आवश्यक है। समीक्षा का मूलभूत कार्य है रचना की व्याख्या कर उसका बोध कराना तथा उसका आनन्द दिलाना। ऐसा करने से वह लोक की साहित्यिक अभिरुचि बढ़ाता है।

धार्मिक साहित्य के सम्बन्ध में इलियट का मत है कि उसमें काव्यत्व हो सकता है; पर उसे काव्य के लिए पढ़ा नहीं जाता। जो कृति धर्म को काव्य के माध्यम से प्रकट करती है वह उत्कृष्ट नहीं होती—वह प्रचार-काव्य है। परन्तु यदि किसी काव्य में बिना प्रयास धार्मिक प्रबुद्धता परिव्याप्त हो, तो वह उत्कृष्ट काव्य हो सकता है। यदि किसी काव्य में नैतिक, धार्मिक और सामाजिक प्रबुद्धता स्वतः स्फुरित हो, तो वह सर्वोत्तम काव्य है। जो साहित्य हमें जीने की कला सिखाये, वह महान् साहित्य है।

इस प्रकार टी.एस. इलियट ने उत्कृष्ट और महान् साहित्य की कसौटी भी प्रदान की तथा उसके सृजन की प्रेरणा भी। वे आधुनिक युग के उत्कृष्ट साहित्य चिन्तक थे।

जान क्रो रैनसम (John Crow Ransom) (1888-1974) : रैनसम अमेरिका-निवासी थे। इनका जन्म संयुक्तराज्य अमेरिका के टेनेसी प्रदेश की पुलास्की नगर में सन् 1888 ई. में हुआ था। इनकी शिक्षा नैशविले की वाण्डरबिल्ट विश्वविद्यालय की शालाओं में हुई। ये 1910 से 1913 तक ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी में रहे। 1914 से 1937 तक वाण्डरबिल्ट युनिवर्सिटी में अध्यापन करते रहे, तदनन्तर 1937 से 1959 तक ओहियो के कॉलेज में पढ़ाते रहे। इन्होंने 'फ्यूजिटिव' नाम की पत्रिका निकाली तथा अन्य पत्रिकाओं का सम्पादन किया। इन्होंने नयी आलोचना का आन्दोलन चलाया जिसका समर्थन इनके शिष्यों एलेन टेट, डोनाल्ड, डेविड्सन, बारेन और क्लीन्थ ब्रुक ने किया, जो सभी प्रसिद्ध समीक्षक हैं। नयी समीक्षा का बड़ा प्रभाव पड़ा। इसके सिद्धान्त का निर्माण रैनसम ने किया था। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें *गाड विदाउट थण्डर* (1930), *दि वर्ल्ड्स बाडी* (1939) और *दि न्यू क्रिटिसिज़्म* (1941) प्रसिद्ध हैं।

जान क्रो रैनसम का विचार था कि एक कविता दूसरी कविता से विषय की दृष्टि से भिन्न होती है और उसके विषयों की भिन्नता उनके वस्तु-तत्त्व में देखी जा सकती है। कुछ कविताओं में वस्तुओं का विवरण होता है और कुछ में भाव या विचार का। तदनुसार वस्तु और भाव की भिन्नता के समान उनमें भी भिन्नता देखी जा सकती है। बिम्बवादी कविता में वस्तु का प्राधान्य है, परन्तु अधिकांश लोग विचारों और नयी सूझ को अधिक महत्त्व देते हैं।

उनका विचार है कि हमारे स्वप्न, हमारी स्मृतियाँ कविता की प्रेरणा देती हैं और सौन्दर्यानुभूति की ओर अग्रसर करती हैं। प्रथम दृश्य या बिम्ब कला को जन्म नहीं देता, वरन् उसका पुनःस्मरण कला की ओर प्रवृत्त करता है।

जिन्हें विचारों में अन्धकार दिखलायी देता है, उनके लिए बिम्ब गौरवपूर्ण है। शुद्ध कविता, वस्तुपरक होती है, वह ललित छन्दबद्ध होती है। छन्दशास्त्र एक विज्ञान

है, क्योंकि उसकी व्यवस्था में एक क्रम और नियम है। प्लेटोनिक कविता विचारपरक है। वह भौतिक जगत् से नहीं, वैचारिक जगत् से मेल खाती है। रैनसम का कहना है कि कविता की अनुभूति और आवेग स्वतन्त्र नहीं हैं। वे बिम्बों के आस्वाद करने के लिए विज्ञान के विरुद्ध जाते हैं। विज्ञान और कविता का अन्तर स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि विज्ञान हमारी तर्कसंगत या व्यावहारिक भावना को सन्तुष्ट करता है और संवेदन या अनुभूति से उसका कम लगाव है, जबकि कविता हमारी संवेदनगत भावना को सन्तुष्ट करती है और तर्क से उसका कम-से-कम लगाव होता है। संवेद्यता को विकसित करने के लिए कवि कतिपय उपायों का आश्रय लेते हैं। ये हैं—छन्द, कल्पना और अलंकार। काव्य की रचना के लिए कवि इनका उपयोग किसी न किसी रूप में अवश्य करते हैं।

हरबर्ट रीड (Herbert Read) (1893 से 1968 ई.) : सर हरबर्ट एडवर्ड रीड इंग्लैण्ड के यार्कशायर में 1893 में उत्पन्न हुए। इनकी शिक्षा लीड्स युनिवर्सिटी में हुई। इन्होंने प्रथम विश्व-युद्ध में भाग लिया। उसके अनन्तर (1922-31) विक्टोरिया और अलबर्ट संग्रहालयों में लन्दन में काम करते रहे। उसके बाद एडिनबर्ग युनिवर्सिटी में 1931 से 33 तक ललित कलाओं के प्रोफेसर के रूप में काम करने के बाद, काव्य के प्रोफेसर होकर हारवर्ड युनिवर्सिटी में नियुक्त हुए। इन्होंने ललित कला-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे। कलाओं में नयी शैलियों के विकास पर इनका विशेष बल था। साहित्य को विभिन्न अभिगमों (Approaches) से मूल्यांकित करने में इनकी विशिष्ट रुचि थी जिनमें मनोवैज्ञानिक अभिगत इन्हें अधिक प्रिय था। इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—*दि मीनिंग ऑफ़ आर्ट* (1931), *आर्ट ऐण्ड इण्डस्ट्री* (1934), *आर्ट ऐण्ड सोसायटी* (1936), *दि फिलासफी ऑफ़ मॉडर्न आर्ट* (1952), *पोइट्री ऐण्ड एक्सपीरियन्स* (1967)। सन् 1968 में इनका देहावसान हुआ।

हरबर्ट रीड का विचार था कि कला का मूल स्रोत अनुभव होता है। कला एक सुनियोजित रचना है जो जीवन की अस्तव्यस्तता में व्यवस्था की स्थापना करती है। इस कारण कला के अपने सूक्ष्म नियम होते हैं। परन्तु विज्ञान की व्याख्या और प्रचार में कला का उपयोग, उसकी अवनति ही मानी जायेगी। कला की विशेषता संरचना और समन्वय में रहती है, विश्लेषण और विवेचन में नहीं।

हरबर्ट रीड ने कला के मनोविश्लेषण पर भी विचार किया है और वे इस दृष्टि से फ्रायड और एडलर की अपेक्षा जुंग के विचारों को अधिक उपयोगी स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि कलाकार और विशेष रूप से साहित्यकार के मस्तिष्क में दो विरोधी प्रवृत्तियाँ कार्यशील रहती हैं—एक तो आदिम मन की प्रवृत्ति, जिसमें उसे स्वच्छन्द कल्पना का अवसर मिलता है जो अनर्गल स्वप्नों की स्थिति के समान है और दूसरी आदर्श नैतिक सौन्दर्य और शिल्पगत व्यवस्था की प्रवृत्ति है। इन दोनों के समन्वय और सम्मिलन पर ही कलाकार अपने उद्दिष्ट की ओर अग्रसर होता है। इन दोनों को हम स्वच्छन्दतावादी (रोमाण्टिक) और शास्त्रवादी (क्लासिसिज़्म) की

प्रवृत्तियाँ कह सकते हैं। दोनों का अपने वास्तविक रूप में होना ही महान् रचना का आधार है।

रीड ने फ्रायड के मनोविज्ञान के आधार पर कला की रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण किया है। उनके विचार में कला का उन्मेष (इंस्पिरेशन) इड (प्राकृतिक स्वत्व या प्राणशक्ति) से प्राप्त होता है। उसकी रूप-रचना या संरचना का कारण 'ईगो' (अहंभाव) है तथा उसमें आदर्श, जीवनमूल्य और नैतिकता का समावेश सुपर ईगो (उदात्त अहं) का परिणाम होता है। कोई भी कलाकृति कला-सम्बन्धी ज्ञान से उत्पन्न नहीं होती। इसके लिए कलात्मक उन्मेष अपेक्षित होता है।

आइ.ए. रिचर्ड्स (Ivory Armstrong Richards) (1893 से 1979): रिचर्ड्स का जन्म इंग्लैण्ड के चेशायर में सन् 1893 ई. में हुआ था। इनकी शिक्षा क्लिफ़्टन और कैम्ब्रिज में हुई थी। इन्हें कैम्ब्रिज और पेकिंग (चीन) के विश्वविद्यालयों में नियुक्ति मिली थी। कुछ समय कार्य करने के उपरान्त ये 1944 से 1963 तक हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अंग्रेजी विषय के प्रोफेसर रहे। इनके कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अध्यापन का बड़ा प्रभाव पड़ा। इनके अध्यापन में मनोविज्ञान एवं अर्थविज्ञान का विशेष योगदान था। इन्होंने यद्यपि अनेक ग्रन्थ लिखे, पर उनमें से प्रमुख हैं—*प्रिंसिपल्स ऑफ़् लिटरेरी क्रिटिसिज़्म* (1924), *प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म* (1929), *फिलासफी ऑफ़् रिटोरिक* (1936), *हाउ टु रीड ए पेज* (1942)।

रिचर्ड्स ने आधुनिक जीवन में कविता की सन्दर्भता पर प्रकाश डाला और सम्पूर्ण और स्वस्थ मानव-जीवन में काव्य के महत्त्व और मूल्य पर भी विचार किया है। इनका व्यक्तित्व मूलतः एक महान् शिक्षक का था। ये सुप्रसिद्ध समालोचक, कवि एवं भाषाविद् थे। इनका निधन 1979 में हुआ। समीक्षा के क्षेत्र में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में कविता की सार्थकता और महत्ता पर इनके मौलिक विचार हैं। उनका मत था कि आज के युग में जब प्राचीन परम्परायें और जीवन-मूल्य विघटित हो रहे हैं, तब कविता का मूल्य, उसकी मन को प्रभावित करने की क्षमता पर निर्भर करता है। जिस कविता में जितनी अधिक सम्प्रेषणीयता होगी, वह उतनी ही उत्कृष्ट होगी। इनके विचार से स्नायुविषयक व्यवस्था और उसकी आंशिक क्रियाशीलता ही मन है। जो कविता इस व्यवस्था के उपयुक्त होगी, वही कल्याणकारी होगी।

रिचर्ड्स के विचार से मन में संवेगों का उतार-चढ़ाव होता रहता है, जिससे उसमें तनाव या विषमता उत्पन्न होती रहती है। काव्य और कला इन संवेगों (Impulses) में संगति और सन्तुलन स्थापित करती है। वे संवेगों को व्यवस्थित कर स्नायु-व्यवस्था को सुख पहुँचाती हैं। सौन्दर्य इसीलिए मूल्यवान् है, क्योंकि वह विरोधी संवेगों से उत्पन्न विषमता में व्यवस्था और सन्तुलन स्थापित करता है।

इन संवेगों की दो कोटियाँ हैं—एक काम्य और दूसरी अकाम्य या विरक्ति। प्रथम प्रवृत्तिमूलक है और द्वितीय निवृत्ति या विरक्तिमूलक। रिचर्ड्स के विचार से वे

एषणायें (काम्य संवेग) अधिक महत्त्वपूर्ण हैं जो दूसरी एषणाओं को अवरुद्ध या नष्ट किये बिना अपना विकास करती हैं। मन की सबसे अधिक उत्तम स्थिति वह है जिसमें मानसिक क्रियाओं की सर्वोत्कृष्ट संगति स्थापित होती है और एषणाओं का संघर्ष और विघटन कम-से-कम होता है। कला और काव्य इस स्थिति के सम्पादन में सहायक होते हैं, क्योंकि वे (1) संवेगों में संतुलन स्थापित करते हैं और तनाव को दूर करते हैं। (2) वे हमारी अनुभूतियों और संवेदनाओं को व्यापक बनाते हैं। यह सन्तुलन की स्थिति बाह्य क्रियाओं को भी प्रेरणा देती है।

रिचर्ड्स के विचार से काव्य या कला अपने में सीमित या एकान्तिक नहीं होती। वे अन्य मानव-व्यापारों से सम्बद्ध होती हैं, उनसे पृथक् या भिन्न नहीं। मनुष्य की जितनी भी क्रियायें और कार्य हैं उनमें कला-सर्जना सबसे अधिक मूल्यवान् है। किसी भी मानव-कार्य का मूल्य इस बात पर निर्धारित किया जाता है कि वह कहाँ तक संवेगों के सन्तुलन और सुव्यवस्था उत्पन्न करने में सक्षम है।[1] यही रिचर्ड्स का मूल्य-सिद्धान्त है।

विज्ञान और साहित्य का भेद बताते हुए रिचर्ड्स ने कहा है कि प्रत्येक कथन में वस्तुओं का निर्देश किया जाता है। जब निर्दिष्ट वस्तुयें सच्ची और वास्तविक होती हैं और उनके बीच सम्बन्ध भी सच्चा होता है, तब वह कथन वैज्ञानिक होता है। इसके विपरीत जब कथन में निर्दिष्ट वस्तुओं का सच्चा होना महत्त्वपूर्ण न हो और उनके बीच निर्दिष्ट सम्बन्ध भी महत्त्वपूर्ण न हो, वरन् इसके स्थान पर यह महत्त्वपूर्ण हो कि उनसे हमारे भाव और मनोवेग कहाँ तक जाग्रत् होते हैं; तो ऐसे कथन वैज्ञानिक न होकर साहित्यिक या कलात्मक होते हैं। कविता का सम्बन्ध बौद्धिक सत्य से न होकर रागात्मक सम्बन्ध से होता है। कविता का पाठक या श्रोता उन सभी कथनों को स्वीकार करता है जो रागात्मक स्तर पर हैं और भाव-दृष्टि से सही हैं—तथ्यात्मक दृष्टि से वे चाहे गलत ही क्यों न हों।

रिचर्ड्स की दृष्टि से हमारे अनुभवों के दो स्रोत हैं—प्रथम बाह्य जगत्, दूसरी मानसिक अवस्थायें। विज्ञान का सम्बन्ध प्रायः बाह्य जगत् से होता है और साहित्य का मूलतः अन्तःकरण· या मानसिक अवस्थाओं से। साहित्य का मूल्य इस बात से नहीं कि वह कितना बौद्धिक ज्ञान प्रदान करता है; वरन् इस बात से आँका जाता है कि वह भावों और संवेगों को जाग्रत् करने और उनमें सन्तुलन स्थापित करने की कितनी क्षमता है।

---

1. रिचर्ड्स की इस स्थापना से हमें इस प्रश्न का उत्तर मिल जाता है कि भारतीय भक्ति-काव्य का इतना व्यापक प्रभाव और मूल्य क्यों है? क्योंकि वह कोरा चमत्कारी और क्षणिक मनोरंजन नहीं करता, वरन् स्थायी रूप से हमारी संवेदना को उदात्त और व्यापक बनाता है तथा इसके द्वारा सारे समाज के मनोवेगों में एक व्यापक सन्तुलन एवं सुव्यवस्था उत्पन्न होती है। यही उसके व्यापक आनन्दप्रद होने का मनोवैज्ञानिक कारण है।

रिचर्ड्स का मुख्य सिद्धान्त **सम्प्रेषणीयता** का है। वे सम्प्रेषण को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनके विचार से सम्प्रेषण कला का तात्विक धर्म है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, अतः वह जो कुछ करता है उसे दूसरों तक पहुँचाना चाहता है। अतः किसी कलाकृति की उत्तमता की यही कसौटी है कि उसमें कलाकार जो कुछ कहना चाहता है, वह दूसरों तक भलीभाँति पहुँचा सका या नहीं। इस सम्प्रेषण के तीन आधार हैं—(1) लय और छन्द, (2) शब्दावली और (3) बिम्ब-सृष्टि। सम्प्रेषणीयता किसी कलाकृति में प्रभावकारी तभी होती है जब कवि या कलाकार की अनुभूति व्यापक, विस्तृत और मूल्यवान् हो तथा अनुभूति के क्षणों में संवेगों की व्यवस्थित संघटना हो। साथ ही वस्तु या स्थिति के पूर्ण बोध के लिए कवि या कलाकार में जागरूक निरीक्षण-शक्ति हो और उसके अनुभवों और सामाजिक के अनुभवों में सामंजस्य हो। जहाँ अन्तर का अनुभव हो वहाँ कल्पना की सहायता से सम्प्रेषणीय बनाया जाय।

रिचर्ड्स ने कल्पना के कार्यों पर भी सूक्ष्मता से विचार किया है। उनके विचार से यह कोई रहस्यमय शक्ति नहीं, वरन् मन की अन्य क्रियाओं के समान ही होती है। कल्पना . छः विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होती है, जो हैं—

1. विशद चाक्षुष बिम्बों की उत्पादक-शक्ति के रूप में।
2. आलंकारिक भाषा के प्रयोग करने में।
3. दूसरों की मनःस्थिति को पुनः प्रकट करने में।
4. असम्बद्ध तत्त्वों को एक साथ प्रस्तुत करने की सूझ के रूप में।
5. अदृश्य तत्त्वों और निराकार वस्तुओं को प्रस्तुत करने में तथा
6. विपरीत या विरोधी गुणों के बीच सामंजस्य स्थापित करने में।

कल्पना पुरानी और ज्ञात बातों के प्रस्तुतीकरण में भी ताजगी और नव्यता ला देती है।[1] रिचर्ड्स के विचार से कल्पना का अन्तिम अर्थ विशेष महत्त्वपूर्ण है।

उनके मतानुसार कलाकार का कार्य उन अनुभूतियों का चित्रण करना और उन्हें चिरस्थायी बनाना है जिसे वह मूल्यवान् और रहने योग्य समझता है। वह समस्याओं से जूझने के लिए दृष्टि, शक्ति और मार्ग भी स्पष्ट करता है। अतः कलाकार के लिए मनोवैज्ञानिक नीति या आचरण के नियम आवश्यक हैं।[2] इसी मत के कारण उन्होंने डॉक्टर ब्रैडले के 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का खण्डन किया है। डॉ. ब्रैडले, कविता के लिए, उसके परोक्ष वस्तुगत मूल्यों को आवश्यक नहीं मानते हैं। उनके विचार से कविता या कला में धर्म, शिक्षा, नीति, राजनीति, यश, धन, संस्कृति, भावों को मृदु संवेदनशील बनाना, आत्मशान्ति या सदुद्देश्य का प्रचार आदि के समावेश से उसका मूल्य घटता है। रिचर्ड्स इसे स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि कुछ

1. I. A. Richards : *Principles of Literary Criticism*, Ch. 32, p. 241.
2. वही, Ch. 8, p. 61.
   Arts are Stone House of Recorded Values—वही, पृ. 32.

कलाकृतियों के लिए यह ठीक हो सकता है; पर उत्कृष्ट कविता में संस्कृति, भावों का मार्दव एवं सदुद्देश्य का उन्नयन आवश्यक है। इनसे कविता में महानता आती है और समाज के लिए वह अधिक उपयोगी और गौरवपूर्ण बनतीं हैं। इनके बिना कला की सार्थकता नहीं। समाज के लिए वह निरर्थक है।[1] उन्होंने ब्रैडले के मत का विस्तार से खण्डन किया।

रिचर्ड्स का विचार है कि काव्य की भाषा रागात्मक (Emotive) होती है, तथ्यात्मक (Referential) नहीं। कवि वैज्ञानिक की भाँति तथ्यों की खोज नहीं करता। वह विशिष्ट चित्तवृत्तियों और रागात्मक अवस्थाओं का चित्रण करता है। अतः काव्य की भाषा ऐसे प्रतीकों का समूह होती है, जो श्रोता के मन में अनुरूप भाव उत्पन्न कर सके। वह लयात्मक होती है। छन्द की कठिन नियमबद्धता न होने पर भी उसमें लय आवश्यक है। उससे संवेगों (Impulses) को जाग्रत् करने में सहायता प्राप्त होती है।

इस प्रकार रिचर्ड्स ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्य और कला की प्रकृति और कार्य का विश्लेषण कर अपने समय में उठी शंकाओं का समाधान किया तथा काव्य और कला के शाश्वत मूल्य, सामाजिक महत्त्व और उसकी अखण्डता को रेखांकित किया। उनका 'मूल्य-सिद्धान्त' और 'सम्प्रेषणीयता का सिद्धान्त', किसी भी कलाकृति के वस्तु-पक्ष और कला-पक्ष के विवेचन के लिए मार्ग प्रशस्त करनेवाला है।

(ङ) नया साहित्य-चिन्तन या नव्यालोचना

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही 'नयी समीक्षा' (New Criticism) की चर्चा आरम्भ हो गयी थी। इस नयी समीक्षा का मुख्य प्रतिपाद्य यह था कि समीक्षा का विषय साहित्यकार न होकर उसकी कृति ही होनी चाहिए। इसका कारण यह था कि मनोविश्लेषणवाद और अस्तित्ववाद आदि के प्रभाव में आकर साहित्य-समीक्षा की प्रवृत्ति भी कृति की अपेक्षा कृतिकार के विश्लेषण में ही अधिक रस लेने लगी थी। उसी के प्रतिक्रियास्वरूप इस 'नयी समीक्षा' या 'नव्यालोचना' का विकास हुआ। इसका दूसरा पक्ष यह भी था कि इस नयी समीक्षा में विशेष बल विषयवस्तु पर न रहकर, उसकी रूप-रचना (फॉर्म) पर आ गया तथा किसी भी कृति के अर्थविधान और शब्द-विधान (Structure and Texture) को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया जाने लगा। भाषा के अध्ययन में शैली-विज्ञान (Stylistics) को विशेष उपयोगी समझा गया तथा काव्य की समीक्षा की शैली वैज्ञानिक अधिक हो गयी। कहने का तात्पर्य यह है कि मुख्य बल विषय-पक्ष पर न रहकर, उसके कला-पक्ष पर चला गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कविता के शब्दविधान, भंगिमा, प्रतीक, सन्दिग्धता आदि शिल्पगत तत्त्वों पर बारीकी से विचार हुआ। काव्यभाषा पर गम्भीर चिन्तन हुआ, इसके साथ ही साथ काव्य में परम्परा और उसकी अखण्डता को महत्त्व प्रदान किया गया। कहा जा सकता है कि कविता को इतर तत्त्वों से हटाकर उसके शुद्ध रूप और उसके विधायक तत्त्वों, घटकों और उपकरणों पर विचार किया गया।

---

1. I.A. Richards : *Principles of Literary Criticism,* Ch. X, p. 37-38.

जहाँ तक इस प्रवृत्ति के नामकरण का प्रश्न है, इसका सुझाव जे.ई. स्पिगार्न के 'दि न्यू क्रिटिसिज़्म' शीर्षक लेख में मिलता है, परन्तु इस पद्धति को निश्चित स्वरूप देने का श्रेय 'जान क्रो रैनसम' को है जिनकी पुस्तक *दि न्यू क्रिटिसिज़्म* सन् 1941 में न्यूयार्क से प्रकाशित हुई थी।[1] आगे चलकर इस दिशा में विशेष कार्य करनेवाले व्यक्तियों में फ्रैंक रेमण्ड लीविस, एलेन टेट, क्लीन्थ ब्रुक्स, विलियम एम्पसन, जान फ्रैंक करमोड आदि हैं, जिन्होंने आधुनिक युग में काव्य और साहित्य पर नयी दृष्टि से विचार किया है। यद्यपि ये नये समीक्षक, इस परम्परा का आरम्भ कॉलरिज से मानते हैं; पर आधुनिक युग में टी.एस. इलियट, आइ.ए. रिचर्ड्स एवं जान क्रो रैनसम को इसका प्रवर्तक माना जाता है।

फ्रैंक रेमण्ड लीविस (Frank Raymond Leavis) (1895 ई. से 1978) : लीविस आधुनिक समय के परम विख्यात साहित्य-समीक्षकों में परिगणित होते हैं। इनका जन्म 1895 ई. में कैम्ब्रिज में हुआ था और वहीं पर इनकी शिक्षा हुई थी। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में ही इन्होंने अध्यापन-कार्य भी किया। इनकी पत्नी क्यू.डी. लीविस (Q.D. Leavis) भी एक उत्कृष्ट समीक्षक थी। लीविस दम्पति ने एल.सी. नाइट्स और डेनीज़ थाम्पसन के सहयोग से 'स्क्रुटिनी' (Scrutiny) नामक पत्रिका निकाली, जो सन् 1932 से 1953 तक निकलती रही। वह आलोचना के क्षेत्र में एक अत्यन्त प्रभावशाली पत्रिका मानी जाती रही। इस पत्रिका में प्रोफेसर लीविस के लेखों ने अंग्रेजी उपन्यासों के सामाजिक एवं नैतिक महत्त्व पर प्रकाश डाला और उनके माध्यम से एक जोरदार, जीवन संस्कृति को उद्घाटित किया। इनकी पुस्तकों में प्रमुख हैं—*न्यू बेयरिंग्स इन इंग्लिश पोइट्री* (1932), *रिवैलुएशन* (1936), *दि ग्रेट ट्रैडीशन* (1948), *दि कॉमन परसूट* (1952), *इंग्लिश लिटरेचर इन आवर टाइम ऐण्ड दि युनिवर्सिटी* (1969), *दि लिविंग प्रिंसिपल : इंग्लिश ऐज़ ए डिसिप्लिन ऑफ़ थाट* (1975) *थाट, वर्ड्स ऐण्ड क्रियेटिविटी* (1976) आदि। इनका देहावसान 1978 में हुआ।

एफ.आर. लीविस के विचार से कविता के समीक्षक को कविता का पूर्ण पाठक होना चाहिए। कविता हमारे समक्ष साकार और रूपमय वस्तुओं और व्यक्तियों को प्रस्तुत करती है। वह हमें सोचने के लिए नहीं, वरन् संवेदना में भर लेने और जटिल अनुभव का बोध करने के लिए निमन्त्रित करती है, जो कविता के शब्दों में समाया रहता है। फिर भी लीविस की दृष्टि से वही रचना महत्त्व की है, जो मानव-जीवन के लिए कोई सन्देश या प्रेरणा देती है। वे भी आलोचना के लिए कृतिकार को नहीं, रचना को ही महत्त्व प्रदान करते हैं। यों उन्होंने किसी नये सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। उन पर टी.एस. इलियट, एज़रा पाउण्ड, आइ.ए. रिचर्ड्स आदि का प्रभाव देखा जा सकता है।

---

1. *पाश्चात्य नव्यालोचन* : डॉ. श्यामबिहारीलाल शर्मा, पृ. 1.

एलेन टेट (Allen Tate) (1899 से 1979 तक) : एलेन टेट, जान क्रो रैनसम के शिष्य थे। ये प्रखर आलोचक और कवि थे। ये कवि, सम्पादक और समीक्षक के रूप में हमारे सामने आते हैं। इनका सम्बन्ध कई पत्र-पत्रिकाओं से रहा। ये मूलतः निबन्धकार हैं। इनके निबन्धों में साहित्य और आधुनिकता से सम्बद्ध विचार मिलते हैं। इन पर टी.एस. इलियट का विशेष प्रभाव देखा जा सकता है। अमेरिका में टेट एक उत्कृष्ट समीक्षक माने जाते हैं। टेट का तनाव का सिद्धान्त है। उत्कृष्ट काव्य में वे तनाव को आवश्यक मानते हैं। तनाव दो प्रकार का होता है—बाह्य तनाव और आन्तर तनाव। टेट के विचार से जिसमें दोनों तनाव अपनी चरम सीमा पर हों, वही उत्कृष्ट काव्य देखा जा सकता है। बाह्य तनाव का तात्पर्य कविता में आदि से अन्त तक युक्तिसंगत गति का होना तथा आन्तर तनाव का तात्पर्य कविता में स्थित भावावेश एवं आलंकारिकता है।[1] इस तनाव को अनेक रूपों में देखा गया है। बाह्य तनाव को कविता का विषय-वस्तु या विचार-पक्ष एवं आन्तर तनाव को भाव और शिल्प-पक्ष भी माना जा सकता है। टेट ने अपने विचारों को स्पष्ट करने में गणित और विज्ञान का सहारा लिया है। परन्तु, यह सब पुरानी वस्तुओं को नयी रीति से कहने का ढंग ही है, कोई एकदम नया सिद्धान्त नहीं।

टिलियर्ड (Tilliard) (1889 से 1962 तक) : ये प्रोफेसर थे और कई ग्रन्थों के प्रणेता भी। मिल्टन और शेक्सपीयर पर लिखे गये टिलियर्ड के ग्रन्थ बड़े महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। इनका ग्रन्थ *दि एलिजाबीथन वर्ल्ड पिक्चर* 1943 में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में उन्होंने उस युग का वर्णन किया है जिससे आशाभरे विश्व का दृश्य प्रस्तुत किया गया है; पर काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में इनका विशिष्ट महत्त्व का ग्रन्थ *दि डायरेक्ट ऐण्ड ऑब्लीक (The Direct and Oblique)* है जो सन् 1934 में प्रकाश में आया। द्वितीय महायुद्ध में इसकी प्रायः सभी प्रतियाँ नष्ट हो गयीं। 1945 में इसका नया और संशोधित संस्करण प्रकाश में आया। इस ग्रन्थ को यद्यपि टिलियर्ड का वक्रोक्ति (Oblique) सिद्धान्त का ग्रन्थ माना जाता है; पर वास्तव में यह अर्थ की विविध छायाओं या ध्वनियों के विवेचन का काव्य है और इसे ध्वनि-सिद्धान्त के समकक्ष रखना चाहिए। यों इसमें दोनों की मिली-जुली बातें हैं। उनमें प्रमुख विचार निम्नांकित हैं—(1) कविता को सामान्य वाच्यार्थ या वक्रतारहित और वक्रोक्ति या व्यंग्योक्ति में नहीं बाँटा जा सकता। सारा काव्य वक्रोक्ति या व्यंग्योक्तिपूर्ण होता है। कोई अधिक होता है और कोई कम। परन्तु जो कविता है, वह कभी सीधी या सपाट नहीं होती। उसमें कुछ न कुछ व्यंग्य या वक्रता अवश्य रहती है, जिससे उसके भीतर न कहा हुआ अर्थ उद्भासित होता है। टिलियर्ड के विचार से जिसे स्वभावोक्ति या सामान्य (Direct) कहा जा सकता है उस काव्य के तीन रूप हैं—(1) सरल कथनात्मक काव्य (Simple Statement Poetry), (2) अलंकृत काव्य (Reinforced and

---

1. *पाश्चात्य नव्यालोचन* : डॉ. श्यामबिहारीलाल शर्मा, पृ. 21,68,69.

Embroidered Poetry) और (3) चमत्कारी या मुकरी काव्य (Disguised Statement Poetry), इसे चित्रकाव्य भी कहा जा सकता है। व्यंग्य वक्रोक्ति-काव्य (Oblique Poetry) के उन्होंने तीन आधार माने हैं—(1) संवेदनशीलता, (2) महती सामान्यता और (3) आदिम वृत्तियाँ। यह व्यंग्य-वक्रता कविता में अनेक साधनों या कारणों से सम्पादित होती है जिनमें प्रमुख हैं—लय, प्रतीक-विधान, पूर्व काव्य-सन्दर्भ-विधान या कवि-प्रौढ़ोक्ति-विधान, कथानक, चरित्र-विधान। इन साधनों से कविता के अन्तर्गत व्यंग्योक्ति या वक्रता का चमत्कार लाया जा सकता है।

टिलियर्ड का वक्रोक्ति-सिद्धान्त भारतीय वक्रोक्ति एवं ध्वनि-सिद्धान्तों के कुछ भेदों का मिला-जुला रूप है। भारतीय वक्रोक्ति और ध्वनि-सिद्धान्त सूक्ष्म विश्लेषण और व्यापक शास्त्रीय दृष्टिकोण को लिये हुए अपने में पूर्ण है, परन्तु टिलियर्ड का डायरेक्ट और ऑब्लीक काव्य-सिद्धान्त उसी दिशा में एक नवीन कदम है, जो कविता की उक्तियों के सौन्दर्य का विश्लेषण करनेवाला है। इस दृष्टि से पाश्चात्य काव्य-शास्त्रीय काव्य-चिन्तन में टिलियर्ड का सिद्धान्त अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है।[1]

क्लीन्थ बुक्स (Cleanth Brooks) (सन् 1906) : क्लीन्थ ब्रुक्स का जन्म सन् 1906 में 'केण्टकी' (Kentucky) में हुआ था। इनकी शिक्षा अमेरिकन विश्वविद्यालयों में हुई थी, परन्तु ये रोड्स स्कॉलर (Rhodes Scholar) के रूप में ऑक्सफोर्ड में रहे। ये कुछ समय तक लुइशियाना युनिवर्सिटी में प्राध्यापक रहे और बाद में येल (Yale) युनिवर्सिटी में अंग्रेजी के प्रोफेसर रहे। इन्होंने 1936 से 1942 तक 'सदर्न रिव्यू' नामक प्रसिद्ध त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन किया। ये अमेरिका में 'नयी समीक्षा' आन्दोलन के प्रमुख कर्णधार रहे और इन्हीं के कारण इसका प्रभाव शिक्षा-जगत् पर व्यापक रीति से पड़ा। ये विरोधाभास-सिद्धान्त के प्रमुख पुरस्कर्ता थे। कविता में भाषाई एवं संरचनात्मक पक्ष पर इन्होंने विशेष रूप से विचार-विमर्श किया। इनकी पुस्तक *मॉडर्न पोइट्री ऐण्ड ट्रैडीशन* 1939 में प्रकाशित हुई। आधुनिक कविता के स्रोतों तथा उसकी क्षमता पर सूक्ष्मता से विचार किया। इनकी अन्य पुस्तकें हैं—*दि वेल राट अर्न (The Well-Wrought Urn)* (1947), *अण्डरस्टैंडिंग पोइट्री* (1938), *अण्डरस्टैंडिंग फिक्शन* (1943), *अण्डरस्टैंडिंग ड्रामा* (1947)।

क्लीन्थ ब्रुक्स ने बड़ी निष्ठा के साथ नयी समीक्षा में भाग लिया, पर अब सम्भवतः वे अपने को नये समीक्षक-सम्प्रदाय में नहीं रखना चाहते। इनकी मान्यता थी कि कविता को शुद्ध रचना के रूप में मानकर उसके संरचनात्मक एवं भाषागत अर्थात् रूपगत विश्लेषण को विशेष महत्त्व प्रदान करना चाहिए तथा कवि-परिचय, प्रेरणा-स्रोत, कथ्य, नैतिकता आदि गौण बातें हैं।

उनकी मुख्य स्थापना 'विरोधाभास'-सिद्धान्त की थी। उनका विचार है कि कविता की भाषा 'विरोधाभास' की भाषा है। यद्यपि विरोधाभास को आत्मा की भाषा नहीं

1. देखिये, *टिलियर्ड का वक्रोक्ति-सिद्धान्त* : डॉ. मथुरेशनन्दन कुलश्रेष्ठ।

माना जा सकता। विरोधाभास भावात्मक की अपेक्षा बौद्धिक, गम्भीर के स्थान पर चमत्कारपूर्ण एवं असंगत के स्थान पर तर्कसंगत होता है। फिर भी विरोधाभास, एक प्रकार से कविता के लिए उपयुक्त एवं अनिवार्य होता है। वैज्ञानिक के लिए सत्य का सीधा कथन आवश्यक होता है, अतः उसके लिए किसी भी प्रकार के विरोधाभास से रहित और विशुद्ध भाषा की आवश्यकता होती है, परन्तु कवि जिस प्रकार के सत्य का कथन करता है वह विरोधाभासपूर्ण शब्दों द्वारा ही किया जा सकता है। अपनी बात को उन्होंने अंग्रेजी कविता के अनेक उदाहरणों से सिद्ध किया है।[1] उनका मत है कि विरोधाभास, कवि की भाषा से अपने-आप फूट निकलता है, क्योंकि वैज्ञानिक के समान उसकी भाषा नियमों, संकेतों से बँधी नहीं होती, कवि तो अपनी भाषा आवश्यकतानुसार बनाता चलता है। वास्तव में कवि जो रूपकों और उपमाओं आदि का व्यवहार करता है, वे एकदम उसी स्तर पर न होकर विभिन्न स्तरों पर होती हैं, अतः विरोधाभास उनके भीतर निहित रहता है।

छन्द के विषय में ब्रुक्स का उदार मत है। उनका मत है कि चाहे गद्य हो या पद्य, भाषा स्वतः ही अपने भीतर लय को समाहित किये रहती है। छन्द पर अधिक बल देने से कुछ लोग छन्द को ही कविता मानने लगते हैं, जबकि वह उसका एक उपकरण मात्र है। उनका मत है कि कविता एक अखण्ड इकाई है, उसके तत्वों को हम अलग-अलग नहीं कर सकते। जिस प्रकार एक वृक्ष जड़, तना, शाखों, पत्तों, फूलों, फलों से मिलकर पूर्ण बनता है, उसी प्रकार कविता भी सभी अंगों से युक्त होकर ही कविता बनती है।

यह भी सत्य है कि कविता, स्वयं ही अपना उद्देश्य है। उसमें किसी संदेश की खोज करना आवश्यक नहीं। कविता में मुख्य वस्तु है सौन्दर्यानुभूति। उसी को प्राप्त करना ही कविता को पाना है।

सर विलियम एम्पसन (Sir William Empson) (1906) : सर विलियम एम्पसन का जन्म 1906 में यार्कशायर में हुआ था। प्रारम्भ में ये गणित के विद्यार्थी थे और बाद में इन्होंने अंग्रेजी-साहित्य का अध्ययन किया। ये प्रोफेसर आइ.ए. रिचर्ड्स के शिष्य थे और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के छात्र थे। ये कुछ समय टोकियो और पेकिंग में भी प्रोफेसर रहे। सन् 1953 में इन्होंने इंग्लैण्ड की शेफील्ड युनिवर्सिटी में अंग्रेजी-साहित्य के प्रोफेसर का पद सँभाला। ये कवि और आलोचक दोनों ही हैं, पर आलोचक के रूप में इनका प्रभाव विलक्षण है। सन् 1955 तक इनके तीन कविता-संग्रह प्रकाशित हुए थे। इनमें भावात्मकता की अपेक्षा दार्शनिकता का पुट अधिक है। इनके आलोचनात्मक ग्रन्थों में *सेवेन टाइप्स ऑफ् एम्बिगुयिटी* (1930), *सम वर्शन्स ऑफ् पैस्टोरल* (1935), *दि स्ट्रक्चर ऑफ् काम्प्लेक्स वर्ड्स* (1951), और *मिल्टन्स गॉड्स* (1961) प्रसिद्ध हुए हैं। इनमें *सेवेन टाइप्स ऑफ् एम्बिगुयिटी* अत्यन्त

1. अण्डरस्टैंडिंग पोइट्री : *दि लैंग्वेज ऑफ् पैराडाक्स*, पृ. 120.

प्रसिद्ध हुई और उसने 'नयी समीक्षा' को प्रेरणा और बल प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया, यद्यपि यह ग्रन्थ उस समय लिखा गया था जब ये ग्रेजुएट कक्षा के विद्यार्थी थे। काव्य की भाषा की प्रकृति के विश्लेषण की दिशा में इनका विशिष्ट योगदान रहा है। इस कार्य में इन पर इनके अध्यापक रिचर्ड्स का प्रभाव है, क्योंकि इनका यह कार्य व्यावहारिक समीक्षा का था, जिसमें रिचर्ड्स की विशेष रुचि थी।

साहित्य या काव्यशास्त्र के प्रसंग में *सेवेन टाइप्स ऑफ् एम्बिगुयिटी* विशेष प्रसिद्ध हुई। इसमें सात प्रकार की सन्दिग्धार्थता पर प्रकाश डाला गया है। इसके अन्तर्गत, अनेक अलंकारों का ही विवरण है, जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, सन्देह, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त आदि। इन्हीं को उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है। जहाँ पर उन्होंने उपर्युक्त ग्रन्थ में कविता के कला-पक्ष या अलंकृति के विविध पक्षों का विश्लेषण किया है वहीं पर *सम वर्सेज ऑफ् पैस्टोरल* में एम्पसन ने लोक-साहित्य तथा जनकाव्य के महत्त्व को स्थापित किया है। इसमें काव्य के सामाजिक पक्ष पर विचार किया गया है और स्पष्टतः यहाँ इनके विचारों का प्रभाव देखने को मिलता है। इनका यह भी मत है कि कविता एक समन्वित इकाई है। इसमें रूप-पक्ष और वस्तु-पक्ष घुल-मिलकर एक हो जाते हैं। उन्हें अलग करके नहीं देखा जा सकता है। इस प्रकार एम्पसन का कोई नवीन काव्य-सिद्धान्त नहीं है। ये नये समीक्षावादी हैं।

लायोनल ट्रिलिंग (Lionel Trilling) (1905-1975) : ट्रिलिंग का जन्म 1905 में न्यूयॉर्क में हुआ था। इनकी शिक्षा कोलम्बिया युनिवर्सिटी में हुई और वहीं ये 1948 से अंग्रेजी के प्रोफेसर रहे। इन्होंने हार्वर्ड और ऑक्सफोर्ड में भी कार्य किया और एक साहित्यकार और समीक्षक के रूप में इन्हें बड़ी ख्याति प्राप्त हुई। अमेरिका के ये प्रख्यात आलोचक माने गये। साहित्य और काव्य के प्रति इनका दृष्टिकोण ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय था। इन पर टी.एस. इलियट का काफी प्रभाव था और ये उनके समकालीन भी थे। इनकी प्रसिद्ध कृतियों में *दि लिबरल इमैजिनेशन* (1950), *बियॉण्ड कल्चर* (1965), *सिन्सियरिटी ऐण्ड अथारिटी* (1972) तथा *माइण्ड इन दि मॉडर्न वर्ल्ड* (1973) विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके ग्रन्थों में मानवतावादी दृष्टिकोण, साहित्य और समाज के अध्ययन के बीच दिखाई देता है। ये 1975 तक जीवित रहे।

उनको ऐसा अनुभव हुआ कि इस समय संसार साहित्य के प्रति कम रुझान रख रहा है; इतना ही नहीं, उसे सन्देह की दृष्टि से देखा जा रहा है। साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन भी सन्देहपूर्ण है। विशेष रूप से नई समीक्षा के सन्दर्भ में, जो कृति को ही महत्त्व देती है, अन्य बातों को नहीं। अन्य प्रकार के अध्ययन, साहित्याध्ययन के सहायक हैं। अन्य विद्याशाखायें, जैसे विज्ञान, इतिहास, समाजशास्त्र, भूगोल आदि ज्ञान की विद्यायें हैं, जबकि साहित्य शक्ति या प्रभाव की विद्या है—ऐसा माना गया है; पर आज की समीक्षा ने साहित्य के इतिहासकारों पर ही प्रहार किया, जो इसे शक्ति या प्रभाव के रूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु आज

का युग विज्ञान का युग है और अध्ययन की वही पद्धति मान्य होगी, जो वैज्ञानिक पद्धति के समकक्ष बैठती है। इस दृष्टि से आनुवंशिकी या उत्पत्ति-सिद्धान्त विशेष महत्त्व का है। कला की उत्पत्ति किस प्रकार हुई—इसकी खोज महत्त्व की हो गयी। कला की अनुभूति के लिए, उसकी रचना-प्रक्रिया अथवा उसकी उत्पत्ति की खोज उसके मूल्य को बढ़ा देनेवाली होती है। हाँ, यह बात भी सत्य है कि इसका दुरुपयोग भी किया जा सकता है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आनुवंशिकी अध्ययन से निश्चितता की मात्रा अधिक बढ़ जाती है। यह भी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि वैज्ञानिक अध्ययन से साहित्य का अनुभव निश्चय ही प्राप्त होगा। नई समीक्षा का वास्तविक विरोध, साहित्य के निजी अध्ययन की स्वायत्तता के अपहरण का है। वह उसकी स्वायत्तता की पुनः प्रतिष्ठा कर, उसे शक्ति का साधन बनाना चाहती है, ज्ञान का नहीं।

ट्रिलिंग ने 'नई समीक्षा' के एक अन्य दोष की ओर संकेत किया है। वह यह है कि ऐतिहासिक कृति अपरिहार्य रूप से एक ऐतिहासिक तथ्य है और यह भी कि उसकी सौन्दर्यानुभूति भी हमें होती है। अतः साहित्य एक ऐतिहासिक कला होने के कारण, उसका अध्ययन किसी न किसी भाव से ऐतिहासिक रूप में भी आवश्यक है। एक भाव तो यह हो सकता है कि कविता अपने अतीत से परिचित होती है। कवि की कृति की सत्ता, अतीत के सम्बन्धों के आधार पर होती है। दूसरा भाव यह हो सकता है कि कोई कलाकृति, अपने अतीत की सत्ता के आधार पर साहित्यिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व प्राप्त करती है और तीसरा भाव यह है कि प्राचीन समय में, कवि स्वयं इतिहासकार भी होता है और उसके काव्य में ही इतिहास समाविष्ट रहा करता था। अतः साहित्य का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से होना चाहिए।

नई समीक्षा ने अधिकांशतः अपने लिए प्रगीत मुक्तक को चुना, जिसमें ऐतिहासिक तत्त्व, प्रबन्ध-काव्य या कथा-साहित्य की अपेक्षा कम होता है; फिर भी उसे एकदम, सन्दर्भ, स्थिति आदि ऐतिहासिक तत्त्वों से मुक्त नहीं माना जा सकता। एक बात और है। नये समीक्षक किसी कृति की ऐतिहासिकता को इन्कार इसलिए करते हैं; क्योंकि उनके भीतर यह प्रवृत्ति काम करती है कि अतीत की कृति, हमें तात्कालिक और वास्तविक लगे। वे तब और अब के भेद को इसलिए मिटा देना चाहते हैं, क्योंकि मनुष्य एक है, वह निरन्तर और अखण्ड है। यह भावना ठीक है; परन्तु यह ठीक तभी है, जब हमें अतीत की वांस्तविकता का एहसास हो। हम अतीत को अतीत के रूप में वर्तमान में उपस्थित और जीवित अनुभव कर सकें। कोई कवि आधुनिक तभी होता है, जब हम यह समझ सकें कि वह अपने समय में कितना प्रभावी मनुष्य था और यही समझ ऐतिहासिंक अध्ययन की आधार होती है। किसी कविता को भी पूर्णतया हृदयंगम करने के लिए, जहाँ हम उसे, उसके सौन्दर्य के आधार पर जैसा हम आज देखते हैं, और जैसा कवि ने उसको प्रकट करना चाहा तथा उसके उस समय के पाठकों ने अनुभव किया था, उसे महत्त्वपूर्ण समझते हैं,

वहीं पर यह भी जानना महत्त्वपूर्ण है कि इतिहास में उसका क्या स्थान है? अतएव सभी दृष्टियों से इतिहास या अतीत का बोध, कृति के अध्ययन के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार शब्दार्थ के प्रसंग में भी यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि उनमें मिथकों या पुराख्यानों का समावेश, अवतरण और प्रभाव किसी कृति की शब्दावली में किस सीमा तक घटित हुआ है। इस प्रकार लायोनल ट्रिलिंग की कृति की ऐतिहासिक विवेचना या इतिहास की दृष्टि से किसी कृति के अध्ययन का दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण है। यह दृष्टिकोण टी.एस. इलियट के इतिहास और परम्पराबोध के सिद्धान्त का समर्थन करनेवाला है।

विम्सट, डब्लू.के. (Wimsatt, W.K.) (1907) : विम्सट, अमेरिका की येल युनिवर्सिटी में अंग्रेजी के प्रोफेसर 1939 ई. से रहे। अमेरिकन नयी समीक्षा में ये एक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर थे, जिन्होंने चौथे और पाँचवें दशक में अमेरिकन समीक्षा पर प्रभुत्व स्थापित रखा। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनका ग्रन्थ *लिटरेरी क्रिटिसिज़्म : ए शॉर्ट हिस्ट्री* (1957), क्लीन्थ ब्रुक्स के सहयोग में लिखा गया तथा दि वर्बल आइकन : स्टडीज़ इन दि मीनिंग ऑफ् पोइट्री (1954) में प्रकाशित हुआ जिसके दो लेख 'दि इन्टेन्शनल फैलेसी' और 'दि अफेक्टिव फैलेसी' मोनरो बीयर्डले (Monroe Beardley) के सहयोग में लिखे गये, जिनमें यह स्पष्ट किया गया है कि कलाकृति के मूल और स्रोत के सम्बन्ध में जिज्ञासा, कलाकार के निजी अनुभव से सम्बन्ध रखती है और उसके कारण किसी भी कलाकृति के विशुद्ध और तटस्थ अथवा वस्तुगत मूल्यांकन में व्यवधान उपस्थित होता है। सन् 1965 में इनकी पुस्तक *हेटफुल कैन्ट्रीज़ : स्टडीज़ इन लिटरेचर ऐण्ड क्रिटिसिज़्म* प्रकाशित हुई। इन्होंने सैमुयल जानसन की गद्य-शैली पर भी एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है। अपने ग्रन्थों में इन्होंने यही मत स्थापित किया है कि सही तटस्थ मूल्यांकन, कृति के अर्थ पर ही केन्द्रित होना चाहिए, उसके रचनाकार और पाठक पर नहीं। यह मत नयी समीक्षा का प्रमुख दृष्टिकोण है।

विम्सट का विचार है कि कविता अचानक उत्पन्न नहीं हो पाती। वे स्वीकार करते हैं कि कविता के शब्द मस्तिष्क से निकलते हैं, कवि के हैट से नहीं। इसलिए मूल्यांकन कवि के कार्य का होना चाहिए। कवि अपने उद्देश्य में सफल हुआ या नहीं—यह भी उसकी कृति में ही देखना चाहिए। कविता, शैली का चमत्कार है जिसके द्वारा अर्थ को सम्प्रेषित किया जाता है। जो अनावश्यक है, उसका कविता में स्थान नहीं। कविता का अर्थ वैयक्तिक इसलिए है, क्योंकि वह कवि के व्यक्तित्व या उसकी आत्मा की अभिव्यक्ति करती है, किसी पदार्थ की अभिव्यक्ति नहीं। इस प्रकार विम्सट ने नयी समीक्षा का तर्कसंगत समर्थन किया है तथा कला के मूल्यांकन में तटस्थ और रचनागत समीक्षा को ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया है।

विवेचना

पूर्वोक्त समीक्षकों के जिनमें से अधिकांश 'नयी समीक्षा' के प्रवर्तक, प्रतिपादक और समर्थक हैं, के विचारों पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट होती है कि नयी समीक्षा,

कोई नया समीक्षा-सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं करती, वरन् वह एक कलावादी आन्दोलन के समान, एक आन्दोलन है—जो कलावाद की ही एक शाखा है, जिसमें किसी भी कृति की समीक्षा, कृति के आधार पर ही किये जाने का आग्रह है। यदि हम प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के कला-साहित्य-चिन्तन अथवा समीक्षा के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं, तो यह बात बराबर देखने में आती है कि एक युग में यदि साहित्य के मूल्यों अथवा उसके वस्तु-पक्ष और सामाजिक प्रभाव आदि पर बल दिया जाता है तो उसके परवर्ती युग में उसकी रचना के रूप और शिल्प-पक्ष को ही महत्त्व मिलता रहा है। जहाँ क्लासिकल या आभिजात्यवादी, या शास्त्रवादी, नव्यशास्त्रवादी, मूल्यवादी, मार्क्सवादी, मनोविज्ञानवादी और अस्तित्ववादी आन्दोलन वस्तु, रचनाकार और व्यक्ति को अधिक महत्त्व देते रहे; वहीं स्वच्छन्दतावादी, कलावादी और नयी समीक्षावादी आन्दोलन, कृति को विशेष या मुख्य प्रतिपाद्य मानते हैं। उसी क्रम में मार्क्सवादी, मनोविश्लेषणवादी और अस्तित्ववादी साहित्य-चिन्तन की प्रतिक्रिया में बीसवीं शताब्दी में 'नयी समीक्षा' का आन्दोलन चला। यों तो आज प्रत्येक क्षेत्र में आधुनिकता-बोध की लहर के परिणामस्वरूप नयापन दिखाने का प्रयत्न है, जैसे नयी कविता, नयी कहानी, नवगीत, नव नाटक आदि तदनुसार भी नयी समीक्षा को आधुनिकता-बोध और वैज्ञानिकतापूर्ण दृष्टि का परिणाम माना जा सकता है। इस 'नयी समीक्षा' में जो विशिष्टतायें हैं, उन पर विचार कर लेना यहाँ समीचीन होगा।

1. **कृति का महत्त्व :** 'नयी समीक्षा' में सबसे पहली बात तो यह है कि समीक्षा के लिए कृति या रचना ही विचारणीय है। उस कृति के रचनाकार, उसके जीवन और युगीन परिस्थितियाँ, उसकी रचना के प्रेरणा-स्रोत, रचनाप्रक्रिया, रचनाकार की मानसिकता, रचना का ऐतिहासिक पक्ष, उसमें निहित दर्शन, समाज, संस्कृति, नीति-उपदेश या उसकी उपयोगिता आदि सभी बातें 'नयी समीक्षा' के विचार-क्षेत्र से बाहर की वस्तुयें हैं। ये रचना ही या तो पूर्ववर्ती हैं या फिर परवर्ती, अतः रचना की समीक्षा या उसमें निहित गुण-दोष-विवेचन से उनका कोई सरोकार नहीं। अतः इस नयी समीक्षा के लिए विचार्य-वस्तु केवल कृति है।
2. **रूपरचना :** जब हम कृति पर ही विचार करते हैं, तब सबसे पहले हमारे सामने उसकी भाषायी रूप-रचना आती है और यही 'नयी समीक्षा' का प्रमुख विचार-बिन्दु शब्दावली, शब्दों की बनावट (टेक्स्चर), शब्दों की पच्चीकारी, अर्थ का ढाँचा (स्ट्रक्चर), शब्दार्थगत श्लेष (अनेकार्थता), सन्देह (एम्बीगुयिटी), विरोधाभास (पैराडॉक्स), सादृश्य-विधान, भावावेग (इण्टरनल टेन्शन), आद्यन्त गति और अर्थ-निर्वाह (एक्सटरनल टेन्शन) तथा अनेक प्रकार की सजावट या अलंकृति आदि बातें 'नयी समीक्षा' में विचार्य होती हैं।
3. **शैली-विज्ञान :** 'नयी समीक्षा' में आलोचक की दृष्टि वैज्ञानिक होती है।

उसमें बहुत कुछ विचार के तत्त्व शैली-विज्ञान के तत्त्व होते हैं।

4. 'नयी समीक्षा', कलाकृति की अखण्डता को स्वीकार करती है। उसके विचार से उसके रूप-पक्ष और वस्तु-पक्ष को अलग-अलग या खण्ड-खण्ड करके नहीं देखा जा सकता। दोनों ही मिलकर एक समन्वित इकाई का निर्माण करते हैं, तभी वह रचना, रचना कही जा सकती है।
5. नयी समीक्षा में शब्द-विधान के साथ-साथ प्रतीक-विधान, लय-शब्द भंगिमा, विरोधाभास, तनाव आदि को लेकर अलग समीक्षकों ने विचार किया है। कुछ के विचार से विषमता, लय और बिम्ब कविता में महत्त्वपूर्ण होते हैं।
6. नयी समीक्षा में कविता शब्द-विधान और अर्थ-विधान समन्विति या बुनावट है। शब्द-विधान प्रधान होता है और वही मुख्य काव्य-सौन्दर्य सम्पादित करता है।
7. भंगिमा के अन्तर्गत शब्द-रचना, लय, छन्द, अलंकार सभी कुछ आ जाते हैं।
8. इसके साथ ही साथ कुछ ऐसे भी समीक्षक हैं; जो कृति में जीवन-मूल्य, नैतिकता, विचार आदि के पोषक हैं, पर नयी समीक्षा में मूल दृष्टिकोण यही है कि कृति में यह देखा जाय कि वस्तु, भाव और विचार-पक्ष किस प्रकार रूप-रचना अर्थात् शब्द, लय, अलंकृति या कथन की भंगिमा में मिलकर एकरूप हो गया है और दोनों पक्ष मिलकर उस रचना को क्या आभा, क्या कान्ति और क्या सौन्दर्य प्रदान करते हैं।
9. नयी समीक्षा की सबसे बड़ी देन है—रचना का सूक्ष्मता और गहराई से अध्ययन। इसके पूर्व समीक्षा, बिना कृति को पढ़े ही, ऊपर-ऊपर उसकी परिस्थितियों, परम्पराओं और इतिवृत्तों को लेकर की जाने लगी थी। बहुत से लोग रचना को पढ़े बिना ही उसकी आलोचना और उसका व्याख्यान करने लगे थे। इस प्रवृत्ति को रोकने में निश्चय ही 'नयी समीक्षा' का विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण योगदान है।

परन्तु इस प्रसंग में एक सबसे बड़ी आशंका यह है कि इस वैज्ञानिक, सूक्ष्म, शैलीवैज्ञानिक विवेचन में समीक्षा, ऐसी दुरूह न हो जाय कि पाठक को उससे कृति या रचना के सौन्दर्य का रसास्वाद मिलने के स्थान पर, उसकी ऐसी चीरफाड़ होने लगे कि रचना के सौन्दर्य के प्रति आकर्षण तथा उसे पढ़ने और बार-बार अनुशीलन से प्राप्त होने वाले रसास्वादन एवं सौन्दर्यानुभूति की ललक ही समाप्त हो जाय। ऐसी दशा में समीक्षा अपने मूल रास्ते से ही भटक जायगी।

नयी समीक्षा, रचना या कविता को शुद्ध रूप में देखने की पक्षधर है। वह उसके स्वतन्त्र अस्तित्व की स्थापना करती है तथा निरपेक्ष एवं रचनापरक अध्ययन को उभारना चाहती है। इसकी दृष्टि में काव्यभाषा का बड़ा महत्त्व है। भाषागत तथा कृति का गहराई से शब्द, गति, लय और उनकी विशिष्ट भंगिमा एवं उनकी स्थिति

के सौन्दर्य का अनुशीलन ही उसका लक्ष्य है। वास्तविक रचना-सौष्ठव इसी पद्धति से उभारा जा सकता है। अतः इसका योगदान विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण है। परन्तु नयी समीक्षा एक दृष्टिकोण ही है, कोई नवीन-पद्धति या नया-सिद्धान्त नहीं।

रेनेवेलेक और आस्टिन वारेन का समन्वित काव्य-सिद्धान्त

रेनेवेलेक अमेरिका के प्रसिद्ध आलोचक एवं समालोचना तथा अंग्रेजी-साहित्य के इतिहास-लेखक हैं। ये येल युनिवर्सिटी (अमेरिका) में अंग्रेजी के प्रोफेसर हैं। वेलेक की *ए हिस्ट्री ऑफ् मॉडर्न क्रिटिसिज्म, रोमाण्टिक एज, दि राइज़ ऑफ् इंग्लिश लिटरेरी हिस्ट्री, थियरी आफ् लिटरेचर* आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। *थियरी ऑफ् लिटरेचर,* इन्होंने आस्टिन वारेन के सहयोग में लिखा। यह ग्रन्थ दोनों लेखकों के साहित्य की रचना, आलोचना और उसके प्रयोजन-सम्बन्धी विचारों को प्रकट करता है। इसमें साहित्य से सम्बद्ध विविध विषयों पर अब प्राप्त आधुनिक विचारों की आलोचना करते हुए अपने मत व्यक्त किये गये हैं। यद्यपि इसमें साहित्य-कला-चिन्तन-सम्बन्धी किसी नये सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया, फिर भी साहित्य से सम्बद्ध अनेक पक्षों पर इनके निष्कर्ष बड़े उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हैं। प्रमुख विषयों पर उनके विचार यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं—

वेलेक के विचार से साहित्य और साहित्य का अध्ययन दोनों अलग क्रियाएँ हैं—एक रचना है, कला है और दूसरा उसका ज्ञान। साहित्य की समीक्षा, साहित्य के अनुभव का बौद्धिक विश्लेषण और विवेचन है। इसके अनेक प्रकार हैं—जो वैयक्तिक सराहना है, उसे समीक्षा न कहकर साहित्य ही कहा जाना चाहिए। उसे समीक्षा की कोटि से अलग रखना चाहिए। उसके दो अन्य रूप हैं—एक निर्वैयक्तिक आलोचना और दूसरा है अनुवंशीय या कारण-कार्य विश्लेषण। इनमें से पहला सूचनाओं का संकलन है और दूसरा सामाजिक विज्ञानों के लिए अधिक उपयुक्त है, साहित्य के लिए नहीं। इसी प्रकार कृति को केन्द्र में रखकर गहराई से उसका पठन भी वैयक्तिक स्तर पर होगा। अतः साहित्य के लिए कोई एक विधि नहीं, उसे अनेक विधियों से मूल्यांकित करना चाहिए। उनके विचार से साहित्य या कला का विश्लेषण, उसकी पर्तों के विन्यास का विश्लेषण है। अतः आधुनिक विश्लेषण बड़ा जटिल है।[1]

कविता के प्रयोजन के सम्बन्ध में भी दोनों विद्वानों का मत है कि यद्यपि कविता के अनेक प्रयोजन हो सकते हैं, जैसे सत्य की प्रतिष्ठा, नीति-उपदेश, मूल्यों की प्रतिष्ठा, सौन्दर्यानुभूति, आनन्द आदि, परन्तु उसका प्रमुख प्रयोजन है अपने स्वरूप की प्रतिष्ठा, उसके निजी रूप के प्रति सच्चा रहना।[2] कविता का सबसे पहला लक्ष्य है—कविता होना। जब कविता होगी, तो फिर उससे अनेक प्रयोजन सिद्ध हो सकते हैं। उनका यह भी विचार है कि किसी भी साहित्यिक कृति की आलोचना,

---

1. *साहित्य-सिद्धान्त* : रेनेवेलेक और आस्टिन वारेन, पृ. 35.
2. वही, पृ. 49.

किसी भी सिद्धान्त के आधार पर की जा सकती है, पर उसे साहित्य के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखने से उसका एक अलग रूप प्रकट होता है। अतः ऐतिहासिक दृष्टिकोण को आलोचना से अलग करना उचित नहीं, जैसा कुछ नये समीक्षक करते हैं। ऐतिहासिक और सौन्दर्यवादी दोनों ही दृष्टियाँ, साहित्य की समीक्षा के लिए उपादेय हैं।

साहित्येतर दृष्टियों से साहित्य को देखने में भी दोनों विद्वानों का मत है कि इन दृष्टियों से देखना तभी उचित है, जब उनसे कलाकृति की समृद्धि हुई हो, जैसे मनोविज्ञान तभी महत्त्व का है, जब चरित्रों के चित्रण की जटिलता का उद्‌घाटन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर किया जाय। पर साहित्य में मनोविज्ञान के सिद्धान्त ढूँढ़ना उचित नहीं। इसी प्रकार समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र या दर्शनशास्त्र की बातें भी साहित्य में देखना और उसी के आधार पर मूल्यांकन करना उचित नहीं। यह भी उचित नहीं कि यह देखा जाय कि इन शास्त्रों की दृष्टि से साहित्यकार ने क्या भूल की है, जब तक कि वह जीवन के यथार्थ से नितान्त बेमेल न हो। कलाकृति में देखना यह होता है कि इन शास्त्रों के विचारों के साथ कला कितनी घुल-मिल गयी है और उसमें इनकी उपस्थिति से कितनी सौन्दर्य-वृद्धि हुई है।[1]

साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं के सम्बन्धों पर विचार करते हुए उनका मत है कि ललित कलायें जिनमें साहित्य या कविता भी है, एक-दूसरी से निरन्तर प्रभावित होती रहती हैं। एक के विकास का प्रभाव दूसरी पर बराबर पड़ता है। इस पारस्परिक प्रभाव की जटिलता के विश्लेषण के लिए ऐसे नये काव्यशास्त्र की जरूरत है जिसमें एक ऐसी शब्द-राशि हो, जो विभिन्न कला-सम्बन्धों की व्याख्या करने में समर्थ हो।

साहित्यिक कृति के विश्लेषण के लिए कई बातें आवश्यक मानी गयी हैं जिनके आधार पर विश्लेषण किया जा सकता है—एक तो उसकी संरचना का पक्ष है कि किस प्रकार शब्दों के प्रयोग और उनके लयात्मक एवं ध्वन्यात्मक बुनावट से उसमें एक कलात्मक चमत्कार तथा भाव या अर्थ की प्रभावी व्यंजना हो सकती है। दूसरी बात, उसमें चित्रात्मकता या कल्पना को प्रेरित करनेवाले बिम्बविधान की क्या स्थिति है इसे देखना होता है तथा तीसरी बात उसमें निहित मूल्य क्या है? वेलेक और वारेन का विचार है कि ये तीनों बातें अलग-अलग नहीं हैं, वरन् एक ही मूल्यांकन की समस्यां के तीन पक्ष हैं तथा इन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।[2]

इसी प्रकार उनका विचार है कि छन्द और ध्वनि का भी अध्ययन समग्र कला का एक पक्ष है और उसी रूप से उसका उपयोग होना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि रेनेवेलेक और आस्टिन वारेन का साहित्य-सिद्धान्त *समग्रता* या *सापेक्ष्यवाद* का सिद्धान्त है। कोई तत्त्व अलग महत्त्व नहीं रखता। उसकी सार्थकता कलाकृति की

---

1. *साहित्य-सिद्धान्त* : रेनेवेलेक और आस्टिन वारेन, पृ. 166.
2. वही, पृ. 205.

समग्रता में योगदान के रूप में ही समझी जानी चाहिए। यही बात विम्ब, प्रतीक, रूपक और मिथ के सम्बन्ध में भी है। इनका अध्ययन अलग करके नहीं, वरन् साहित्यिक रचना या कलाकृति की समग्रता और अखण्डता के परिप्रेक्ष्य में, उसके एक तत्त्व के रूप में, उसके एक अंग के रूप में उससे जोड़कर उसका अध्ययन करना ही समीचीन है। साहित्यिक कृति का विश्लेषण प्रस्तुत करने के लिए यह *सापेक्ष्यवाद* या समग्रतावाद का सिद्धान्त, उपादेय और परिपूर्ण है। इसमें सभी दृष्टिकोणों का समावेश होने से इसे समन्वित सिद्धान्त भी कहा जा सकता है। वास्तव में यह कोई नया सिद्धान्त नहीं, वरन् एक समन्वित *सापेक्ष्य दृष्टिकोण* है।

●

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

द्वितीय खण्ड

सिद्धान्त और वाद

: 4 :

काव्य-सिद्धान्त और वाद

सिद्धान्त और वाद में प्रायः भेद नहीं किया जाता। उसका कारण यह है कि सिद्धान्त भी आगे चलकर कभी-कभी वाद का रूप धारण कर लेता है। सिद्धान्त और वाद में तत्वार्थ की भिन्नता या भेद नहीं, वरन् उनके रूप-विकास का अन्तर है। *सिद्धान्त* भली प्रकार सोच-विचार कर स्थिर किया हुआ सत्यान्वेषण का नियमबद्ध, वह स्वरूप अथवा मत है, जो विद्वानों द्वारा सत्य माना गया है। जबकि किसी पक्ष को स्थापित करनेवाला मत *वाद* कहलाता है। विचार-विमर्श के बाद स्थापित किया हुआ किसी विषय के अज्ञात पक्ष के खोजे हुए सत्य का परिपूर्ण रूप सिद्धान्त होता है; जबकि ज्ञात, या पूर्ववर्ती सिद्धान्त पर मत-मतान्तरों द्वारा विकसित रूप वाद कहलाता है। इस प्रकार कोई भी सिद्धान्त, अपने में या कालान्तर में 'वाद' का रूप धारण कर सकता है। सिद्धान्त में किसी सत्य की नयी खोज और उसकी स्थापना होती है, परन्तु वाद में समवर्ती या पूर्ववर्ती सिद्धान्त पर पक्ष या विपक्ष में मत प्रकट करते हुए उसके विकास का रूप प्रकट होता है। जैसा कि संस्कृत में एक उक्ति है—"वादे वादे जायते तत्वबोधः।"

इस बात को हम भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रसंग में बराबर देख सकते हैं। जगद्गुरु शंकराचार्य द्वारा स्थापित अद्वैत सिद्धान्त, अद्वैत वाद भी हैं, और अद्वैत मत भी। शंकराचार्य द्वारा अन्वेषित तत्वज्ञान के आधार पर सूत्र या नियमबद्ध रूप तो सिद्धान्त है, पर आगे चलकर वही मत-मतान्तरों के बीच विकसित होता हुआ अद्वैतवाद हो गया। उसे ही जब हम किसी व्यक्ति या परम्परा के विचार के रूप में प्रस्तुत करते हैं, तब वही अद्वैत मत कहा जाता है। इसी प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त भी है, वाद भी है और मत भी। इस प्रकार कोई भी सिद्धान्त, वाद और मत का रूप ले सकता है, परन्तु वाद और मत सिद्धान्त का रूप नहीं। वाद एक आन्दोलन का भी रूप ग्रहण करता है; पर सिद्धान्त और मत नहीं। सिद्धान्त और सत्य पर या विषय पर निश्चित विचार होते हैं, वाद में पक्ष-विपक्ष के विचारों का आग्रह होता है। पाश्चात्य चिन्तन में भी प्लेटो और अरस्तू के द्वारा प्रतिपादित एवं स्थापित अनुकृति या प्रतिकृति, तत्त्व या प्रवृत्ति का विवेचन, सिद्धान्त है; परन्तु पाश्चात्य साहित्य में उस पर व्यक्त मत-मतान्तर के पश्चात् वही अनुकृतिवाद कहलाने लगता है। स्वच्छन्दतावाद, यथार्थवाद, अस्तित्ववाद, बिम्बवाद, मार्क्सवाद आदि आन्दोलन रूप होने के कारण *वाद* ही हैं, सिद्धान्त नहीं। बहुत से ऐसे सिद्धान्त हैं जो सिद्धान्त रूप में भी हैं और वाद रूप में भी परिगणित होते हैं। किसी विद्वान् ने उसे सिद्धान्त कहा है, जबकि दूसरे विद्वानों ने उसे वाद कहा है। आवश्यक यह है कि सिद्धान्त को सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठित किया जाय और वाद को वाद रूप में ही।

(क) प्रमुख सिद्धान्त

1. अनुकृति-सिद्धान्त (Theory of Mimesis or Imitation)

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रीय एवं काव्यशास्त्रीय चिन्तन में अनुकृति-सिद्धान्त का बड़ा व्यापक प्रभाव और महत्त्व है। इसका सूत्रपात प्लेटो के कला और काव्य-सम्बन्धी विवेचन से हुआ। अरस्तू ने प्लेटो के अनुकृति सम्बन्धी मत संशोधन और विशद आख्यान करके उसे एक कला-सिद्धान्त के रूप में स्थापित किया। काव्य, साहित्य और कला जीवन और प्रकृति के, किसी न किसी रूप में अनुकरण हैं, यह मान्यता प्रायः यूरोपीय विचारकों की रही। जर्मन और रूसी विचारकों ने भी कला और साहित्य को जीवन और प्रकृति का अनुकरण माना और इस प्रकार अनुकृति-सिद्धान्त यूरोपीय कला-साहित्य-चिन्तन में एक व्यापक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। इस सिद्धान्त के मूल सूत्र हमें प्लेटो और अरस्तू के विचारों में प्राप्त होते हैं। उन्हीं का किसी न किसी रूप में व्यवहार हमें पश्चात्वर्ती विचारकों में मिलता है। हम्बोल्ट, शिलर, शॉपेनहोवर, बेलिंस्की, चर्नीशेव्स्की आदि प्रकृति को कला की प्रेरणा और आदर्श मानते हैं और उसका चित्रण, कला में प्रकृति का रहस्य उद्घाटन करने वाला होता है।

कला और साहित्य में प्रकृति और जीवन का चित्रण निश्चित रूप से रहता है—इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। यह चित्रण भी अनुकरण का ही एक रूप है। इस बात को हम काव्य के इतिहास पर दृष्टिपात करके भली-भाँति समझ सकते हैं। प्राचीन काव्य में हमें प्रकृति का वर्णन बड़े विस्तार से मिलता है, क्योंकि उस समय मनुष्य का जीवन प्रकृति की गोद में व्यतीत होता था और कवि और कलाकार प्रकृति के नित्यप्रति देखे हुए रूपों का खुलकर विस्तार से चित्रण करता था। मध्यकाल में स्थिति कुछ बदली। व्यवस्थित राज्य-शासन-व्यवस्था के कारण दरबारों का विकास हुआ, अतः उस युग के वर्णनों में प्रकृति कम और दरबारी सजावट एवं अलंकृति अधिक देखने को मिलती है तथा प्रकृति के वर्णन भी अलंकारी रूप में ही मिलते हैं, क्योंकि उस युग का जीवन ही सजावट का जीवन था। वर्तमान युग अतिशय नागरिकता, विशाल नगरियों, व्यस्तताओं, चिन्ताओं का युग है, अतः आज के कला और साहित्य में न तो प्राचीन रमणीय प्रकृति-चित्रण ही मिलते हैं और न मध्ययुगीन सजावट, वरन् आज का साहित्य तो व्यंग्य, आलोचना, तनाव, चिन्ता, अविश्वास आदि भावनाओं से भरा पड़ा है। जैसा जीवन है, वैसा ही साहित्य तथा वैसी ही कला। अब प्रकृति और सौन्दर्य के प्रति रीझ और रहस्य का भाव नहीं रह गया। अतः हमें स्वीकार करना पड़ता है कि काव्य और कला की अनुकृति होती है।

अनुकृति को कई रूपों में देखा गया है—एक तो प्रकृति और जीवन जैसा है, वैसा ही चित्रण करना। इसे यथार्थवादी अनुकृति कहा जा सकता है। दूसरा अपनी भावना के अनुरूप गृहीत स्वरूप का चित्रण—इसे भाववादी अनुकृति कहा जा सकता है और तीसरा जैसा है उसका कुछ रूप लेकर उसके साथ जैसा होना चाहिए वैसा चित्रण करना—इसे आदर्शवादी रूप माना जा सकता है। इस प्रकार प्रकृति और जीवन का कलाकार द्वारा

गृहीत और उसकी रुचि और उसके लक्ष्य के अनुसार चित्रित रूप साहित्य या काव्य में देखा जाता है। ये अनुकृति के ही विभिन्न रूप हैं जिन पर विद्वानों ने विचार किया है, परन्तु सिद्धान्त पर मुख्य प्रकाश प्लेटो और अरस्तू का ही है।

प्लेटो ने काव्य को कला का ही रूप माना है। उनका कहना है कि किसी वस्तु से सम्बन्धित तीन कलायें होती हैं—एक वस्तु का उपयोग करने की कला; दूसरी उसके आविष्कार या निर्माण की कला और तीसरी उसके अनुकरण की कला। प्लेटो का विचार है कि अनुकरण करने वाले को न तो वस्तु के उपयोग का ज्ञान होता है और न उसके निर्माण का ही।[1] वह वास्तविक वस्तु प्रस्तुत न करके वस्तु का आभास मात्र देता है। अनुकृत कला, सत्य से तिगुनी दूर है।[2] वास्तविक सत्य निर्माता की कल्पना में था। निर्मित होकर वस्तु असलियत से दुगनी दूर है और कला में उसका आभास प्रस्तुत होने पर वह अनुकृत चित्रण, वास्तविकता से तिगुना दूर हो गया। नाटक के संबंध में भी यही बात है, अभिनेता वास्तविक चरित्र का अनुकरण नहीं करता, क्योंकि उसने उसे कभी नहीं देखा। वह तो नाटककार द्वारा अपनी कल्पना से निर्मित चरित्र का अनुकरण करता है और नाटककार ने स्वयं भी उस चरित्र को नहीं देखा। इस प्रकार अनुकरणात्मक कलायें, सत्य और वास्तविकता से दूर होती हैं। प्लेटो के विचार से अनुकृति एक नाटक या क्रीड़ा है, अतः उसका गम्भीर महत्त्व नहीं है। फिर भी ईश्वर की भक्ति और महापुरुषों की प्रशंसा में लिखा काव्य उनके विचार से उपयोगी होता है।

प्लेटो के विचार से जब कवि और कलाकार अनुकरण करते हैं, वे मूल वस्तु या चरित्रों के विम्बों और दृश्यों की प्रतिमूर्ति उपस्थित करते हैं। वे उस वस्तु या चरित्र की वास्तविकता का ज्ञान नहीं रखते। वे वास्तव में प्रकृति का दर्पणगत पड़ा प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हैं और कुछ नहीं। वे युद्ध आदि का वर्णन करते हैं, पर वे युद्ध करने की विद्या बिल्कुल नहीं जानते। वे चर्मकार का चित्र खींचते हैं, पर उसके कर्म का स्वयं ज्ञान नहीं रखते। अतः उनके वर्णन केवल बाहरी हैं। यदि कवि के वर्णन को साधारण गद्य में रख दिया जाये, और वर्णन की रंगीनी और अलंकृति से वंचित कर दिया जाये, तो उनका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। कलाकार या दृश्यों का वर्णन करने वाला उनके वास्तविक सत्त्व को नहीं जानता। वह केवल उसके बाह्य दृश्य को ही जानता है। फिर भी वह इस प्रतिचित्रण का काम करता जाता है—यह जाने बिना कि क्या भला है, क्या बुरा। अतः उससे यही प्रत्याशा की जाती है कि वह उसी का प्रतिचित्रण करेगा, जो अनजान व्यापक समुदाय को अच्छा जान पड़ेगा।[3] अगर कवि को उस चरित्र के गुणों और योग्यताओं का वास्तविक ज्ञान होता तथा उसके कार्यों को वह स्वयं कर सकता, तो कवि केवल उसका बाह्य चित्रण करने की बजाय, उन कर्मों को स्वयं करके और उन गुणों को प्रदर्शित

1. *The Dialogues of Plato*, by B. Jowett, Vol. II, p. 128.
2. वही, पृ. 472.
3. वही, पृ. 475-77

करके, वह कवि बनने के बजाय महान् व्यक्ति बनने की चाह करता। यदि कवि में शिक्षित करने या लोगों को भले बनाने की योग्यता होती या उनके रोगों को दूर करने की शक्ति और योग्यता होती तो वह उन बातों का थोथा वर्णन करने के बजाय, शिक्षक और चिकित्सक बनकर लोगों की अज्ञानता और रोगों को दूर कर उनकी श्रद्धा और उनका प्रेम प्राप्त करता।[1]

प्लेटो के विचार से अनुकरण करने वाले या प्रतिकरण करने वाले सभी कलाकार बराबर हैं। कवि चित्रकार जैसा है, क्योंकि उन दोनों की सर्जना में घटिया कोटि का सत्य है और इस बात में भी कि उसका सम्पर्क सत्य से दूर होने के कारण आत्मा के घटिया अंश से होता है। अतः प्लेटो के विचार से सुव्यवस्थित राज्य में उनको न रखना ही ठीक है; क्योंकि इस प्रकार के कलाकार झूठी भावात्मकता को उभार कर हमारी तर्कशक्ति को कुण्ठित कर देते हैं जिससे लोग भले-बुरे का विवेक खो बैठते हैं। कविता हमारी वासनाओं—निम्न प्रवृत्तियों को सींचती और पोषित करती है। उनका दमन नहीं करती। उनको वश में रखना चाहिए पर कविता उन वासनाओं के द्वारा आक्रान्त कर लेती है, जबकि मानव जाति के सद्गुणों और सुख की संवृद्धि के लिए, उन्हें वश में रखना चाहिए। कवि की कला में चमत्कार और आकर्षण होता है, इसमें सन्देह नहीं, पर उसे संयम और सीमा में रहना चाहिए।

अनुकृत या प्रतिकृत कलाओं के महत्त्व के सम्बन्ध में प्लेटो के विचार अच्छे नहीं हैं। वह कलाओं और कविताओं को निम्नकोटि की वस्तु मानते हैं। वे अनुकरण के दो पक्ष मानते हैं—एक वह तत्त्व है जिसका अनुकरण किया जाता है और दूसरा अनुकरण का स्वरूप। अगर अनुकरण का तत्त्व मंगलकारी है और अनुकरण पूर्ण एवं उत्तम है, तो वह स्वागतयोग्य है। परन्तु प्रायः अनुकृत्य वस्तु अमंगलकारी होती है तथा कभी-कभी मंगलकारी वस्तु का अनुकरण अधूरा और अपूर्ण होता है, ऐसी दशा में कला सत्य से दूर और हानिकर होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्लेटो के विचार नैतिक और सामाजिक हैं।

इनके विपरीत अरस्तू का दृष्टिकोण सौन्दर्यवादी है। उन्होंने कलाओं को अनुकरणात्मक मानते हुए भी उनके महत्त्व को स्वीकार किया है। उनका कथन है कि अनुकरण, मनुष्य के लिए बचपन से ही स्वाभाविक और सहज है। अपनी इसी प्रकृति के कारण, वह अन्य प्राणियों से विशिष्ट है तथा वही उसके लिए निम्नकोटि के प्राणियों की अपेक्षा उपयोगिता का साधन है। मनुष्य, सब प्राणियों से अधिक अनुकरण करनेवाला है और वह अनुकरण द्वारा ही बहुत-कुंछ सीखता है। इसके अतिरिक्त सभी के लिए अनुकरण के कामों में आनन्द प्राप्त करना भी स्वाभाविक है। अरस्तू का कथन है कि हमारा अनुभव यह बताता है कि बहुत-सी बातें या वस्तुयें यथार्थ में देखने में दुःखदायी होती हैं, पर किसी कलाकृति में उनका वास्तविक प्रस्तुतीकरण आनन्ददायी होता है।[1] जैसे खूँखार जानवरों और मृतकों का देखना भय

1. *The Republic of Plato* by F.M. Cornford, p. 323.

उत्पन्न करता है; पर कलाकृति में वही हमें अच्छा लगता है; क्योंकि उससे हमारी जानकारी बढ़ती है और भावना का परिष्कार होता है। इस प्रकार अरस्तू ने अनुकरण को, किसी वस्तु का पुनः प्रस्तुतीकरण माना, दर्पण में पड़नेवाले प्रतिबिम्ब या हूबहू वैसी ही नकल नहीं, जैसाकि प्लेटो ने कहा था।

अरस्तू के विचार से यह अनुकृति या पुनः प्रस्तुतीकरण, प्रस्तुत वस्तु या चरित्र के सन्दर्भ में तीन रूपों में देखा जा सकता है—प्रथम, जैसी वास्तविक वस्तु या चरित्र है, उससे अधिक अच्छे रूप में, द्वितीय, जैसी वस्तु या चरित्र होते हैं उससे घटिया या निम्नकोटि के रूप में और तृतीय, जैसे होते हैं, लगभग वैसे ही रूप में। अनुकृतिवाली कलाओं का दूसरा पक्ष जिसमें उनमें अन्तर होता है, वह पुनः प्रस्तुतीकरण की पद्धति या शैली के आधार पर होता है। कविता या काव्य के लिए अरस्तू कहते हैं कि उसकी शैली या पद्धति या तो पूरी तरह वर्णनात्मक हो या फिर वर्णन और सम्वाद दोनों से युक्त हो अथवा पूरी तरह से संवादमय या नाटकीय हो। अरस्तू के विचार से विषादान्त नाटक या ट्रैजेडी अनुकृति या पुनः प्रस्तुतीकरण का ऐसा रूप है जिसमें न केवल जीवन की परिस्थितियों और कार्यों का अनुकरण होता है, वरन् ऐसे प्रसंगों और घटनाओं का भी अनुकरण होता है जो भय और करुणा को जगाती हैं। ऐसी घटनायें मन पर गहरा प्रभाव डालती हैं, विशेष रूप से जब वे अप्रत्याशित रूप से घटित होती हैं। अरस्तू के विचार से काव्य का सबसे प्रभावशाली रूप यही है।

अरस्तू ने कला के अनेक रूपों का विश्लेषण करते हुए कहा है कि वे या तो महाकाव्य, नाटक (विषादान्त, प्रसादान्त) की रचना है, या फिर बाँसुरी या लायर आदि वाद्यों के आधार पर ध्वनि की रचना है या फिर रंगों, कलमों और पेंसिलों के आधार पर चित्र आदि की रचना है। परन्तु ये वास्तव में रचना न होकर अनुकृतियाँ हैं। ये एक-दूसरी से भिन्न तीन बातों में होती हैं—क्योंकि वे अनुकरण करती हैं—(क) भिन्न-भिन्न वस्तुओं या विषयों का, (ख) उनके अनुकरण के साधन अलग-अलग होते हैं तथा (ग) उनके अनुकरण के ढंग अलग-अलग होते हैं। कुछ कलाकार अनुकरण या चित्रण करते हैं— रंगों और आकारों से; कुछ ध्वनि या आवाज से। परन्तु ये दोनों प्रकार की कलायें लय, भाषा और धुन से अनुकरण करती हैं। इनमें भी कुछ या तो (1) अलग एक से, या फिर (2) कई के सम्मिश्रण से नकल करती हैं, जैसे—

(क) लय और धुन मात्र के आधार पर : बाँसुरी, सितार, वायोलिन, पाइप आदि।
(ख) धुन के बिना केवल लय के आधार पर : नृत्य (नर्तक चरित्रों, भावों और अनुभावों का लय के द्वारा विरूप रूपों में अनुकरण करते हैं)।
(ग) केवल भाषा के आधार पर (गद्य, पद्य या उनके विविध रूप), इसका अरस्तू ने कोई नाम नहीं दिया।[2]

---

1. *Aristotle On the Art of Poetry*, Translated by I. Bywater, p. 29.
2. *The Art of Poetry*, p. 24.

(घ) कुछ ऐसी कलायें होती हैं, जिनमें लय, धुन, भाषा, छन्द आदि सभी होते हैं, जैसे नाटक, महाकाव्य, काव्य आदि।

साधनों या उपकरणों के आधार पर उपर्युक्त वर्गीकरण हुआ। इसी प्रकार कलाकार या अनुकरण-कर्त्ता जिन वस्तुओं या विषयों का अनुकरण करता है वह भी एक आधार है। यह अनुकरण प्रायः पात्रों या चरित्रों के द्वारा होता हैं। ये भलाई और बुराई के आधार पर अच्छे और बुरे होते हैं। मानव-चरित्रों की विविधता के बावजूद, भले और बुरे का भेद सब पर लागू होता है। वे तीन प्रकार के होते हैं, जैसा पहले कहा जा चुका है—उच्च, नीच और सामान्य। यह वर्गीकरण जो विषय या पात्रों के आधार पर किया जाता है, सभी कलाओं पर लागू होता है।

वर्गीकरण का तीसरा आधार अनुकरण या ढंग या शैली है। यह भी तीन प्रकार की है—(1) वर्णन और संवाद के मिश्रण द्वारा, (2) केवल वर्णन द्वारा, और (3) केवल संवाद द्वारा अर्थात् नाटकीय विधा के कार्यों द्वारा।

कार्य का उद्भव हुआ—मानव की अनुकरण की प्रकृति के कारण और उसका विकास हुआ—मनुष्यों के इस प्रकार के अनुकृत कार्यों में रुचि के कारण। अनुकृत कार्यों में रुचि और आनन्द प्राप्त करने का कारण यह है कि जो वास्तविक वस्तुयें और कार्य, भयानक और दुःखद होते हैं, वही अनुकरण द्वारा प्रस्तुत किये जाने पर हमें अच्छे लगते हैं। हम उनसे भयभीत और दुःखी नहीं होते, वरन् बार-बार देखना चाहते हैं, क्योंकि उनसे किसी दुष्परिणाम की आशंका या सम्भावना नहीं रहती। युद्ध, शेर का शिकार, किसी का वध, बीमारी, मृत्यु आदि वास्तविक जीवन में भय और दुःख देनेवाली होती हैं, पर काव्य या नाटक या चित्र में देखने पर उनका प्रभाव बदल जाता है। भयभीत या दुःखी होने के बजाय हम उनमें रम जाते हैं। यह सफल अनुकृति का प्रभाव है। इनके सुधार और विकास से कविता का रूप बना। उसके दो रूप हैं—एक उत्तम चरित्रों का चित्रण करनेवाला रूप और दूसरा निम्न चरित्रों का चित्रण करनेवाला रूप। पहला गम्भीर काव्य का रूप है और उस कोटि के काव्य में अरस्तू के विचार से 'होमर' कवियों के कवि हैं।[1] उनकी दृष्टि में काव्य-शैली की उत्कृष्टता और नाटकीय चरित्रों का अनुकरण होमर के काव्य में अद्भुत रीति से सफल है। करुणापूर्ण आनन्द, हमें दयनीयता और भय से प्राप्त होता है और कवि उसे अनुकरण के कार्य द्वारा उत्पन्न करता है।[2] फिर भी विषादान्त नाटकों का तुरन्त और गहरा प्रभाव पड़ता है, उनमें दृश्यता होती है, साथ ही अनुकृति का तत्त्व ही आद्योपान्त छाया रहता है। अतः अनुकृत कलाओं में नाटक सर्वोच्च है। अन्य कलाओं की अपेक्षा काव्य, उत्कृष्टतम है; क्योंकि उसका इतिहास है और उसमें निरन्तर विकास होता रहता है।

अनुकृति के सम्बन्ध में अरस्तू के विचार प्लेटो के विचारों से भिन्न हैं। यद्यपि उन्होंने मनुष्य की सहजवृत्ति के रूप में तथा कलाओं के मूल में अनुकृति को तत्त्वतः

---

1. *The Art of Poetry*, p. 30.
2. The tragic pleasure is that of pity and fear, and the poet has to produce it by a work of imitation.—*Art of Poetry*, p. 52.

स्वीकार किया है, पर अनुकृति की उनकी अवधारणा में विकास दिखलाई देता है। वे कलाकार की कला को दर्पण में पड़े प्रकृति के प्रतिबिम्ब के रूप नहीं देखते। उनके विचार से कविता या कला अनुकृति है, पर एकदम नकल नहीं है। यह उसकी सर्जना की नकल है। कला, प्रकृति और जीवन का पुनः प्रस्तुतीकरण है। यह पुनः प्रस्तुतीकरण, वास्तविक के आधार पर या उससे प्रेरणा लेकर नयी सर्जना है; क्योंकि अपनी कलाकृति में, वह उस कमी की पूर्ति भी करने का प्रयत्न करता है, जो वास्तविक वस्तु में उसे दिखती है। वह ऐसी बातें भी देता है, जो असली वस्तु में नहीं हैं, पर जिसकी सम्भावना हो सकती है। वह वास्तविक की व्याख्या भी करता है।

कलाकार का प्रकृति, वस्तु या चरित्र की यह अनुकृति,[1] तीन रूपों में देखी जा सकती है—(1) प्रथम, जैसा वह है या दिखायी देता है, (2) जैसा वह जाना या समझा जाता है और (3) जैसा उसे होना चाहिए। कवि या कलाकार, इन तीन रूपों में किसी भी रूप को प्रस्तुत करने में स्वतंत्र है; पर उसकी वास्तविक वस्तु या चरित्र से संगति होनी चाहिए। अरस्तू की यह व्याख्या, प्लेटो की विरोधी नहीं है, वरन् इन तीनों में अन्तिम रूप तो प्लेटो के 'माडल' या आदर्श रूप से मेल खाता है।

इतिहास से काव्य या कला भिन्न है; क्योंकि इतिहासकार उतना ही वर्णन करता है, जो घटित हुआ है। कवि वह भी वर्णन करता है, जो घटित हो सकता है। वह मृत या निष्क्रिय मनुष्यों का वर्णन या विवेचन नहीं करता, वरन् वह कार्यरत मनुष्यों का वर्णन करता है। कवि की अनुकृति का रूप सदैव नवीन होता है; क्योंकि यह अनुकृति पुनः सर्जन या प्रस्तुतीकरण है। उसकी कला इसमें है कि उसमें वास्तविक का आभास हो, तथा कल्पना और भावना पर प्रभाव डाले। इन्हीं कारणों से काव्य या कला के रूप में जो प्रस्तुति होती है, जिसे अरस्तू ने अनुकृति कहा है, वह रोचक, संस्कारक और प्रेरक होती है।

आगे चलकर लांजाइनस, क्विंटिलियन, होरेस आदि ने अनुकृति का अर्थ महाकवियों का अनुकरण किया। अनुकरण को पुनः सृजन भी कहा गया और यह भी कहा गया कि अनुकरण का अर्थ है, वस्तुपरक अंकन या कल्पनात्मक पुनर्निर्माण। अरस्तू की इस वस्तुपरकता या अनुकरण के सिद्धान्त को आधार बनाकर काव्य-रूपों के विभाजन के कारण, कवि की आत्मानुभूति का वर्णन या प्रगीत-काव्य उनके काव्य के वर्गीकरण में स्थान नहीं पा सका। इसी प्रकार इसका भी अरस्तू ने विवेचन नहीं किया कि अनुकरण की प्रक्रिया में एक कला, दूसरी कला का अनुकरण करती है। वंशी या वायोलिन या सितार पर, संगीत के रागों या कविता की पंक्तियों की अनुकृति

---

1. अनुकृति का तात्पर्य प्रतिकृति नहीं, वरन् उसका अर्थ है, पश्चाद्वर्ती सर्जना, बाद में की गयी रचना। Also see *Art of Poetry*, p. 86.

होती है। कविता में चित्रकला का, नाट्यकला का तथा नाटक में संगीत, चित्र, कविता सभी का अनुकरण होता है। इस पर विचार नहीं किया गया।

पाश्चात्य समीक्षा के वस्तुवादी मानदण्डों में यद्यपि किसी न किसी रूप में प्लेटो और अरस्तू का अनुकृति-तत्त्व देखने को मिलता है; परन्तु जो आत्मवादी या मनोविश्लेषणवादी कला-चिन्तक हैं, उनके साथ अनुकृति-सिद्धान्त मेल नहीं खाता। क्रोचे, कविता को सहजज्ञान या सहजानुभूति मानते हैं; अतः वहाँ पर अनुकरण का प्रश्न ही नहीं उठता। मनोविश्लेषणवादी चिन्तन या अचेतन और अवचेतन की अभिव्यक्ति माननेवाले विचारकों की दृष्टि में भी अनुकरण का महत्त्व नहीं। अस्तित्ववादी व्यक्ति स्वातन्त्र्य पर बल देते हैं; अतः जीवन और प्रकृति के अनुकरण की बात वहाँ भी नहीं उठती। ये सब बातें अरस्तू के समय में नहीं उठी थीं। कला और काव्य के सामाजिक पक्ष के साथ अनुकृति-कर्म निश्चय ही जुड़ा है और उसका अपना महत्त्व है।

2. विरेचन-सिद्धान्त (Theory of Catharsis)

विरेचन-सिद्धान्त का उल्लेख अरस्तू ने अपने ग्रन्थ *पोइटिक* में 'त्रासदी' के विरेचन के प्रसंग में किया है। उन्होंने इस पर विस्तार से नहीं कहा—केवल त्रासदी के महत्त्व और प्रभाव को व्याख्यायित करते हुए उल्लेख किया है।[1] इसमें इस बात पर जोर दिया है कि गम्भीर कार्यों की सफल और प्रभावशाली अनुकृति वर्णन के रूप में न होकर कार्यों के रूप में होती है जिसमें करुणा और भय को उत्पन्न करनेवाली घटनाएँ होती हैं, जो इन भावों के रेचन द्वारा एक राहत और आनन्द प्रदान करती हैं। यह रेचन की प्रक्रिया, चिकित्सा-प्रणाली के रेचन से ली गयी है, जिसमें पेट के विकारों से उत्पन्न कष्ट को दूर करने के लिए रोचक ओषधियों के द्वारा विकार को निकालकर कष्ट को दूर कर शरीर को सुख पहुँचाया जाता है। अरस्तू का विचार है कि इसी प्रकार भय और करुणा के दो भाव हमारे भीतर घनीभूत होते रहते हैं, वे इस प्रकार की त्रासदी के कार्यों का देखने पर कुशल अभिनय द्वारा सन्तुलित और समंजित हो जाते हैं और इस प्रकार हमारे मन को राहत और आनन्द की अनुभूति होती है। अपने इस कथन के द्वारा अरस्तू ने कई शंकाओं का समाधान किया है तथा काव्य और कला के रचयिता पर जो प्लेटो को आक्षेप है कि वे अपनी रचनाओं के द्वारा हमारी वासनाओं को उभारते हैं, जिससे हमारा विवेक और तर्क-बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और हम भले-बुरे का ज्ञान खो बैठते हैं, इसका भी उत्तर दिया है।

---

1. "A tragedy, then, is the imitation of action that is serious and having magnitude, complete in itself; in language with pleasurable accesories, each kind brought in separately in the parts of the work, in a dramatic, not in a narrative form, with incidents arousing pity and fear, where with to accomplish its catharsis of such emotions."
—*Aristotle On the Art of Poetry*, p. 35.

काव्य जैसा है, उस रूप में प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य के लिए हानिकर बताया। उनका कहना है कि कविता में जो गहरा प्रभाव डालने की शक्ति होती है, उससे वह अन्य लोगों के साथ-साथ भले लोगों को भी हानि पहुँचाती है, जो अत्यन्त भयंकर है।[1] कविता हमारी लोभ, क़ाम, मोह, क्रोध आदि वासनाओं तथा पीड़ा और आनन्द की भावनाओं को जगाती है। वह उनका सिंचन औरं पोषण करती है। इन वासनाओं के दमन करने या हटाने के स्थान पर, उनका प्रभाव बढ़ाती और उनका शासन स्थापित करती है। जबकि मनुष्य-जाति के सुखों और गुणों की वृद्धि के लिए आवश्यक है कि उन्हें वश में रखा जाय। अतः मधुर कविता देवी को, महाकाव्य या प्रगीत के रूप में, आदर्श राज्य में, कानून और तर्क-बुद्धि के स्थान पर प्रवेश दिया गया, जो मनुष्य की व्यवस्था के लिए सदा हितकर माने गये हैं, तो सुख और दुःख की वासनायें ही उस पर शासक होंगी।[2]

कविता के सम्बन्ध में प्लेटो ने जो ये आक्षेप लगाये, वे शुद्ध नैतिक और प्रशासकीय दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं और निश्चयतः सभी काव्य-कला-प्रेमियों के मन को उद्विग्न करते हैं। अरस्तू के मन को भी इन आक्षेपों ने झकझोरा होगा और इनका उत्तर भी प्लेटो को अरस्तू ने अपने सम्वादों में दिया होगा। परन्तु उसका एक सूत्र मात्र हमें उनकी *पोइटिका* में मिलता है, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। अपने इस विरेचन-सूत्र से अरस्तू ने यह स्पष्ट कर दिया कि कविता और विशेष रूप से त्रासदी हमारी भय और करुणा की भावनाओं को या अन्य वासनाओं को, उभारती और उत्तेजित नहीं करती, वरन् इस प्रकार की जो वासनायें हमारे भीतर भरी हुई हैं और मौके, बेमौके उभरकर हमारे सामाजिक जीवन और व्यवस्था में समस्यायें पैदा करके कष्ट देती हैं, उनका, उनके विकार का रेचन हो जाता है। हमें राहत मिलती है और वे उदात्त रूप में रहकर, हमें आनन्द प्रदान करती हैं। कविता हमारी वासनाओं को जगाती और उत्तेजित करती है, पर उनके परिष्कृत रूप में। कविता या नाटक के पात्रों के बीच इन उत्तेजित वासनाओं और उनके दुष्परिणामों का हमारे शरीर और जीवन से सीधा सम्बन्ध न होने से, वासनायें परिष्कृत सम्वेदनाओं का रूप ग्रहण करती हैं। यही भावों का विरेचन है। कविता का यही वास्तविक प्रभाव और कार्य

1. The power which poetry has of harming even the good (and there are very few who are not harmed), is surely an awful thing.
—*The Dialogues of Plato,* Vol. II, p. 481.
2. In all of them poetry has a like effect; it feeds and waters the passions, instead of drying them up; she lets them rule, though they ought to be controlled if mankind are ever to increase in happiness and virtue. If you go beyond this and allow this honeyed muse to enter either in Epic or Lyric verse not law and reason of mankind, which by common consent, have ever been deemed best, but pleasure and pain will be rulers in our state.
—*The Dialogues of Plato,* p. 482-83.

होता है। अतएव इस दृष्टि से देखने पर प्लेटो के आक्षेप समाप्त हो जाते हैं। अरस्तू का यह दृष्टिकोण वास्तव में सौन्दर्यवादी है।

इस विरेचन-सिद्धान्त सूत्र से एक और प्रश्न का उत्तर मिल जाता है, जो प्रायः त्रासदी और विषादान्त महाकाव्यों के प्रसंग में उठता है। वह यह है कि मनुष्य सुख और आनन्द देनेवाले कार्यों और दृश्यों को देखना चाहता है। जीवन के दुःख—विषादपूर्ण, करुण दृश्यों को नहीं, उनसे वह दूर रहना चाहता है, तब वह त्रासदी जैसे भयपूर्ण और करुण नाटकों को क्यों देखना चाहता है? उसका उत्तर यही है कि महाकाव्य पढ़ने से या त्रासदी देखने से, पात्रों को जिन भयंकर घटनाओं और परिस्थितियों के बीच गुजरना पड़ता है और जो दुःख या करुणा उनके कथनों और क्रियाओं से प्रकट होती है, उसका हमारे शरीर और अपने जीवन पर कोई दुष्प्रभाव नहीं होता। तटस्थ भाव से देखने और कलाकारों के सुन्दर प्रभावशाली कथनों, क्रियाओं और अभिव्यक्तियों से हमारी वासनायें उद्दीप्त होकर निकल जाती हैं और हमें इन दुःखपूर्ण कृतियों में भी राहत और आनन्द प्राप्त होता है। इसी से हम इन्हें देखते हैं। इस विषय पर भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों ने रस-सिद्धान्त का विवेचन करते समय विचार किया है।

अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त के द्वारा प्लेटो के इस मत का भी निराकरण हो जाता है कि त्रासदी आदि के भय और करुणा के भावों से लोगों में भय और कायरता की प्रवृत्तियाँ जाग्रत् होती हैं। अरस्तू के मत की व्याख्या करते हुए यह कहा गया है कि मानव-मन में जो कटु वासनायें रहती हैं, वे यथार्थ जीवन में प्रकट होने पर सामाजिक हानि कर सकती हैं; पर कविता और नाटक के माध्यम से प्रकट होकर वे ही वासनायें, भावों का रूप धारण कर दर्शक को उनसे निष्कृति प्रदान करती हैं तथा उसे उदात्त और संवेदनशील बनाती हैं। अरस्तू के इन विरेचन या 'कैथार्सिस' के सिद्धान्त की अन्य लोगों ने भी व्याख्या की है। कुछ लोग यह मानते हैं कि त्रासदी का आनन्द, राहत या निष्कृति का आनन्द है। वह आर्ट ऑफ् रिलीफ से प्राप्त है। जबकि अन्य सुखमय भावों के प्रदर्शन की कला, आनन्द की कला है। वह आर्ट ऑफ् डिलाइट है—यह स्वीकार करते हैं।

अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध मूर्धन्य कवि मिल्टन ने अपने नाटक 'सैम्सन एगोनिस्टिस' में कैथार्सिस की व्याख्या करते हुए लिखा है[1] कि अरस्तू ने भय, करुणा या आतंक के भावों को काव्य में पढ़ने और नाटक में देखने से हमारे मन के भीतर के इन भावों का शमन और विरेचन होता है, अगर काव्य या नाटक में इनकी सही अनुकरण

1. "Therefore said by Aristotle to be of power by raising pity and fear, or terror, to purge the mind of these and such like passions, that is to temper and reduce them to just measure with a kind of delight, stirred up by reading or seeing those passions well imitated. Nor is nature wanting in her own efforts to make good his assertion; for so in physical things of melancholic hue and quality are used against melancholy, sour against sour, salt to remove salt."—Milton in *Samson Agonistes.*

होता है, यह सत्य है। प्रकृति में भी इसके प्रमाण मिलते हैं जहाँ समान चीजों का बचाव उसी प्रकार की चीजों से किया जाता है। कहा भी गया है कि विष का शमन विष से ही होता है।

अरस्तू ने संगीत के प्रभाव को स्पष्ट करते हुए अपनी पुस्तक *पॉलिटिक्स (Politics)* में कहा है कि संगीत का प्रभाव उन सब भावुक तथा भय-करुणा से प्रभावित व्यक्तियों पर होता है, जो इन वासनाओं से तुरन्त प्रभावित हो जाते हैं। संगीत उन भावनाओं को उफनाकर निकाल देता है। उसके बाद वे व्यक्ति आनन्दप्रद राहत का अनुभव करते हैं। कैथार्सिस या विरेचन का उद्देश्य यही आनन्दप्रद राहत (Delightful Relief) है। विरेचन का प्रयोग अरस्तू ने दो प्रसंगों में किया है—प्रथम, त्रासदी के विवेचन के प्रसंग में जिसमें उन्होंने कहा है कि त्रासदी, भय और करुणा के भावों का विरेचन या कैथार्सिस, तभी पूरी करती है, जबकि—

(क) उसमें उदात्त, परिपूर्ण गम्भीर कार्यों का अनुकरण हो।

(ख) उसके विविध भागों में, आनन्दप्रद भाषा का उसके उपकरणों जैसे लय, और संगीत के साथ यथावश्यक यथास्थान प्रयोग किया गया हो।

(ग) यह अनुकरण वर्णनात्मक न होकर अभिनय या कार्य के रूप में हो।

(घ) उसमें भय और करुणा को उत्तेजित करनेवाली ऐसी घटनाओं का समावेश हो जिनसे इन भावों का विरेचन सम्पन्न हो सके।[1]

इसी प्रकार विरेचन का दूसरा उल्लेख अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' में किया है जिसमें कहा है कि धार्मिक उन्माद के नृत्य और संगीत द्वारा भी भावों का विरेचन (या कैथार्सिस) होता है। ग्रीस की डायोनाइसस (Dionysus) पूजा में श्रद्धालु भक्त, उस समय के उत्तेजक संगीत से इतने मस्त हो जाते थे, कि उनके भीतर भी भाव-विरेचन या कैथार्सिस की क्रिया सम्पन्न होती थी। इस प्रकार मनोविकारों के विरेचन द्वारा उनसे निष्कृति प्राप्त कर आनन्द का अनुभव कराना ही, ऐसे संगीत तथा त्रासदी का लक्ष्य था।

अरस्तू ने त्रासदी और संगीत के सन्दर्भ में ही विरेचन का उल्लेख किया है; परन्तु भावों का विरेचन अर्थात् उत्तेजन, निष्कृति (राहत) और आनन्द, नाटक के देखने और काव्य के श्रवण से बराबर होता है। अतः अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त पूर्व में उठे प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है।

संगीत के प्रभाव का वर्णन करते हुए भी अरस्तू ने कहा है कि संगीत का अध्ययन एक नहीं, वरन् अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाना चाहिए, जैसे—(1) शिक्षा के लिए, (2) विरेचन (भाव-शुद्धि) के लिए और (3) मानसिक आनन्द के लिए। भय और त्रास से आविष्ट प्रत्येक व्यक्ति, भाव-शुद्धि को अनुभव करता है। इससे उसकी आत्मा शुद्ध हो जाती है। इस प्रकार ऐसे रोग जो विरेचन को सम्पन्न करते हैं, मानव-समाज को निर्दोष और निर्विकार आनन्द प्रदान करते हैं।

---

1. *Aristotle On the Art of Poetry* by I. Bywater, p. 35.

धार्मिक व्याख्या : विरेचन-सिद्धान्त पर आगे चलकर बहुत से विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है। गिल्बर्ट मरे (Gilbert Murray) ने धार्मिक पृष्ठभूमि में अरस्तू की कैथार्सिस की व्याख्या करते हुए लिखा है कि डायोनाइसस उत्सव, स्वतः ही विरेचन, कैथार्सिस अथवा पूरे समुदाय को, पिछले वर्ष के विष और विकारों से शुद्धीकरण का रूप है।[1] यह उत्सव अरस्तू के समय प्रचलित था। ऐसे ही उत्सव पहले से मिश्र में प्रचलित थे जिनमें देवताओं को क्षतविक्षत करके फिर उन्हें जीवित होते दिखाया जाता था। इसके अतिरिक्त अरस्तू के समय में ही, ई.पू. 361 में, यूनानी त्रासदियों का प्रचलन रोम में हो गया था; परन्तु यह प्रचलन कलापरक न होकर धार्मिक विश्वास के आधार पर हुआ था। इसके होने से महामारी नहीं आती। अतः ऐसा लगता है कि इस धार्मिक परिप्रेक्ष्य से अरस्तू ने विरेचन का भाव ग्रहण कर, अपने काव्यशास्त्रीय विवेचन में उसे एक नया रूप प्रदान किया।

नीतिपरक व्याख्या : आगे चलकर विरेचन-सिद्धान्त की नीति से सम्बद्ध या आचार से सम्बद्ध व्याख्या की गयी। 17वीं शताब्दी में यह मत व्यक्त किया गया कि त्रासदी द्वारा उत्पन्न भय और करुणा, उत्तेजित होकर, अन्य भयंकर वासनाओं, जैसे क्रोध, लोभ, अहंकार आदि को शान्त कर देती है, जिसका प्रभाव वैयक्तिक आचार और नैतिकता पर पड़ता है। 19वीं शताब्दी के कई विचारकों ने यह भी स्थापित किया है कि भय और करुणा के भावों के त्रासदी में प्रदर्शन द्वारा दर्शकों के मन में रहनेवाले इन्हीं और अन्य भावों को निजी स्वार्थ की सीमा से उठाकर विरेचन से उदात्त कर दिया जाता है, जिससे व्यक्ति का आचार और उसकी नैतिकता उदात्त हो जाती है। सैमुयेल जानसन की जीवनी लिखनेवाले बोस्वेल ने *लाइफ ऑफ़् जानसन* में लिखा है कि जब मैंने उनसे यह पूछा कि भय, आतंक और करुणा के दृश्यों से हमारी भावनाओं का विरेचन या परिष्कार किस प्रकार होता है, तो उन्होंने बताया कि वासनायें, मनुष्य के कार्यों की महान् प्रेरक होती हैं; पर वे बड़ी मैली

---

1. The much debated word 'Katharsis', purification or purgation, may have come into Aristotle's mouth from the same source. It has all the appearance of being old word which is accepted and re-interpreted by Aristotle rather than a word freely chosen by him to denote the exact phenomenon, he wishes to describe. At any rate Dionysus ritual itself was a katharmos or katharsis—a purification of community from the taints and poisons of the past year.......
   According to primitive ideas, the mimic representation on the stage of 'incidents arousing pity and fear, did act as katharsis of such passions or sufferings in real life. It is worth remembering that in the year 361 B.C. during Aristotle's life time, Greek tragedies were introduced in Rome not on artistic, but on superstitious ground, as katharsis against a pestilence.
   —Preface, p. 15-16 by Gilbert Murray to Aristotle *On the Art of Poetry.*

और विकारग्रस्त रहती हैं। अतः यह आवश्यक होता जाता है कि उनका विरेचन और परिष्कार भय और करुणा के प्रदर्शन से किया जाय। जैसे मंच पर कोई अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति, जिसने अन्याय से अपने को उच्च पद पर पहुँचाया हो, दण्डित होता दिखाया जाता है, तो हमें उस महत्त्वाकांक्षा के दुष्परिणाम से भय लगने लगता है। इस प्रकार भावों का परिष्कार होता है।

इसी प्रकार एक दूसरे आलोचक रैंपिन (Rapin) का मत है कि अभिमान, निष्ठुरता, मानव-जाति के दुर्गुण हैं। त्रासदी में जब दो अन्य भावों—भय और करुणा को दिखाया जाता है और हम देखते हैं कि पुण्यकर्मी सज्जनों और महान् व्यक्तियों को भी दुर्भाग्य का शिकार होना पड़ता है, तो हमारी उनके प्रति दया-भावना या करुणा जाग्रत् होती है और हमें उनकी सहायता करने को प्रेरित करती है। हमारे हृदय में सभी संकटग्रस्त लोगों के प्रति संवेदनशीलता पैदा होती है, जो अत्यन्त उत्कृष्ट और दिव्य गुण है। इस प्रकार भावों के विरेचन से जो भी दुःखी और पीड़ित हैं, हमारी करुणा के पात्र बन जाते हैं।

कलापरक व्याख्या : विरेचन या कैथार्सिस की कलापरक व्याख्या अरस्तू ने की, यद्यपि उन्होंने प्रेरणा, धार्मिक उत्सवों के विरेचन और चिकित्साशास्त्र की रेचन-क्रिया से ग्रहण की। पर उसका नया अर्थ देकर उसे काव्य और कला के क्षेत्र में लागू किया, जिस पर पहले विचार किया जा चुका है। यों कैथार्सिस शब्द का प्रयोग प्लेटो ने भी किया है जो इस भाव से जुड़ा है कि सभी सुख-दुःखमयी वासनाओं का विरेचन या शुद्धिकरंण ही वास्तव में सत्य है।[1] इसी के आधार-सूत्र को लेकर अरस्तू ने स्थापित किया कि काव्य और नाटक में जिन भावों या वासनाओं का वर्णन किया जाता है या मंच पर प्रदर्शन किया जाता है वे मनुष्य के भीतर स्वार्थ और अहंभाव से ग्रस्त हानिकर वासनायें नहीं हैं वरन् वे कलापूर्ण अभिव्यक्ति से विरेचित होकर शुद्ध और उदात्त हो जाती हैं, क्योंकि उनसे संलग्न स्वार्थभाव निष्कृत हो जाता है। और इस प्रकार वे प्लेटो द्वारा 'फेडो' में कथित उपर्युक्त सत्य का रूप बन जाती हैं; अतः वे आनन्दप्रद भी हैं और दर्शकों के मन और संवेदन को उदार और उदात्त भी बनाती हैं।

अरस्तू की 'पोइटिक्स' के सुप्रसिद्ध भाष्यकार प्रो. बूचर ने स्पष्ट किया है कि भय और करुणा दोनों ही दुःखात्मक भाव हैं। जीवन में एक दुःख देता है और दूसरा दुःख से उत्पन्न होता है, परन्तु काव्य और नाटक में प्रदर्शित होने पर, वर्णन और प्रदर्शन की कला के प्रभाव से उनसे दुःख का अंश निकल जाता है; क्योंकि सुनने और देखने से हमारे भीतर का 'अहं' भाव दूर हो जाता है और इसी के साथ दुःखात्मक चुभन भी दूर हो जाती है। यह 'स्व' या आत्मा का विस्तार है। इसी विस्तार और कला के चमत्कार से दुःखात्मक भावों की परिणति सुखानुभूति में हो जाती है।

---

1. Truth is infact a kind of catharsis of all such pleasures and tears.
—*Plato's Phedo*—69.

यह कवि या नाटककार का जादू है। सामान्य जन अपने दुःख को अपना समझकर कष्ट का अनुभव करता है, परन्तु कवि या नाटककार किसी व्यक्ति के दुःख को सार्वजनिक बना देता है, जिससे दुःखात्मक भाव दुःखद न रहकर सुखद और आनन्दपूर्ण हो जाता है, क्योंकि उत्तेज़ित होने पर दुःखात्मक भावों का विरेचन हो जाता है और उनसे निष्कृति मन को सुख देती है। यह व्याख्या भारतीय रसशास्त्रीय चिन्तन की साधारणीकरण-प्रक्रिया का स्मरण दिलाती है, जिसमें न केवल दुःखात्मक भावों के सुखात्मकं होने का कारण ही बताया गया है, वरन् व्यक्तिगत अनुभूति किस प्रकार सामूहिक अनुभूति हो जाती है, इसका रहस्य भी उद्घाटित किया गया है।

उपर्युक्त तीनों दृष्टियों से विचार करने के उपरान्त भी एक प्रश्न सामने खड़ा होता है और वह यह है कि विरेचन के लिए अरस्तू ने त्रासदी में घटनाओं के द्वारा अन्य भावों को उत्तेजित होने की बात या सभी भावों या किसी भाव के उत्तेजित होने की सामान्य बात न कहकर, केवल दो भावों—भय और करुणा को उत्तेजित कर भावों के विरेचन की बात क्यों कही है? उन्होंने भय और करुणा को ही क्यों चुना? अन्य भावों जैसे क्रोध, उत्साह, घृणा आदि भावों को उत्तेजित करने की बात क्यों नहीं कही? यह एक विचारणीय प्रश्न है। अरस्तू ने त्रासदी के कथानक और घटना-प्रसंग में यह भी बताया है कि भय और करुणा के भावों के उत्तेजित होने के लिए कैसा घटना-क्रम और चरित्र चाहिए। उनका निष्कर्ष है कि करुणा और भय (1) न तो सज्जन पुरुष को सुखमय परिस्थिति से दुःख और यन्त्रणा की परिस्थिति में दिखाने से जाग्रत् होते हैं और (2) न दुष्ट मनुष्य को यन्त्रणा से सुख की परिस्थिति में दिखाने से ही वे जाग्रत् होंगे तथा (3) न अत्यन्त अत्याचारी व्यक्ति को सुख की परिस्थितियों में प्रस्तुत करने से भी भय और करुणा के भाव जाग्रत् होंगे। वे तो तब जाग्रत् होते हैं जब कोई बहुत बड़ा सत्कर्मी नहीं, वरन् सामान्य व्यक्ति, अपने दुर्गुणों और पापों के कारण नहीं; वरन् अनेक प्रख्यात व्यक्तियों को समझने और उनके सम्बन्ध में निर्णय की त्रुटि के कारण, दुर्भाग्य का शिकार होता है। जिन परिस्थितियों और घटनाओं के प्रदर्शन से भय और करुणा पूर्णतः जाग्रत् होती है, उनका उल्लेख अरस्तू ने सोदाहरण किया है। साथ ही साथ यह कहा है कि भय और करुणा को पूर्णतया जाग्रत् करनेवाली घटनाओं के द्वारा उसी प्रकार के भावों का विरेचन सम्पन्न होता है। यहाँ पर उसी प्रकार की या वैसी ही वासनाओं या भावों के विरेचन की बात कही गयी है। निश्चय ही त्रासदी में प्रेम, हास आदि की भावनाओं का तो मेल ही नहीं बैठता। विरेचन, भय, करुणा, क्रोध, घृणा आदि के भावों का ही विरेचन होगा, जिनसे हमारे भीतर विकार रहते हैं और जिनसे दुःखमय परिस्थितियाँ बनती हैं। करुणा और भय की भावनाओं को ही क्यों लिया, इस पर विचार करने पर यह बात उठती है कि अन्य कौन भाव हो सकते हैं। क्रोध, अहंकार, घृणा, वीरता आदि के भावों के प्रदर्शन से दर्शकों के मन पर इन्हीं भावों के जाग्रत् होने की स्थिति बनती है, पर इससे अन्तःकरण द्रवित होकर विरेचन की स्थिति में नहीं जा सकेगा

और न आत्मा का परिष्कार ही होगा। इन भावों का उतना व्यापक, गम्भीर और हृदय को कोमल बनाने वाला प्रभाव भी नहीं पड़ता। अतः त्रासदी की सम्पन्नता नहीं हो पायेगी। विरेचन विशेष रूप से भय और करुणा के भावों के उपयुक्त प्रदर्शन से ही होता है। विरेचन से ही मन द्रवित होता है और उसमें सुकुमार संवेद्यता जाग्रत् होती है, क्योंकि विकार, स्वार्थ और अहं से सम्बद्ध मैल धुल जाता है तथा आत्मा स्वस्थ और स्वच्छ हो जाती है। आत्मा के स्वच्छ और स्वस्थ होने पर ही दुःखात्मक परिस्थितियों में भी राहत और आनन्द की प्राप्ति होती है। भय और करुणा को छोड़कर अन्य भावों में गम्भीर, व्यापक प्रभाव डालने, अन्तःकरण के मन्थन और उसे द्रवित करने की वैसी क्षमता नहीं होती। अरस्तू का कैथार्सिस शब्द अपने भीतर द्रवण और रेचन दोनों अर्थों को छिपाये हुए है। दोनों अर्थ मिलकर इसे चिकित्सा-शास्त्र तक ही सीमित नहीं रखते; वरन् उसे काव्य और नाटक विशेष रूप से नाटक के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करते हैं। इस प्रकार कैथार्सिस या विरेचन, साधारणीकरण की प्रक्रिया से मेल खाता हुआ भी, उससे भिन्न और गहरे धरातल पर है। विरेचन की विशिष्टताओं को हम निम्नलिखित प्रकार से रख सकते हैं—

(क) विरेचन और द्रवण, त्रासदी द्वारा ही हो सकता है।

(ख) इसके लिए भय और करुणा के भावों का सम्यक् नियोजन और प्रदर्शन आवश्यक है।

(ग) घटनाओं के तथा नायक के चयन में बड़ी सावधानी अपेक्षित है।

(घ) विरेचन यद्यपि दुःखात्मक परिस्थितियों और घटनाओं के प्रदर्शन से होता है; परन्तु उसकी परिणति सुखात्मक अनुभूति में होती है।

(ङ) इससे कलात्मक आनन्दानुभूति, आत्मपरिष्कार से नैतिक बल तथा धार्मिक सन्तुष्टि की प्राप्ति होती है।

इस कैथार्सिस अथवा द्रवण-विरेचन-सिद्धान्त पर प्रयोगात्मक खोज आवश्यक है।

3. औदात्त्य-सिद्धान्त

औदात्त्य-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक 'लांजाइनस' माने जाते हैं। कुछ विद्वान् इन्हें ई.पू. तीसरी शती के यूनानी विचारक मानते हैं और कुछ इन्हें ईसा की पहली शताब्दी में रोम का रहनेवाला काव्यशास्त्री मानते हैं। कुछ भी हो, अरस्तू के पश्चात् प्राचीन काल के विचारकों में 'लांजाइनस' का स्थान उत्कृष्ट है। इन्होंने 'औदात्त्य-सिद्धान्त' की प्रतिष्ठा की; क्योंकि इनके समय में साहित्य में गिरावट आ गयी थी। 'लांजाइनस' के ग्रन्थ *पेरि हुप्सुस (Peri Hupsous)* की खोज 16वीं शताब्दी में हो सकी और इसका प्रथम संस्करण 1554 ई. में प्रकाशित हो सका, जो अभी अपूर्ण माना जाता है। इस 'पेरी हुप्सुस' में जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'दि सब्लाइम' (The Sublime) किया गया है, औदात्त्य-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की गयी है। यह औदात्त्य-सिद्धान्त काव्य के लिए महत्त्वपूर्ण है। लांजाइनस ने औदात्त्य-तत्त्व की प्रतिष्ठा करके काव्य को गरिमामय और भव्य बनाने का प्रयास किया है। इसमें इस बात पर प्रकाश डाला

गया है कि किन बातों के समावेश से काव्य में औदात्त्य की प्रतिष्ठा की जा सकती है। लांजाइनस की औदात्त्य-सम्बन्धी अवधारणा बड़ी व्यापक है तथा साहित्येतर इतिहास, दर्शन और धर्म जैसे विषयों को भी समाविष्ट कर लेती है। लांजाइनस ने औदात्त्य की प्रेरणा कैसिलियस (Caecilius) के निबन्ध 'उदात्त' से ली थी जिसका विवेचन करके इन्होंने विकसित औदात्त्य-सिद्धान्त की स्थापना की। उन्होंने इसके द्वारा मानव-मूल्यों को पतन से बचाने और आत्मा को उदात्त बनाने के लिए यह कार्य किया। लांजाइनस का औदात्त्य तत्त्व, उदात्त शैली नहीं है, वरन् इसमें उदात्त विषयवस्तु, विचार और भाव तथा भाषा एवं अलंकार सभी कुछ शामिल हैं। लांजाइनस के विचार से औदात्त्य वाणी का उत्कर्ष, कान्ति और वैशिष्ट्य है जिसके कारण महान् कवियों, इतिहासकारों, दार्शनिकों को प्रतिष्ठा, सम्मान और ख्याति प्राप्त हुई है क्योंकि इसी से उनकी कृतियाँ गरिमामय बनी हैं और उनका प्रभाव युग-युगान्तर तक प्रतिष्ठित हो सका है। उनके उदात्त-सिद्धान्त के तत्त्व आगे दिये जाते हैं।

(क) विषयगत गरिमा एवं महान् अवधारणाओं की क्षमता : लांजाइनस का यह निश्चित और स्पष्ट मत है कि किसी काव्य या रचना को महान् होने के लिए यह आवश्यक है कि कवि और रचनाकार के भीतर महान् अवधारणायें एवं उच्च विचार अवस्थित हों। उसकी कल्पना उच्च और व्यापक हो, तभी वह मानव-प्रकृतिगत क्षुद्रताओं से उसे ऊपर उठा सकता है। यदि वह स्वयं क्षुद्र और निम्नकोटि के विचारों से युक्त है, तो वह महान् कृति की रचना नहीं कर सकता। कवि की इस बात का प्रमाण, सबसे पहले उसके विषय से मिलता है। यदि विषय महान् है, तो कृति के महान् होने में वह एक महत्त्वपूर्ण अंग को प्रदान करता है। इस कार्य के लिए कवि को महाकवियों की महान् कृतियों का अनुशीलन करना चाहिए। यदि कवि में प्रतिभा है, तो उनके अनुशीलन से गरिमामय विषय को चुनना सुगम होता है। विषय को गरिमापूर्ण बनाने के लिए उसको विस्तृत एवं गतिमय रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक है। लांजाइनस का कुछ ऐसा विचार है कि गरिमामय विषय, सामान्य न होकर असाधारण होता है। इसकी प्रेरणा उसे प्रकृति की विराटता और असाधारणता से मिलती है। प्रकृति के विराट् स्वरूप और रहस्य को देखकर हमारे मन में उदात्त भाव और विचार जागृत होते हैं।

(ख) उत्तेजित तीव्र आवेग : लांजाइनस के अनुसार आवेग दो प्रकार के होते हैं—एक निम्न आवेग और दूसरे भव्य आवेग। जब भव्य आवेग मनुष्य के अन्तः-करण में क्रियाशील होते हैं, तब उसकी आत्मा का उत्कर्ष होता है और उदात्तता आती है। निम्नकोटि के आवेगों के प्रबल होने पर उसकी आत्मा मलिन होती है और नीचता जाग्रत् होती है। लांजाइनस के मत से उत्साह का आवेग औदात्त्य-तत्त्व को प्रेरित करता है। कवि में उसके उत्पन्न होने से वाणी में ओज और कान्ति उत्पन्न होती है। इसके विपरीत शोक, भय, दया, घृणा आदि से आत्मा संकुचित होती है। इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि कवि में अगर प्रतिभा तथा कलापूर्ण अभिव्यक्ति

की क्षमता है, तो अन्य भावों में भी औदात्त्य का समावेश हो सकता है। प्रकृति में भावों की विविधता इसके लिए भी प्रेरक है।

(ग) अलंकार-योजना : लांजाइनस के मत से औदात्त्य के सम्पादन के लिए तीसरा साधन 'अलंकार-योजना' है। अलंकारों का प्रयोग काव्य-रचना में प्राचीन काल से चला आता है, पर लांजाइनस का विचार है कि अलंकारों का प्रयोग चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नहीं, वरन् भावों के उत्कर्ष के लिए होना चाहिए। भावों के उत्कर्ष के हेतु अलंकार तभी सहायक होते हैं, जब वे कविता में जबरदस्ती न ठूँसे जायँ; वरन् उनका प्रयोग इस प्रकार हो कि कवि जिन भावों को जिस तीव्रता से अनुभव कर रहा है, उन भावों को उसी तीव्रता से अपने काव्य के पाठकों या श्रोताओं के भीतर भी पहुँचा सके। परन्तु पाठकों का ध्यान अलंकार की ओर न जाकर केवल भाव में रम जाये। अनायास पाठकों के हृदयों में भाव जाग्रत् और उत्तेजित करने की सहज क्षमता जिस अलंकार-योजना में होती है, वही श्रेष्ठ है। लांजाइनस के विचार से अलंकार स्वतः कवि के मनोभावों में निहित होते हैं और वे उसके कलात्मक बोध के प्रतीक हैं। इसी से वे मानव-प्रवृत्तियों की सही व्याख्या के साधन बनते हैं। यह तभी सम्भव होता है, जब अलंकारों का प्रयोग स्थान, काल, अभिप्राय, रीति-रिवाज और वातावरण के अनुरूप हो। अलंकार-योजना के शीर्षक के अन्तर्गत लांजाइनस ने वक्रोक्ति की कुछ बातों को भी ले लिया है, जैसे विलक्षण वाक्य-रचना, काल, लिंग, वचन में बदलाव, व्याजोक्ति, समासोक्ति आदि। परन्तु लांजाइनस ने रूपक, उपमा आदि अलंकारों को शब्दावली (Diction) के अन्तर्गत रखा है।

(घ) भव्य शब्दावली एवं पद-रचना (Noble Diction) : इसके अन्तर्गत लांजाइनस ने शब्दावली, पद, रूपक, उपमा आदि पर विचार किया है। वे विचारों के अनुरूप पद-रचना के पक्षपाती हैं। उनके विचार से विचार और पद अन्योन्याश्रित हैं। न महान् विचार हल्की, क्षुद्र बाजारू शब्दावली में कहे जा सकते और न हल्की सामान्य शब्दावली महान् विचारों को प्रभावपूर्ण ढंग से सम्प्रेषित ही कर सकती है। हल्की शब्दावली वह है जो विषय और सन्दर्भ के अनुकूल न हो। वे शब्दाडम्बर के भी पक्ष में नहीं हैं। उदात्त कलाकृति के लिए शुद्ध, उपयुक्त और प्रभावशाली शब्दावली अपेक्षित है। इस शब्दावली में प्रसंगानुसार, रूपक और उपमा का व्यवहार किया जा सकता है। उनके विचार से सुन्दर शब्दावली भव्य विचारों के लिए प्रकाश का काम करती है। भाषा और शब्दावली के प्रसंग में उनकी मान्यता है कि वही शब्दावली और पद-विन्यास रचना के लिए उपयुक्त है, जो उसमें निहित विचारों और भावों को भव्य प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति दे सके।

(ङ) गरिमामय उदात्त संरचना (Dignified and elevated synthesis) : वास्तव में शब्द, पद, अलंकार आदि तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, परन्तु महत्त्व किसी रचना में गूँथे जाने या पिरोये जाने के ताने-बाने पर निर्भर करता है। सफेद धागे को विविध रंगों में रँगकर, उनको ताने-बाने में पिरोकर जिस प्रकार अनेक डिजाइनों के फूल,

बूटेदार वस्त्र बनाये जा सकते हैं, उसी प्रकार शब्दावली और अलंकारों की उपर्युक्त संरचना समन्वित एवं उचित प्रयोग के द्वारा एक कलापूर्ण कृति बन जाती है। समन्वय, सामंजस्य और औचित्य ही किसी भी काव्यकृति को गरिमामय बनाते हैं। यह संरचना या सामंजस्य अलग कोई वस्तु नहीं है, वरन् विचारों को समुचित शब्दावली, अलंकारों के उचित एवं प्रभावशाली संगुफन का ही नाम है। रचनाकार की कला और प्रतिभा का वैशिष्ट्य भी इसी में देखा जा सकता है। इस प्रकार लांजाइनस का औदात्त्य, गरिमामय विषयवस्तु, उदात्त धारणाओं, सहज समुचित अलंकार-योजना, उत्कृष्ट भव्य शब्दावली का समुचित, प्रभावशाली एवं कलापूर्ण संगुफन की परिणति ही है।

उपर्युक्त पाँच तत्त्व साधन हैं जिनसे उदात्त-तत्त्व का सम्पादन होता है। इस उदात्त-तत्त्व की प्रक्रिया काव्य की प्रमुख विशेषता है। लांजाइनस के विचार से काव्य का महत्त्व उसमें निहित शिक्षा, नैतिकता, दर्शन, ज्ञान आदि में तो है ही, परन्तु उसका मूल व्यापार इनसे भिन्न और ऊँचा है। उनके विचार से काव्य में एक ऐसी शक्ति होती है, जो बुद्धि और तर्क से ऊपर है। काव्य में एक ऊर्जा, एक तेज होता है, जो कवि के द्वारा उत्पन्न किया जाता है और पाठक के मन को मुग्ध कर लेता है। पाठक उसमें रमकर स्वयं अपने में उस तेज के संचार का अनुभव करता है। यह कवि के उदात्तीकरण या औदात्त्य-सम्पादन की प्रक्रिया का संकेत करता है जिसे लांजाइनस ने 'एक्सतासिस' (Ekstasis) कहा है। यह तर्क द्वारा समझाने की प्रक्रिया से अलग संक्रमण या सम्प्रेषण की प्रक्रिया है, जिस पर आगे चलकर आइ.ए. रिचर्ड्स ने विस्तार से विचार किया है। यह सम्प्रेषण की बात लांजाइनस की विशिष्ट और मौलिक सूझ है।

लांजाइनस ने काव्य में औदात्त्य के सम्पादन के जो साधन वताये हैं, उनके साथ ही यह भी बताया है कि इनको लाने के साथ-साथ औदात्त्य के बाधक दोषों का परिहार भी आवश्यक है। ये दोष हैं, शब्दाडम्बर, बचकानापन या अनुचित वर्णन-विस्तार, भावाडम्बर, नवीनता दिखाने का प्रयत्न आदि। ये दोष तो सभी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में वर्जित हैं जिन पर लांजाइनस ने विस्तार से प्रकाश डाला है। ये दोष कवि में प्रतिभा न होने पर उसके दिखावे का ढोंग करने से उत्पन्न होते हैं।

लांजाइनस का औदात्त्य-सिद्धान्त, काव्य के समझने के कई मार्गों और अभिगमों (approaches) को प्रस्तुत करता है। साथ ही यह काव्य-समीक्षा की विविध कसौटियाँ भी देता है जिनमें सम्प्रेषण, कवि-प्रतिभा, अलंकार-योजना तथा काव्य की वह विशिष्टता है जिससे वह सबको, सर्वदा आनन्द देता है। उनके विचार से काव्य में उन्नयन की शक्ति होती है, यदि उसमें उदात्त-तत्त्व का समावेश हो।

उस प्राचीन काल में लांजाइनस का यह सिद्धान्त कवि और समीक्षक दोनों को प्रेरणा देनेवाला है। यह काव्य के महत्त्व और विशेषताओं पर विस्तार से प्रकाश डालता है। अतः अन्य प्राचीन सिद्धान्तों की अपेक्षा, यह काव्य-रचना के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है।

4. होरेस का औचित्य-सिद्धान्त

होरेस एक परम्परावादी और शास्त्रवादी विचारक था। उसने अपने ग्रन्थ *आर्स पोइटिका (Ars Poetica)* में काव्य और नाटक-सम्बन्धी नियमों का वर्णन किया है। ये उपदेशात्मक हैं। होरेस एक उत्कृष्ट कवि भी था। उसने काव्य-विधाओं के नियमों का वर्णन किया है जिनमें 'औचित्य'-तत्त्व की बातों पर विचार किया गया है। इसे प्रोप्राइटी (Propriety) कहा गया है। होरेस ने पहले अनुचित के हास्यास्पद रूप का वर्णन करते हुए कहा है कि सौन्दर्य में जो दोष होते हैं, वही काव्य और नाटक में अनुचित तत्त्व होते हैं। उन्हें दूर कर उचित की स्थापना करना ही रचना को सुन्दर बनाने की दिशा में प्रयास है। औचित्य-तत्त्व का इस प्रकार का वर्णन हमें पाश्चात्य-काव्य में अन्यन्त्र प्राप्त नहीं होता। होरेस ने नाटक के प्रसंग में औचित्य की स्थापना करते हुए, कई बातों में औचित्य का निरूपण किया है, ये निम्नांकित हैं—

1. विषय का औचित्य : नाटक के विषय के सम्बन्ध में उनका मत है कि वह परम्परागत भी हो सकता है और मौलिक भी। मौलिक या उत्पाद्य कथावस्तु के लिए आवश्यक है कि कथा के विभिन्न अंगों के बीच संगति और सामंजस्य हो। जो परिचित और परम्पराप्राप्त कथावस्तु होती है, उसमें भी अपने उद्देश्यानुसार संगति बैठाना अपेक्षित होता है। परन्तु जो कथावस्तु मौलिक और नितान्त नयी है, उसके प्रस्तुतीकरण में सामंजस्य और संगति आवश्यक है। जिन कथांशों की संगति न बैठती हो, उन्हें छोड़कर ही अन्यों की प्रभाव और उद्देश्य के अनुसार समायोजना करनी चाहिए।

2. चरित्रांकन का औचित्य : इस प्रसंग में होरेस का मत है कि चरित्रों का चित्रण, उनकी अवस्था, प्रकृति और प्रसंग के अनुरूप होना चाहिए। चरित्र-चित्रण में ऐतिहासिक पात्रों के लिए विशेष सावधानी रखनी चाहिए। युग और घटना के अनुसार उनकी वेशभूषा के औचित्य का निर्वाह करना चाहिए जिससे ऐतिहासिकता की पूर्ण रक्षा हो। इसी प्रकार बच्चों के चरित्र में बालसुलभ विशेषतायें, स्त्रियों के चरित्र में नारीसुलभ व्यवहार, युवा और वृद्ध-चरित्रों में उनकी अवस्था के अनुरूप उनकी वेशभूषा और व्यवहार दिखाना चाहिए। यदि चरित्रांकन में औचित्य का ध्यान न रखा गया, तो उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। प्रत्येक चरित्र में औचित्य का समावेश करते हुए उसकी विशिष्टता की पहचान भी बनाये रखना आवश्यक है। इसके न होने से पात्र कठपुतली जैसे लगेंगे।

3. अभिनय का औचित्य : होरेस का मत है कि अभिनय इस प्रकार का होना चाहिए कि अभिनेता सजीव जीवन का यथार्थ पात्र लगे। साथ ही उसका प्रभाव भी दर्शकों पर पड़ना चाहिए। अभिनेता का अभिनय ऐसा हो कि अभिनीत भाव का सही प्रभाव पड़े। हास्य का प्रभाव हँसकर नहीं डाला जा सकता, वरन् अभिनय द्वारा दर्शकों में हँसी पैदा करना ही सफल अभिनय होता है। पात्र और परिस्थिति के अनुरूप ही अभिनय प्रभावकारी होता है।

4. घटना का औचित्य : घटनाओं का संयोजन कथानक और उसके उद्देश्य के हिसाब से उचित रीति से होना चाहिए। उनके क्रम में भी संगति आवश्यक है। होरेस का विचार है कि नाटकों में सभी प्रकार की घटनायें नहीं दिखायी जा सकतीं, अतः वध और सज्जन व्यक्तियों पर संकट तथा पापियों का उत्थान और उनकी समृद्धि जैसी घटनायें मंच पर दिखाना वर्जित है। घटनाओं का चयन और संयोजन विषयवस्तु के अनुरूप होना चाहिए। यही सब बातें घटना के औचित्य में हैं।

5. शब्द-चयन में औचित्य : शब्द-चयन सरल, सुगम, मुहावरे के लिए उपयुक्त, चुटीला और सबके द्वारा तुरन्त समझा जानेवाला होना चाहिए। कठिन शब्दावली के प्रयोग से पात्रों की बातचीत, दर्शकों की समझ में न आने से, नाटक प्रभावहीन हो जायेगा। होरेस अधिकांशतः परम्परा से चली आती प्रचलित भाषा के व्यवहार के पक्षधर हैं, पर उनके विचार से आवश्यकतानुसार नयी शब्दावली का भी प्रयोग किया जा सकता है। हाँ, उसका औचित्य होना चाहिए। भाषा में नयापन समय के साथ आता रहता है, नयी चेतना के साथ नयी भाषा भी बनती है, वह परिवर्तनशील है, अतः उसका बहिष्कार नहीं किया जा सकता। विवेकपूर्वक नये शब्दों का प्रयोग अभीष्ट है।

6. भाषा-शैली : नाटक की भाषा और उसकी शैली, विषय के अनुरूप हो। वह चरित्रों के मनोभावों को व्यक्त करनेवाली भी हो। इतना ही नहीं, उस भाषा-शैली या संवाद की रचना बालक, युवा, वृद्ध, नारी के अनुसार स्वाभाविक होनी चाहिए। इसी प्रकार भाषा-शैली या शब्द-विधान न तो अस्पष्ट हो, न संक्षिप्त हो, न वागाडम्बर हो और न इतना सरल हो कि वह रसहीन हो जाय, न क्लिष्ट हो कि समझ ही में न आ पाये। पूरी शब्द-योजना और भाषा में होरेस ने उसके उद्देश्य, प्रसंग, चरित्र और भाव के लिए उपयुक्तता पर बल दिया है। नाटक के सभी अंगों के सम्पादन में औचित्य का ध्यान होरेस का मुख्य लक्ष्य है।

7. छन्द-विधान का औचित्य : नाटक के अतिरिक्त काव्य-ग्रन्थों के लिए होरेस ने अभिनय-औचित्य के स्थान पर छन्द-योजना का औचित्य आवश्यक माना है जिसमें अलग-अलग भाव के लिए उपयुक्त छन्द आवश्यक माना गया है। प्रत्येक छन्द प्रत्येक भाव के लिए उपयुक्त नहीं माना जा सकता।

उन्होंने अपने सिद्धान्त-सम्बन्धी विचारों के उद्देश्य के सम्बन्ध में कहा है कि उसका उद्देश्य, काव्य और नाटक को प्रभावशाली और कान्तिमय बनाना है। जो बातें उन्होंने कही हैं, वे कवि और नाटककार को अपनी रचना-विषयक सावधानी प्रदान करनेवाली हैं जिससे उनकी रचना प्रभावी और कालजयी बन सके। उनके विचार में समाज के भीतर कवि सबसे अधिक विवेकशील, संतुलित, संयमी होता है। उसकी संवेदना व्यापक और भाव सामाजिक होते हैं। अतः उनका उद्देश्य यही है कि अपने विचारों के द्वारा वे लेखक को उसके कर्त्तव्य और दायित्व के प्रति सचेत कर दें। यद्यपि उनके सिद्धान्त नितान्त मौलिक नहीं हैं, फिर भी उनका महत्त्व है। उनके विचारों

में यूनानी चिन्तन का प्रभाव है। उनकी स्थापनायें शास्त्रवादी और परम्परावादी मानी जा सकती हैं।

5. क्रोचे का अभिव्यंजना-सिद्धान्त

क्रोचे एक प्रतिभासम्पन्न इटैलियन विचारक थे जिनका समय सन् 1866 से 1942 ई. तक था। इन्होंने काव्य और कला-सर्जना का एक नया दर्शन प्रस्तुत किया जिसे अभिव्यंजना-सिद्धान्त या अभिव्यंजनावाद कहते हैं। इसका प्रतिपादन उन्होंने अपने ग्रन्थ *एस्थेटिका (Esthetica)* में किया, जो सौन्दर्यशास्त्र सिद्धान्त का एक नया चिन्तन प्रस्तुत करता है। इसे *थियरी ऑफ् एस्थेटिक* नाम से अंग्रेजी में रूपान्तरित किया गया है। इसका प्रकाशन सन् 1901 ई. में हुआ जिसका 20वीं शती के पूर्वार्द्ध के दशकों के काव्य और समीक्षा के क्षेत्र पर व्यापक प्रभाव पड़ा। क्रोचे का ग्रन्थ यों तो सौन्दर्यशास्त्र का ग्रन्थ है, पर इससे कला और काव्य की देख-परख की एक नयी दृष्टि प्राप्त होती है। इसमें भी सन्देह नहीं कि क्रोचे ने इसका प्रतिपादन अपने समय के पूर्व सभी काव्यशास्त्रीय और सौन्दर्यशास्त्रीय दर्शनों का अध्ययन करके किया तथा इसमें बड़े-बड़े विचारकों, जैसे बौमगार्टन, काण्ट, हीगेल आदि के विचारों का समावेश किया। उन्होंने न तो कला-सम्बन्धी केवल वस्तुवादी मान्यताओं को स्वीकार किया है और न शुद्ध रूपवादी मान्यताओं को ही। उनके विचार से वस्तु और रूप घुल-मिलकर एक हो जाते हैं, तब कला का जन्म होता है। इसका उद्भव सहजज्ञान था इन्ट्यूशन से होता है जिसकी अभिव्यंजना ही कला है। क्रोचे के इस सिद्धान्त की व्यापक प्रतिक्रियायें हुईं। अनेक शंकायें और प्रश्न उठाये गये तथा अनेक भ्रान्त स्थापनायें भी की गयीं। इन सबका उत्तर क्रोचे ने अपने लिखित भाषणों में दिया है जो 'एसेन्स ऑफ् एस्थेटिक' (Essence of Aesthetic) के रूप में 'डगलस ऐंसिली' के द्वारा अनुवादित कर प्रकाशित किये गये हैं और जो 'टेक्साज़ के राइस इंस्टीट्यूट ऑफ् होस्टन' (Rice Institute of Houston of Texas) के उद्घाटन-व्याख्यान के लिए सन् 1912 में लिखे गये थे। परन्तु उस समय क्रोचे, इटली के मन्त्रिमण्डल के सदस्य और शिक्षा-मन्त्री थे और अतिशय व्यस्तता के कारण जा नहीं पाये थे। इस प्रकार उनके अभिव्यंजना-सिद्धान्त का भलीभाँति प्रतिपादन इन दोनों ग्रन्थों में हुआ। 'एसेन्स ऑफ् एस्थेटिक' में चार व्याख्यान—कला क्या है, कला के सम्बन्ध में पूर्वाग्रह, मानवात्मा और मानव-समाज में कला का स्थान तथा आलोचना और कला का इतिहास—विषयों पर है।

क्रोचे का अभिव्यंजना-सिद्धान्त साहित्य या कला-समीक्षा की कसौटी प्रस्तुत नहीं करता, वरन् यह कला की उत्पत्ति या सृजन-प्रक्रिया का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। कुछ लोगों ने भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिष्ठित कुन्तक के वक्रोक्तिवाद से इसकी तुलना भी की है; पर दोनों नितान्त भिन्न भूमियों पर अवस्थित हैं। कुन्तक जहाँ रचित कविता के मूल्यांकन की कसौटी प्रस्तुत करते हैं और वक्रोक्ति के विविध रूपों की चर्चा करते हैं, वहाँ क्रोचे कला-सृजन की प्रक्रिया या मौलिक विश्लेषण करते हैं। काव्य या कला-

रचना किस कोटि की है, इससे क्रोचे के सिद्धान्त का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। काव्य या कला-रचना कैसे होती है और उसका स्वरूप क्या है? इसका उत्तर ही उसका प्रमुख प्रतिपाद्य है।

क्रोचे के विचार से ज्ञान के दो रूप हैं—एक सहजज्ञान-प्रज्ञा या प्रतिभा और दूसरा बौद्धिक या तर्कलब्ध ज्ञान या प्रमा। प्रथम कल्पना द्वारा प्राप्त होता है और दूसरा तर्क या विचार द्वारा। सहज ज्ञान (Intuition) का सम्बन्ध काव्य और कलाओं से है, जबकि बौद्धिक या तर्क-लब्ध ज्ञान (Intellectual Knowledge) का सम्बन्ध शास्त्र, विज्ञान और दर्शन से है, जबकि बौद्धिक ज्ञान या दर्शन का प्रतिपाद्य कोई निराकार रूप-हीन तत्त्व, नियम या सिद्धान्त होता है। भारतीय दृष्टिकोण से कहें, तो सहजज्ञान सगुण साकार से सम्बद्ध है और बौद्धिक ज्ञान निराकार से। सहजज्ञान उतना ही होता है जितना प्रकट या अभिव्यंजित है—न उससे कम और न उससे ज्यादा। सहजज्ञान मन पर पड़े प्रभाव के कल्पनाजनित बिम्बों के रूप में अभिव्यक्तिरूप होता है। यही अभिव्यंजना ही कला है। अतः कला सहजानुभूति है। इस प्रकार अभिव्यंजना सिद्धान्त, कलावाद, बिम्बवाद, प्रभाववाद आदि का प्रेरक है।

क्रोचे ने अपने ग्रन्थ *सौन्दर्यशास्त्र का सिद्धान्त (Extetica or theory of Aesthetics)* में तत्त्व (Matter) या विषयवस्तु और रूप (Form) दोनों पर ही विचार किया है। उन्होंने यह स्थापना की है कि सौन्दर्यसत्ता के क्षेत्र में रूप ही महत्त्व का है, तत्त्व नहीं। उनका मत है कि वास्तविक तत्त्वज्ञान की अपेक्षा सहजज्ञान भिन्न वस्तु है। कला ज्ञान भी है और रूप भी, अतः वह दृष्टिगोचर तत्त्व से और अनुभूति या मानसिक तत्त्व से भी भिन्न है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि—

"Since Art is knowledge and form, it doesnot belong to the world of feeling and of psychic material. The reason why so many aestheticians have so often insisted that art is appearance (Schein) is precisely, because they felt the necessity of distinguishing it from the more complex fact of perception by maintaining its pure intuitivity. For the same reason, it has been claimed that art is sentiment. In fact, if the concept or content of art and historical reality as such be excluded there remains no other content than reality apprehended in all its ingenious-ness and immediateness in vital effort, in sentiment, that is to say pure intuition."[1]

इस कथन से यह स्पष्ट है कि क्रोचे के अनुसार सहज ज्ञान, वास्तव में भावात्मक ज्ञान है और कला भावाभिव्यक्ति है। भाव, अनुभूति मात्र नहीं, वरन् अनुभूति का कल्पनागत या स्मृत रूप है। इसकी स्थिति भी अभिव्यंजना की पूर्णता या सफल अभिव्यंजना-प्रक्रिया में देखी जा सकती है। क्रोचे के मत से अभिव्यंजना अखण्ड है और उसे विभिन्न वर्गों में विभक्त नहीं किया जा सकता।

---

1. Croce : *Theory of Aesthetic,* p. 29-30.

क्रोचे के मत से प्रभाव नहीं, वरन् प्रभाव की रूप-रचना कला है।[1] यही अभिव्यंजना है। व्यक्ति या वस्तु की रूप-सर्जना ही कलाकार का काम है, सामान्य गुण-विवेचन नहीं। उनके विचार से सहजज्ञान या अभिव्यंजना, ज्ञान की प्रथम सीढ़ी है तथा बुद्धिजन्य ज्ञान उसके बाद द्वितीय सीढ़ी। प्रथम, दूसरे के बिना रह सकता है; पर द्वितीय प्रथम के बिना नहीं रह सकता। इस सम्बन्ध में क्रोचे का कथन द्रष्टव्य है :

"The relation between intuitive knowledge or expression and intellectual knowledge or concept, between art and science; poetry and prose cannot be other-wise defined than by saying that it is one of the double degree. The first degree is the expression and the second the concept; the first can exist without the second, but the second cannot exist without the first. There exists poetry without prose, but not prose without poetry. Expression indeed is the first affirmative of human activity, poetry is. The maternal language of the human race, "the first men" were by nature sublime poets."[2]

क्रोचे की यह स्थापना कि कविता मानव-जाति की मातृभाषा है, कितनी मनोरम है। आदि मनुष्य की बोली लयात्मक और काव्यमय ही थी। आज भी जो आदिवासी अशिक्षित लोग हैं उनकी अभिव्यक्ति आवेशमय होती है। बच्चे भी जब पहले-पहले बोलते हैं, तब लयात्मक रूप में बिम्बमय शब्द बोलते हैं और थोड़े शब्दों में ही अपना भाव व्यक्त कर लेते हैं; क्योंकि उनकी अभिव्यंजना सहज ज्ञान की है, बौद्धिक नहीं।

क्रोचे का यह भी मत है कि सौन्दर्य सफल अभिव्यंजना है या केवल अभिव्यंजना है; क्योंकि जो सफल नहीं, वह अभिव्यंजना ही नहीं। इस प्रकार कुरूप या भद्दा असफल अभिव्यंजना है। जिनमें अभिव्यंजना असफल है उनमें भी गुण विद्यमान रहते हैं; परन्तु जो सफल अभिव्यंजना है, उसमें भी दोष होते हैं, यह क्रोचे को स्वीकार नहीं। उनके मतानुसार सुन्दर कृतियों की कोटियाँ नहीं होतीं। असुन्दर की ही कोटियाँ होती हैं। क्रोचे के ये विचार आदर्शवादी ही कहे जायेंगे। क्रोचे की यह भी स्थापना इसी प्रकार की है कि सभी मनुष्य कवि हैं, कुछ बड़े और कुछ छोटे।[3] जिनकी सहजानुभूति या अभिव्यंजना पूर्ण है, वे बड़े कवि हैं और जिनकी अपूर्ण है, वे छोटे।

उनके विचार से अभिव्यंजना, कला या काव्य एक सौन्दर्य-सृष्टि है। इस सृजन-प्रक्रिया की चार अवस्थाएँ हैं—प्रथम, कल्पना पर पड़ा प्रभाव, द्वितीय, उसका मानसिक रूपात्मक अथवा सौन्दर्यात्मक संश्लेषण या अभिव्यक्ति, तृतीय, सौन्दर्यानुभूति का आनन्द और चतुर्थ उसका शारीरिक क्रिया के रूप में रूपान्तरण जैसे ध्वनि, स्वर, गति, रेखा, शब्द के रूप में प्रकटीकरण। ये चारों अवस्थायें जिसकी सहजानुभूति के साथ निर्बाध रूप से पूर्ण होती हैं, वही बड़ा कवि या कलाकार है। अन्य कवि या

---

1. Croce : *Theory of Aesthetic*, p. 30.
2. वही, पृ. 43.
3. वही, पृ. 24.

कलाकारों में ये सभी अवस्थाएँ पूर्णता को प्राप्त नहीं होतीं, पर द्वितीय स्थिति तक तो सभी जाते हैं।[1]

प्रकृति के सम्बन्ध में भी क्रोचे की मान्यतायें विशिष्ट हैं। उनके मतानुसार प्रकृति उन्हीं के लिए सुन्दर है जो कलाकार या कवि की दृष्टि से देखते हैं।[2] यह मत हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशवदास से मिलता है जो मानते हैं कि प्रकृति उन्हीं को सुन्दर लगती है, जो कल्पना की दृष्टि से देखते हैं। कल्पना की दृष्टि के बिना प्रकृति का कोई अंग सुन्दर नहीं। कवि प्रकृति के स्वरूप को अपने दृष्टिकोण से विशेष प्रकार से प्रस्तुत करता है, तब उसमें सौन्दर्य की सत्ता आती है। प्रकृति प्रेरणा भी उसी को देती है, जो इस प्रकार सहजानुभूति या कल्पना द्वारा देखते हैं। क्रोचे के विचार से बाह्य पदार्थों का इतना ही महत्त्व है कि वे कल्पना में बिम्ब उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। प्रकृति का महत्त्व भी इसी रूप में है कि यह कल्पना में बिम्बों या छवियों की सृष्टि में सहायक है। इस दृष्टि से उसका कला के सृजन में महत्त्व है।

क्रोचे के विचार से काव्य या कला का प्रयोजन अभिव्यंजना मात्र में पूर्ण हो जाता है। उनके विचार से काव्य और कला एक ही कोटि की है। सौन्दर्य, व्यक्ति-कल्पना की वस्तु है और कवि या कलाकार अपने अन्तर्जगत् की वस्तु को ही प्रकाशित करता है, बाह्य वस्तु को नहीं। बाह्य वस्तु अन्तर्मन में आये बिना कला का रूप धारण ही नहीं कर सकती। बाह्य यथार्थ की महत्ता अन्तर्जगत् को प्रभावित करने में ही है। सौन्दर्य की सृष्टि अन्तस् में ही होती है। दूसरे लोग भी उसी वस्तु को सुन्दर मानते हैं जिसमें उनकी अन्तर्भावनायें अभिव्यक्त की गयी हों। कला की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु कला के लिए उपयुक्त है। कला में अच्छे-बुरे का प्रश्न नहीं उठता।

कला या अभिव्यंजना एक मानसिक क्रिया है—यह एक आध्यात्मिक आवश्यकता है। इसीलिए क्रोचे ने इसे सहजानुभूति या सहजज्ञान के रूप में स्वीकार किया है। क्रोचे ने कला को मानव की एक सहज मानसिक क्रिया के रूप में मान्यता देकर उसकी अखण्डता और शाश्वत सत्ता को प्रमाणित किया है। परन्तु पूर्ण कला जो शाश्वत अखण्ड वस्तु है, बहुत दुर्लभ है। इस प्रकार क्रोचे ने अभिव्यंजना-सिद्धान्त के द्वारा काव्य और कला को देखने-परखने की एक दृष्टि प्रदान की है।

क्रोचे के अभिव्यंजना-सिद्धान्त पर जो टीका-टिप्पणी, प्रश्न और भ्रान्तियाँ सामने आयीं, उनके समाधान के लिए उन्होंने अपने चार व्याख्यान लिखे जो सौन्दर्यशास्त्र के मूल तत्त्व या 'एसेन्स ऑफ् एस्थेटिक' में प्रकाशित हुए जिसमें उन्होंने अभिव्यंजना या सहजज्ञान के सिद्धान्त को और स्पष्ट तथा प्रमाणित कर दिया है। उन्होंने इसके एक व्याख्यान—कला क्या है—में स्थापित किया है कि कला अन्तर्दृष्टि या सहजज्ञान है। कलाकार एक बिम्ब की सृष्टि करता है तथा एक दृष्टि भी देता है। जो उस कला का आनन्द लेता है, वह उसी दृष्टि से देखता है और अपने भीतर उस बिम्ब की पुनः सृष्टि करता है।

---

1. Croce : *Theory of Aesthetic*, p. 156.
2. वही, पृ. 10.

क्रोचे यह भी कहते हैं कि भौतिक तथ्यों में वास्तविकता नहीं होती और कला चरम सत्य या वास्तविकता है जिसकी साधना के लिए लोग पूरा जीवन लगा देते हैं और जिससे उन्हें दिव्य आनन्द प्राप्त होता है। यह वस्तु भौतिक तथ्य नहीं हो सकती, जो कि अवास्तविक है।[1] अतः कला सहजज्ञान है, इसलिए वह वास्तविक है और भौतिक तथ्य नहीं है। कला को हम, उसके विभिन्न भागों को अलग-अलग नोचकर, उनमें नहीं देख सकते। कविता में जब हम शब्द गिनने लगते हैं और उनमें मात्रा, स्वर, व्यंजन आदि का विश्लेषण करते हैं, तब हम कविता का रस नहीं ले रहे होते। यही बात मूर्ति, चित्र या संगीत के लिए भी सत्य है। इसी प्रकार कला उपयोगी वस्तु या कार्य भी नहीं है, पीड़ा या सुख से भी इसका सम्बन्ध नहीं है। पानी पीने, भोजन करने, खुली हवा में घूमने, मद्यपान आदि, तथा धन प्राप्त होने, पुत्र उत्पन्न होने आदि भौतिक कार्यों के सुख कलात्मक नहीं कहे जा सकते। कला, एक नैतिक कार्य भी नहीं कहा जा सकता। नैतिकता, ईमानदारी, सामाजिक भलाई आदि कला नहीं है, क्योंकि नैतिक, ईमानदार, और समाज-सुधारक अनिवार्यतः कलाकार नहीं होते। कला को नैतिक-अनैतिक, भला-बुरा कहना ऐसा ही है जैसे एक त्रिभुज को नैतिक आदि कहना।[2]

आदर्श रूप या सूझ (जो सहजज्ञान को विचार से, कला को विज्ञान से, दर्शन से और इतिहास से अलग करती है) कला की गुणवत्ता और विशेषता है। जहाँ उसमें विचार, निर्णय आदि विकसित किये जाने लगते हैं कि वहीं कला मुरझाने लगती है। कलाकार जब आलोचक बन जाता है या कला-रसिक जब विचारक बन जाता है, तब उनके लिए कला मूर्च्छित हो जाती है।[3]

कला सहज ज्ञान है, इसका यही तात्पर्य है कि कला, कल्पना का कार्य है। कलाकृतियाँ, महान् कलाकारों की वासना से उगनेवाले अमर फूल हैं। वास्तविक कलाकृति में हम जिस बात की सराहना करते हैं वह है परिपूर्ण कल्पित रूप जो आत्मा किसी स्थिति में धारण करती है। इसी को हम कलाकृति की जीवन्तता, समन्वित सामंजस्य और परिपूर्णता कहते हैं। कलात्मक सहजानुभूति, प्रगीतात्मक होती है। अतः कला की परिभाषा पूर्ण हो जाती है, जब हम यह कहते हैं कि कला सहज ज्ञान है।[4]

---

1. "That Physical facts do not possess reality and that art to which many people devote their whole lives and which fills all with a divine joy, is supremely real, thus it cannot be a physical fact which is something unreal."
—Croce : *The Essence of Aesthetic*, p. 9.
2. Croce : *The Essence of Aesthetic*, p. 13-14.
3. वही, पृ. 17-18.
4. Art is perfectly defined when simply defined as intuition.
—वही, पृ. 32-33.

क्रोचे के विचार से कला के वस्तु और रूप में स्पष्ट अन्तर करना चाहिए, परन्तु उन्हें अलग-अलग कलात्मक विशेषण नहीं देना चाहिए; क्योंकि उनका सम्बन्ध ही कलात्मक है—अर्थात् उनका ऐक्य-निर्जीव निराकार ऐक्य नहीं; वरन् जीवन्त ठोस ऐक्य, जो समन्वय-रूप है, वही कला है। कला, वास्तव में सौन्दर्यात्मक समन्विति है। कहा जा सकता है कि बिम्ब के बिना अनुभूति अन्धी है और अनुभूति के बिना बिम्ब रिक्त या खोखला है। कलात्मक भावना के लिए अनुभूति और बिम्ब, दोनों की समन्विति के बाहर सत्ता नहीं रखते। उनकी सत्ता जो बाहर होगी वह कलात्मक नहीं, वरन् ज्ञान के क्षेत्र में राग, द्वेष, घृणा, इच्छा आदि के रूप में अनुभूति तथा जड़, नीरस रूप में बिम्ब रह जायेंगे।[1] यह उपेक्षणीय है कि हम कला को वस्तु के रूप में प्रस्तुत करें या रूप-रचना के रूप में, यदि हम यह बात स्वीकार करते हैं कि वस्तु रूपमय है और रूप वस्तुमय, तथा अनुभूति चित्रित है और चित्र, अनुभूत हो रहा है। सहजानुभूति का सौन्दर्य, वास्तव में रूप का सौन्दर्य ही है।[2]

वस्तु और रूप के समान ही सहजानुभूति और अभिव्यंजना को भी अलग-अलग देखा जाता है। ऐसी दृष्टि में अनुभूति का आभास, मनुष्य, पशुओं, वृक्षों, भूखण्डों के बिम्ब और चित्रण एक तरफ रखे जाते हैं और ध्वनि, शब्द, पंक्ति, रंग आदि दूसरी तरफ। प्रथम को भीतरी और दूसरे को बाहरी कहा जाता है। परन्तु यह सत्य नहीं है। पहला, कला का रूप है और दूसरा, प्रविधि या तकनीक है।[3] वास्तविकता तो यह है कि हम सहजानुभूति को केवल अभिव्यक्ति रूप में ही जान सकते हैं। विचार भी जब तक शब्दों में अभिव्यक्त नहीं होता, हम उसे नहीं जानते; संगीत का बिम्ब तभी बनता है जब वह ध्वनित होता है, चित्र-बिम्ब तभी बनता है, जब वह रँगा जाता है। अतः हम सहजानुभूति या कला को तभी जानते हैं, जब वह अभिव्यक्त होती है।[4] बिना अभिव्यंजना के इनकी सत्ता ही नहीं है। इसी प्रकार कविता, उन शब्दों के रूप में ही जन्म लेती है, जो लयबद्ध और छन्दोमय है।[5] यह असम्भावना है कि जो अपने को अभिव्यक्त न कर सकता हो, फिर भी वह महान् कलाकार हो।

---

1. "Content and form must clearly be distinguished in art, but must not be separately qualified as artistic, precisely because their relation is only artistic—that is, their unity, concrete and living which is that of synthesis and art is true aesthetic, synthesis a priori of feeling and image in intuition. It may be repeated that feeling without image is blind and image without feeling is Void. Feeling and image do not exist for the artistic spirit outside the synthesis." —Croce : *Essence of Aesthetic,* p. 39.
2. Croce : *Essence of Aesthetic,* p. 40.
3. वही, पृ. 41.
4. वही, पृ. 42-43.
5. Poetry is born as those words that rhythm and metre.

—वही, पृ. 44.

6. टी.एस. इलियट का परम्परा एवं इतिहास-बोध का सिद्धान्त

परम्परा के महत्त्व और इतिहास-बोध के सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक टी.एस. इलियट हैं। वे प्राचीन मान्यताओं की पुनःस्थापना करनेवाले चिन्तक थे। इस दृष्टि से इनके आदर्श समीक्षक अरस्तू थे। इनके पूर्व जो व्यक्तिवाद और स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं, उनका इन्होंने विरोध किया। उन प्रवृत्तियों में परम्परा का विरोध कर, स्वच्छन्दतावादी मूल्यों का सहारा लेकर व्यक्तिवादी चेतना को ही महत्त्व देने का आग्रह था जिसका तात्पर्य यह होता है कि पुराना या परम्परागत जो भी है वह आज हमारे लिए व्यर्थ है। टी.एस. इलियट ने इन मान्यताओं पर कड़ा प्रहार किया। उन्होंने अपने प्रसिद्ध लेख "परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा" (Tradition and Individual Talent) में अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनकी मान्यता है कि कलाकार या कवि की प्रगति, परम्परा के विकास तथा निर्वैयक्तीकरण से ही होतीं है। अपने इस सिद्धान्त के समर्थन में उन्होंने सन् 1920 में कई कविताएँ प्रकाशित कीं।

परम्परा के सम्बन्ध में इलियट कहते हैं कि कभी-कभी परम्परा का प्रयोग भ्रामक अर्थ में होता है। परम्परा का अर्थ यह नहीं है कि पूर्ववर्ती नियमों और प्रवृत्तियों का अन्धानुकरण किया जाये, वरन् परम्परा का अर्थ व्यापक है। परम्परा की वास्तविक भावना को प्राप्त करने के लिए साहित्यकार को कठिन साधना करनी पड़ती है। परम्परा वास्तव में ऐतिहासिक चेतना या इतिहास-बोध है। इलियट के मतानुसार साहित्य एक अविच्छिन्न एवं अखण्ड धारा है। अतीत और वर्तमान उसके दो छोर हैं जो एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। अतएव परम्परा का एक स्वरूप तो अतीत में प्रवाहित होता है और दूसरा वर्तमान सन्दर्भों और परिवेशों में अनुस्यूत रहता है। कवि की चेतना में जब समाज, जाति और देश की अखण्ड भावना का एक सतत विकासशील सत्य प्रकाशित हो जाता है, तब अतीत और वर्तमान का केवल सामंजस्य ही स्थापित नहीं होता, वरन् वर्तमान के सन्दर्भ में अतीत के मूल्यांकन के नये सूत्र भी प्राप्त होते हैं।

इलियट ने "क्लासिक" या महान् काव्य की रचना के लिए अनुभव और ज्ञान की परिपक्वता या प्रौढ़ता को आवश्यक माना है। यह परिपक्वता तीन बातों से उपलब्ध होती हैं—1. मस्तिष्क की प्रौढ़ता, 2. शील की प्रौढ़ता और 3. भाषा-शैली की प्रौढ़ता। मस्तिष्क की प्रौढ़ता के लिए ऐतिहासिक ज्ञान और ऐतिहासिक चेतना या इतिहास-बोध आवश्यक है जिसका तात्पर्य यह है कि कवि को अपने देश, और जाति के इतिहास के साथ-साथ अन्य सभ्य जातियों के इतिहास का ज्ञान भी होना चाहिए। शील की प्रौढ़ता का तात्पर्य है कि कवि के सामने आदर्श, उदात्त और उच्च चरित्रों के गुणों का स्वरूप स्पष्ट हो। इसके आधार पर ही कवि आदर्श चरित्रों का निर्माण कर सकता है। साथ ही साथ भाषा-शैली की प्रौढ़ता के लिए यह आवश्यक है कि पूर्ववर्ती महान् कवियों की रचनाओं की भाषा का भलीभाँति अध्ययन किया जाय। उपर्युक्त तीनों गुणों के लिए परम्परा का अच्छा ज्ञान आवश्यक है।

महान् काव्य और क्लासिक या अभिजात्यवादी काव्य में अन्तर है। क्लासिक रचना वह होती है जिसमें मानव-जाति के किसी समाज या समुदाय की पूर्ण शक्ति निहित हो। उसमें सार्वभौम व्यापकता की विशेषताओं का समावेश हो। इलियट के विचार से महान् कृति केवल एक विद्या में उस पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है कि उसके विकास की सम्भावनाओं को समाप्त कर देती है; जबकि क्लासिक या अभिजात कृति वह है जो केवल विद्या को ही नहीं, वरन् भाषा को भी पराकाष्ठा तक पहुँचाकर उसकी विकासगत सम्भावनाओं को समाप्त कर देती है। क्लासिक या अभिजात कवि के लिए मस्तिष्क की प्रौढ़ता, शीलगुणों की प्रौढ़ता, भाषा-शैली की प्रौढ़ता तथा दृष्टिकोण में सार्वभौमता अनिवार्य है। संकीर्णता और सीमित धार्मिक चेतना उसके लिए अग्राह्य हैं। इलियट का अभिजात्यवाद या क्लासिकवाद तथा तटस्थता का सिद्धान्त, पूर्व से चले आते स्वच्छन्दतावाद, व्यक्तिवाद और आत्माभिव्यक्तिवाद के प्रबल प्रभाव के विरोध में था। इलियट ने प्रभाववाद को भी अस्वीकार किया।

इस प्रकार इलियट के विचार से परम्परा का काव्य-रचना में महत्त्वपूर्ण स्थान है। पर परम्परा का अन्धानुकरण नहीं, वरन् उसका वास्तविक बोध आवश्यक है। इतिहास-बोध से उनका तात्पर्य अतीत को वर्तमान में देखने से है। वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में अतीत का इतिहास-बोध काव्य में नयी दृष्टि भरता है। वास्तव में परम्परा के आलोक में साहित्यकार को यह जानकारी हो जाती है कि उसे क्या करना है तथा उसकी कृति का मूल्य क्या है? परम्परा का ज्ञान इसलिए भी आवश्यक है। उससे हम यह जान लेते हैं कि उसका कौन-सा अंश ग्राह्य है तथा कौन-सा त्याज्य। परम्परा के किस अंश के प्रति विद्रोह करना चाहिए, यह विवेक भी परम्परा के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार अतीत को वर्तमान में देखने का या इतिहास-बोध का इलियट का सिद्धान्त, एक मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

इलियट के अनुसार परम्परा और इतिहास-बोध, काव्य का आधार बनता है। उनके समस्त काव्य-चिन्तन का प्रस्थान-बिन्दु भी यही है। काव्य और परम्परा के वांछनीय और अनिवार्य सम्बन्ध पर उन्होंने अपने निबन्ध 'परम्परा और वैयक्तिक-प्रतिभा' (Tradition and Individual Talent) में विस्तार से प्रकाश डाला है। इलियट वास्तव में परम्परा को ही संस्कृति के रूप में ग्रहण करते हैं। यह परम्परा किसी विशिष्ट जाति एवं समाज की समग्र सांस्कृतिक विरासत है। संस्कृति समाज के जीवन का एक विशिष्ट रूप या ढंग है, जो पूरे समाज के विचारों और रीति-रिवाजों को स्पष्ट करती है। वह अनेक रूपों में होती हुई भी समग्रता में एक है। इसी के परिज्ञान से काव्य के अन्तर्गत कवि विभिन्नताओं का समाहार कर अनेकता में एकता की स्थापना करता है। इससे कलाकार और कवि एक समान लक्ष्य और इतिहास-बोध के सूत्र में बँध जाते हैं।[1]

---

1. T.S. Eliot : *Selected Essays*, p. 24.

इस सम्बन्ध में इलियट की एक अन्य महत्त्वपूर्ण स्थापना यह है कि समस्त साहित्य अखण्ड है, उसमें परम्परा की अखण्ड और अबाध अभिव्यक्ति होती रहती है; अतः विशिष्ट व्यक्ति अथवा काल के साहित्य का विशेष महत्त्व नहीं। परम्परा के भीतर अतीत-बोध भी है और वर्तमान-बोध भी। वह शाश्वत होते हुए भी परिवर्तनशील है। उसकी गतिमय धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहती है तथा जातीय और सामाजिक जीवन के उत्कृष्ट रूपों को सँजोती रहती है। जीवन के सामान्य और महत्त्वहीन अंश छूटते जाते हैं और नष्ट होते रहते हैं। इसलिए श्रेष्ठ काव्य की रचना के लिए यह आवश्यक है कि कवि को समाज और देश की अखण्ड चेतना या परम्परा का ज्ञान हो। इसके विना, इलियट के विचार से अभिजात्य या उत्कृष्ट काव्य की सर्जना हो ही नहीं सकती। इलियट की दृष्टि से परम्परा कोई जड़ वस्तु नहीं, वह गतिमान् और परिवर्तनशील है, अतः उसमें नवीनता बराबर आती रहती हैं। परम्परा की इस गतिशीलता को समझने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान को अतीत के सन्दर्भ में और अतीत को वर्तमान के सन्दर्भ में देखा जाय। वर्तमान और अतीत को सांस्कृतिक प्रवाह के रूप में देखने के लिए बड़ी निष्ठा और कठिन परिश्रम की आवश्यकता होती है। उनका यह भी आग्रह है कि परिवर्तित युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में, काव्य में जो नवीनता लायी जाये, वह जातीय जीवन और परम्परा के अनुरूप हो। विजातीय जीवन और परम्परा का आरोपण, नवीनता को नकल और अग्राह्य बना देगा।

इलियट के विचार से परम्परा या इतिहास-बोध कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है। अतः कवि इस मूल्यवान् के लिए जब वैयक्तिक अनुभूतियों का समर्पण करता है;[1] तभी उसका काव्य उत्कृष्ट हो सकता है। इसी वैयक्तिकता के समर्पण के आधार पर ही इलियट का दूसरा काव्य-सिद्धान्त खड़ा है जिसे "निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त" कहा जाता है।

7. इलियट का निर्वैयक्तिकता-सिद्धान्त

टी.एस. इलियट का निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त अपने भीतर, भारतीय रस-सिद्धान्त के "साधारणीकरण" को समेटे है जिसमें कलाकार, नाटककार और अभिनेता के कौशल से व्यक्तिगतभाव, सामान्य सर्वसाधारण के भावों में बदल जाते हैं। भरतसूत्र के व्याख्याकार भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने, इसमें मानसिक प्रक्रिया का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। टी.एस. इलियट, एज़रा पाउण्ड के विचारों से प्रभावित थे, जो यह मानते थे कि कवि को वैज्ञानिक के समान निर्वैयक्तिक या इम्पर्सनल (Impersonal) होना चाहिए। इलियट का यह सिद्धान्त उनके "परम्परा या इतिहास-बोध" के सिद्धान्त का विरोधी नहीं है; वरन् उसी का विकास है।

---

1. "What happens is a continual surrender of himself, as he is at the moment to something, which is more valuable. The process of an art is a continual selfsacrifice, a continual extinction of personality."—T.S. Eliot : *Selected Essays : Tradition and Individual Talent*, p. 25. (1963)

उनका मत है कि कवि अतीत बोध या परम्परा को अर्जित कर उसे आधुनिक बोध के परिप्रेक्ष्य में परिवर्तित और विकसित करता है। इस क्रम में वह अपने व्यक्तित्व को उसके प्रति पूर्ण समर्पित कर देता है। उसके व्यक्तिगत भाव सार्वभौम भावों में रूपान्तरित होकर अभिव्यक्त होते हैं। इस स्थिति में कविता निजी या व्यक्तिगत भावों का प्रकाशन न होकर, उनसे पलायन है। यही काव्य में निर्वैयक्तिकता की सिद्धि है। काव्य में कवि के निजी भावों या प्रभावों की अभिव्यक्ति नहीं होती, वरन् वह जातीय जीवन के प्रभावों की अभिव्यक्ति होती है। उनके विचार से यदि कोई कवि अपनी कविता में निजी सुख या दुःख-दर्द की अभिव्यक्ति करता है, तो वह काव्य के महान् उद्देश्य से गिर जाता है।

निर्वैयक्तिकता के सम्पादन की स्थिति को स्पष्ट करते हुए इलियट ने "वस्तुनिष्ठ पारस्परिकता" (Objective-Corelative) का सूत्र निकाला है। उनका मत है कि किसी मनोभाव को कला के रूप में अभिव्यक्त करने का एक यही ढंग है कि "वस्तुनिष्ठ पारस्परिकता" की खोज की जाये। इसका तात्पर्य यह है कि मनोभाव का निर्माण करनेवाली वस्तुयें, जैसे कोई पदार्थ-समूह, परिस्थिति, घटना-शृंखला जैसे ही प्रस्तुत की जाये, ऐन्द्रिक अनुभूति में तिरोहित होकर, वह तुरन्त मनोभाव को जाग्रत् कर दें।[1] इलियट के इस "वस्तुनिष्ठ पारस्परिकता" की काफी चर्चा रही। इससे कृति की महत्ता स्थापित होती है। इलियट इसे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कविता एक ऐसी वाचिक संरचना होती है जिसके माध्यम से उन मनोभावों का सम्प्रेषण होता है, जो कवि को अभीष्ट है। कवि, क्योंकि अपने मनोभावों को सीधे पाठक तक उसी तीव्रता के साथ नहीं पहुँचा सकता, अतः वह किसी प्रकार के माध्यम का सहारा लेता है—यही वस्तुओं, स्थितियों और घटना-शृंखला के रूप में आता है और इसी माध्यम के कारण, कवि जो कुछ कहना चाहता है, वह निजी न रहकर, वस्तुनिष्ठ हो जाता है। यह वस्तुनिष्ठ पारस्परिकता का सिद्धान्त, फ्रान्स के प्रतीकवादी साहित्य-चिन्तकों से प्रभावित है, जो कवि और कविता के पारस्परिक अविच्छिन्न सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका मत है कि कवि अपनी कविता के माध्यम से भावों को सीधे अभिव्यक्त नहीं करता, वरन् प्रतीकों के माध्यम से उन्हें जाग्रत् करता है।

इलियट का यह भी विचार है कि कविता या कृति का अपना अलग जीवन होता है। उसके अंग-प्रत्यंग, भौतिक शरीर के अंगों से अलग होते हैं। इतना ही नहीं, कविता में प्राप्त अनुभूति, मनोभाव और दृष्टि, कवि के मन की अनुभूति, मनोभाव और दृष्टि से काफी भिन्न होती है।[2] इतना ही नहीं, क्योंकि इलियट व्यक्तिवाद

1. Eliot : *Selected Essays*, p. 124-25.
2. "We can only say that a poem, in some sense, has its own life, that its parts form something quite different from a body of neatly ordered biographical data; that the feeling, or emotion or vision, resulting from the poem, is something different from the feeling or emotion or vision in the mind of the poet."—*The Sacred Wood*, p. 10.

और रोमान्सवाद या स्वच्छन्दतावाद के विरुद्ध थे, उन्होंने कवि के व्यक्तित्व को भी कविता से असम्पृक्त माना है। उनका कहना है कि कवि अपने व्यक्तित्व को नहीं, एक माध्यम को अभिव्यक्त करता है जिसमें उसके अनुभव और प्रभाव एक विलक्षण एवं अप्रत्याशित ढंग से संयुक्त हो जाते हैं।[1] जो प्रभाव और अनुभव मनुष्य के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं, वे कविता में स्थान पायें यह आवश्यक नहीं और जो कविता में महत्त्वपूर्ण होकर आये हैं, वे मनुष्य और उसके व्यक्तित्व में नितान्त उपेक्षणीय हो सकते हैं।

इलियट की यह निश्चित मान्यता है कि कला में अभिव्यक्त भाव निर्वैयक्तिक होते हैं और कवि अपने को कृति के प्रति समर्पित किये बिना निर्वैयक्तिक हो ही नहीं सकता। कविता मनोभावों की स्वच्छन्दता नहीं है, वरन् उनसे पलायन है। वह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, वरन् व्यक्तित्व से पलायन है।[2] इलियट का पहले यह विचार था कि कवि कविता नहीं लिखता, वरन् कविता स्वयं कवि के माध्यम से प्रकट होती है। यह विचार प्लेटो से प्रभावित था। बाद में उन्होंने इसमें परिवर्तन किया। उन्होंने कवि की निर्वैयक्तिकता की दो बातें बतायीं, (1) वह जो कुशल शिल्पी और रचनाकार मात्र के लिए जन्मजात और प्राकृतिक होती है और (2) वह जो प्रौढ़ कलाकार के द्वारा अधिकाधिक अर्जित की जाती है। वह अपने उत्कट और व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से सामान्य सत्य को व्यक्त करने में समर्थ होता है।

इलियट ने कविता को तीन स्वरों में व्याख्यायित किया है, जो वास्तव में काव्य की विधायें हैं। प्रथम स्वर, वह है जिसमें कवि अन्य से नहीं, स्वयं से बात करता है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जो रचनाएँ हमें प्राप्त होती हैं, वे लिरिकल या प्रगीत-काव्य के अन्तर्गत हैं। द्वितीय स्वर, वह है जिसमें वह श्रोताओं से बात करता है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जो रचनायें प्राप्त होती हैं, वे प्रबन्ध-काव्य, कथा-काव्य या 'नरेटिव' के अन्तर्गत रखी जाती हैं। तृतीय स्वर, वह है जिसमें कवि का अन्तर्धान हो जाता है और वह पात्रों या चरित्रों के माध्यम से बात करता है, इस विधि से जो रचनायें प्राप्त होती हैं, वे नाटक-विधा के अन्तर्गत मानी जाती हैं। इस प्रकार इन तीन प्रकार की काव्य विधाओं में कवि-व्यक्तित्व का क्रमशः तिरोभाव है। प्रथम में कवि-व्यक्तित्व प्रकट होता है, द्वितीय में वह परोक्ष में रहता है और तृतीय में कवि-व्यक्तित्व का पूर्ण तिरोभाव है। इलियट की दृष्टि से काव्य की उत्कृष्टता भी व्यक्तित्व के तिरोभाव के साथ बढ़ती जाती है। परन्तु श्रेष्ठ काव्य में तीनों की विशेषतायें समायी रहती हैं।

---

1. Eliot : *Selected Essays* (1917-32), p. 8.
2. "Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion; it is not the expression of personality but an escape from personality."—*Selected Essays*, p. 10.
   "The emotion of art is impersonal, and the poet cannot reach this impersonality without surrendering himself wholly to the work to be done."—*Selected Essays*, p. 11.

कविता से प्राप्त आनन्द या काव्यानुभूति के सम्बन्ध में भी, इलियट ने निर्वैयक्तिकता की बात कही है। उनका विचार है कि काव्य में कवि के वैयक्तिक भावों, उसके निजी अनुभवों की अभिव्यक्ति नहीं होती, वरन् उसके कलात्मक अनुभव (Poetic or creative experience) की अभिव्यक्ति होती है, जो कवि के सर्जक व्यक्तित्व के माध्यम से प्रकट होती है। निजी भाव और व्यक्तिगत अनुभव लौकिक, ऐन्द्रिक तथा सुख-दुःखात्मक होते हैं। यही कारण है कि वे आस्वाद्य नहीं हो सकते। काव्य का अनुभव अन्य सभी प्रकार के लौकिक अनुभवों से भिन्न होता है और तब प्राप्त होता है, जब निजी मनोभाव तिरोहित हो जाते हैं।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि इलियट के विचार से महान् कला सदैव निर्वैयक्तिक होती है। इस अर्थ में कि व्यक्तिगत संवेद और व्यक्तिगत अनुभव विस्तृत होकर एक प्रकार के निर्वैयक्तिक में पूर्णता प्राप्त करते हैं—इस अर्थ में नहीं कि व्यक्तिगत अनुभव तथा मनोविकार से वे एकदम विच्छिन्न हो जाते हैं। इस प्रकार कला में कलाकार का आत्मत्याग और व्यक्तित्व का तिरोभाव एक रूप में घटित होता है। इलियट के इन सिद्धान्तों की रैनसम, विण्टर्स, एलेन टेट आदि समीक्षकों ने आलोचना की; पर उनके महत्त्व को एकदम नकार नहीं सके।

8. काडवेल का श्रम-सिद्धान्त

क्रिस्टोफर काडवेल ने अपनी साम्यवादी विचारधारा के आधार पर कविता और कला के श्रम-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। वे बड़े प्रतिभा-सम्पन्न लेखक और विचारक थे। ये केवल 29 वर्ष 4 माह तक जीवित रहे और इसी बीच इन्होंने गहन अध्ययन, भ्रमण और अनुभव के आधार पर चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे—1. *इल्यूजन ऐण्ड रियलिटी*, 2. *स्टडीज़ इन ए डाइंग कल्चर*, 3. *दि क्राइसिज इन फिजिक्स* और 4. *फरदर स्टडीज़ इन ए डाइंग कल्चर*। इन ग्रन्थों के माध्यम से इनके समाजशास्त्र, राजनीति, विज्ञान और कविता एवं कला पर विचार प्राप्त होते हैं। अपने ग्रन्थ *इल्यूजन ऐण्ड रियलिटी* में काडवेल ने कला और कविता के विकास के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट किया है कि वास्तविक कविता और कला, स्वतन्त्र और उदार दृष्टिकोण का परिणाम है। वह वैयक्तिक न होकर सामाजिक भावना होती है—वह श्रम का परिणाम है, पूँजीभोग का नहीं। श्रमजीवी, अपने साथ-साथ समाज के लिए भी सोचता और काम करता है, अतः उसी की कविता और कला, पूर्ण और स्वतन्त्र है। इसी को काडवेल का श्रम-सिद्धान्त कहा गया है।

कला और साहित्य की श्रम-सम्बन्धी भूमिका पर कार्ल मार्क्स ने भी अपने

---

1. "The end of the enjoyment of poetry is a pure contemplation from which all the accidents of personal emotion are removed. The effect of a work of art upon the person who enjoys it, is an experience different in kind from any experience not of art." —Eliot : *Sacred Wood* (1928), p. XII.

विचार व्यक्त किये थे। उनका कहना था कि 1. कला के उद्भव और विकास में श्रम की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है; क्योंकि उसके ही द्वारा उन हाथों में शक्ति और क्षमता आती है, जो कला का निर्माण करते हैं, साथ ही उससे जीवन का अनुभव प्राप्त होता है, जो साहित्य का सृजन करने में सहायक होता है। 2. कलात्मक प्रतिभा कुछ व्यक्तियों में सीमित तभी होती है, जब श्रम-विभाजन असन्तुलित होता है। साम्यवादी शासन में विसंगतियाँ न होने से, सभी लोग अन्य कार्य करते हुए कलाकार भी होंगे।

उपर्युक्त सूत्रों का व्यापक विकास हमें काडवेल के विचारों में प्राप्त होता है। उनका विचार है कि मनुष्य-जाति के सौन्दर्यपरक प्राचीन क्रिया-कलापों में कविता भी एक है। प्राचीन काल में कविता, नितान्त अलग नहीं मिलती, वरन् इतिहास, धर्म, दर्शन, जादू आदि भी कविता के रूप में ही मिलते हैं। यह बात सभी देशों और जातियों के लिए सत्य है।[1] कविता समाज की सामूहिक भावनाओं का प्रकाशन होती है। ये भावनायें उन शब्दों के विवेकपूर्ण चयन के द्वारा प्रकट की जाती हैं, क्योंकि दैनन्दिन प्रयुक्त सामाजिक जीवन के शब्द, प्रत्येक मनुष्य के लिए भावात्मक लगाव रखते हैं। इन शब्दों से बनी रचना के साथ गाना और नृत्य मिलकर, वास्तविकता से दूर ले जाते हैं। उसी उल्लासपूर्ण वातावरण में सामूहिक भावनायें उभरती हैं और ये कार्य को उत्पन्न करती हैं, पर स्वयं तिरोहित नहीं होतीं। इन भावनाओं को उभारनेवाली कविता श्रम का परिणाम है जो आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है। यह संगीतमय कविता श्रम-कार्य को मधुर ही नहीं बनाती, वरन् श्रम को हल्का और आनन्दमय बनाती है।[2] कविता का उद्भव इसी प्रकार हुआ है। उसका क्रम इस प्रकार चलता रहता है कि अपना कार्य करने के सामूहिक उल्लास में संगीत और नृत्य के रूप में आती है और फिर श्रम करते समय गीत रूप में श्रम के बोझ को हल्का करती है। प्राचीन काल के त्योहारों, उत्सवों के उल्लास-सामूहिक नृत्य-गान, नाटक, प्रहसन इसी प्रकार एक स्वतन्त्र वातावरण में जन्मे थे।

आगे चलकर श्रम-विभाजन हुआ, कार्य का बँटवारा हुआ। उसके आधार पर कोई शासक, सामन्त हुआ और कोई कर्मचारी, मजदूर, पटवारी (टैक्स का हिसाब-किताब करनेवाला)। इस श्रम-विभाजन के साथ कविता का रूप बदला। कार्य के बँटवारे के साथ-साथ कविता का भी विभाजन हो गया। उससे कहानी अलग हो गयी, इतिहास, विज्ञान, ज्योतिष, तन्त्र, राजनीति अलग हो गयी। समाज इस विभाजन के बाद वर्गों, जातियों और वर्णों में बँट गया। समाज की पूरी सामूहिकता न रह गयी; परिणाम-स्वरूप कविता भी वर्ग के लिए और वर्ग की हो गयी। ऐसी कविता धीरे-धीरे कम हो गयी जो अमीर-गरीब, ग्रामीण-नागरिक, शासक-शासित, सामन्त और कृषक, मालिक और मजदूर सभी की हो सके और विश्व में यदि ऐसी कविता कोई है तो आज भी उसका मान-सम्मान है।

---

1. Christopher Caudwell : *Illusion and Reality,* p. 12.
2. वही, पृ. 24.

कविता का यह विकास पहले दरबारी कविता के रूप में हुआ और चमत्कार से कुछ लोगों को प्रसन्न करने के लिए लिखी जाने लगी; फिर सामन्तवादी प्रवृत्ति पनपी जिसमें कवि आश्रयदाता की प्रशंसा कर अपनी जीविका और कीर्ति अर्जित करने लगा। आगे चलकर वेतनभोगी, पूँजीभोगी, मध्यवर्ग का उदय हुआ जिसके साथ अनेक समस्यायें आयीं। उन समस्याओं तथा शासकीय और शास्त्रीय तथा कभी-कभी सामाजिक नियमों और बन्धनों से ऊबकर कवि स्वतन्त्र होने की कल्पना करने लगा। उसके स्वर में विद्रोह आया, पर यह विद्रोह व्यक्तिगत था। वैयक्तिक स्वर पर विद्रोह, आक्रोश, असन्तोष की रचनायें तथा ऐसी परिस्थितियों से पलायन की प्रवृत्ति को पोषित करनेवाली रचनायें आयीं। परन्तु इन रचनाओं में वैयक्तिकता ही देखने को मिलती है, पूरे समाज और जनसाधारण में क्रान्ति फूँकने की भावना और शक्ति उनमें नहीं मिलती। समाज को साथ ले जाने की प्रेरणा भी उनमें नहीं है, क्योंकि उनकी स्वतन्त्रता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता है, व्यक्तिगत विद्रोह है—प्रायः प्रेम-प्रसंगों को लेकर जहाँ पर सामाजिक रूढ़ियों, गरीबी या अन्य नियमों और बन्धनों के कारण व्यक्ति अपनी प्रेयसी को प्राप्त करने में असमर्थ है। ऐसी दशा में उसकी ललक, प्रेयसी का मोहक सौन्दर्य, उसका दैहिक आकर्षण एवं मिलन के क्षणों की स्मृतियों का विशद, सूक्ष्म और हृदयग्राही वर्णन हमें इन मध्यवर्गीय कवियों की रचनाओं में प्राप्त होता है। अपनी कला के प्रभाव के कारण ये रचनायें मोहक तो हैं, पर सारे समाज द्वारा एकसाथ गाकर आनन्द लेने के लिए उपयुक्त नहीं है। उनमें वैयक्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति है, सामाजिक भावनाओं की नहीं। उनमें आह, टीस और आक्रोश भी है, पर क्रान्ति और विद्रोह फूँकने की शक्ति नहीं। उनमें सौन्दर्य की वैयक्तिक छटा और मोहकता तो है, पर सामाजिक सामूहिक प्राकृतिक उल्लास नहीं। यह स्थिति मध्ययुगीन कविता की ही नहीं, आधुनिक पूँजीवादी और वेतनभोगी रचनाओं की भी है जिनमें आक्रोश, विद्रोह, घृणा, आलोचना, कटाक्ष, प्रतिक्रिया जो कुछ भी है वह वैयक्तिक रूप का ही है—सामूहिक और सामाजिक रूप का नहीं, जिसमें ऐसा शब्द-संगीत हो कि अभी एकसाथ गा उठें और नाचने लगें। ऐसी रचना के लिए, मार्क्स और काडवेल दोनों का विचार है कि वास्तविक स्वतन्त्रता, निश्चिन्तता तथा सामाजिक हित की भावना का उत्साह चाहिए। वह सामूहिक कार्य और श्रम से उत्पन्न होती है।

काडवेल का विचार है कि कला-जगत् सामाजिक भावनाओं का संसार है। उन शब्दों और बिम्बों का संसार है, जो जीवन के अनुभवों और सर्वसामान्य के भावनात्मक सम्बन्धों के परिणामस्वरूप एकत्र किये होते हैं तथा उनकी बढ़ती हुई जटिलता, सामाजिक जीवन के बढ़ते हुए जंजाल की द्योतक होती है। कला साधु, उदात्त पुरुषों और देवताओं का चित्रण प्रारम्भ में करती थी। आगे सामूहिक गान महाकाव्य बन गया—जो व्यक्तियों की कथाओं का समूह था। बाद में गीत, प्रगीत बन गया जो व्यक्ति का निजी उद्गार था। आज का मनुष्य यह सब जानता है।[1] परन्तु वास्तव में कविता

1. Caudwell : *Illusion and Reality*, p. 25.

केवल तात्त्विक कथन या तथ्यों का भण्डार नहीं, वरन् समाज के भीतर गत्यात्मक कार्य—उसकी सामूहिक भावनाओं का कोष, कविता का सत्य होता है।[1] सामूहिक भावनायें, पीड़ा, घाव या सुख के अनुभव के रूप में न होकर सूर्यास्त, तूफान, बादलों की गड़गड़ाहट जैसी होती है, जिनका सभी एकसाथ अनुभव करते हैं।

कविता उत्पादक और परिवर्तनशील होती है। एक युग की कविता, दूसरे युग को सन्तुष्ट नहीं करती; वरन् प्रत्येक नई पीढ़ी ऐसी कविता की माँग करती है, जो उसकी समस्याओं और आकांक्षाओं को व्यक्त करती हो। कविता ही नहीं, सारे साहित्य के लिए भी यही बात सत्य है। वास्तव में कविता मनुष्य का उत्पादक या आर्थिक क्रिया-कलाप है। इस धुरी से अलग करने पर उसको समझना असम्भव हो जायेगा। काडवेल का विचार है कि आधुनिक कविता पूँजीवादी कविता है। आज का कवि मध्यवर्गीय, सुविधा और पूँजीभोगी कवि है। उसकी स्वतन्त्र होने की माँग स्वातन्त्र्य-विरोधी है। उसका विद्रोह, दर्पण के भीतर का विद्रोह है; क्योंकि वह वैयक्तिक है, सामाजिक प्रेरणा की क्षमता उसमें नहीं है।

आधुनिक कविता पर प्रकाश डालते हुए काडवेल ने लिखा है कि उसमें अनेक विशेषतायें हैं, जो निम्नांकित हैं—

1. कविता लयात्मक है। इस विषय पर काडवेल का विचार है कि कविता की विशिष्ट लय, किसी भाषा की स्वाभाविक लय पर आरोपित होती है, उसके दो स्रोत हैं—

(क) यह एक समाजिक साँचे के रूप में है जिसमें कविता ढाली जाती है, जिसके परिणामस्वरूप लय की प्रकृति, सूक्ष्म और संवेद्य ढंग से, सहजानुभूति या भावात्मक तत्त्व और उन सामाजिक सम्बन्धों के बीच के सन्तुलन को प्रकट करती है, जिन्हें समवेत रूप से भाव अनुभव करते हैं। समाज के प्रति मनुष्य की सहजवृत्ति के सम्बन्ध में उसके अपने मूल्यन में परिवर्तन होने पर, छन्दों और लय-परम्पराओं के प्रति उसके दृष्टिकोण में भी बदलाव आ जाता है। यही कारण है कि मुक्त छन्दों के द्वारा, मध्यवर्गीय सामाजिक सम्बन्धों से मुक्त होने का अराजकतापूर्ण प्रयास प्रकट होता है। क्योंकि सामाजिक सम्बन्धों पर से वह पूर्णतया अधिकार खो बैठा है।

(ख) लय, सामाजिक उत्सवों में लोगों का एक-दूसरे से शारीरिक और भावात्मक सम्पर्क स्थापित करती है। लय कविता का मूलाधार है। लय का महत्त्व ऐतिहासिक है।

2. कविता का अनुवाद कठिन है। यह मानी हुई बात है कि कविता का अनुवाद कविता के मूल आनन्द को नहीं दे पाता है। अनुवाद में शब्दों की अर्थवत्ता का चमत्कार, व्यंजना और लयात्मक प्रभाव जैसे उड़ जाता हो। कहानियों और उपन्यासों के अनुवाद में हम प्रायः मूल का सबकुछ पा लेते हैं, पर कविता के अनुवाद

---

1. Caudwell : *Illusion and Reality*, p. 26.

में ऐसा नहीं है। जहाँ कुछ अनुवाद प्रभावशाली प्राप्त होते हैं, वे अनुवाद न होकर मूल का पुनः प्रस्तुतीकरण है।

3. कविता तर्करहित है। इसका यह अर्थ है कि उसके निष्कर्ष उस प्रकार के तर्कों पर आधारित नहीं हैं, जिस प्रकार विज्ञान या दर्शन के होते हैं। इसके तर्क बौद्धिक न होकर भावात्मक या काल्पनिक होते हैं। जायसी ने कहा कि विरह के कारण परवर पककर लाल हो गया और गेहूँ का हृदय फट गया। रहीम ने कहा कि हाथी सिर पर धूल धारण करता है, इस आशा से कि शायद वह धूल मिल जाये, जिसको स्पर्श कर अहिल्या पत्थर से स्त्री हो गयी थी। ये तर्क बुद्धिग्राह्य नहीं होंगे, पर साहित्य और संस्कृति की परम्परा में ये भावात्मक और कल्पनागत तर्क माने जा सकते हैं।

दूसरी बात तर्कहीनता की यह है कि दर्शन का ग्रन्थ अनुवादित होकर दर्शन बना रहता है, उपन्यास अनुवादित होकर उपन्यास बना रहता है—कहानी भी; परन्तु कविता अनुवाद होने के बाद कविता नहीं रह पाती, वह केवल सीधा नीरस अर्थ दे पाती है; अनुवाद या शब्दार्थ में उसकी आत्मा, उसकी रूह उड़ जाती है।

4. कविता, शब्द-रचना है। यह बात साधारण लगती है; क्योंकि मनुष्यमात्र की वाणी और सारा साहित्य शब्दों द्वारा ही रचा जाता है; परन्तु 'कविता शब्द-रचना है' (Poetry is composed of words) का अर्थ यह है कि शब्दों का विशिष्ट प्रयोग, विशिष्ट संगुम्फन और विशिष्ट विधान, कविता होती है। इसी से उसे दूसरी भाषा में अनूदित नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनुवाद में वह शब्द-रचना की विशेषता जाती रहती है।

5. कविता प्रतीकात्मक नहीं है। इस वाक्य से काडवेल का तात्पर्य यह है कि कविता में गणित या विज्ञान के समान कोई चिह्न किसी विशिष्ट अर्थ का स्थायी रूप से द्योतक नहीं है। जहाँ कुछ प्रतीक शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है, तो वहाँ भी वह अस्थायी रूप से और विशिष्ट सन्दर्भ में ही। अन्यत्र और सर्वत्र वह, वही अर्थ नहीं देता। उनके अर्थ सन्दर्भ-परिवर्तन के साथ-साथ बदलते रहते हैं। इसीलिए कविता को अप्रतीकात्मक कहा गया है।

6. कविता साकार और विशिष्ट होती है—निराकार और सामान्य नहीं। दृढ़ और अपरिवर्तित रहना, विज्ञान की विशेषता होती है। उसके नियम सदैव वही रहते हैं और सामान्य रीति से लागू होते हैं, परन्तु कविता के लिए यह बात सत्य नहीं है। वह सदैव व्यक्ति या विशिष्ट का वर्णन करती है, सामान्य नियमों का नहीं। वह हमारे सामने ठोस वस्तु प्रस्तुत करती है, जिसका रूप हम अपनी कल्पना की आँखों से देख सकते हैं। सौन्दर्य, उसका गुण है। वह चरम शुद्ध सौन्दर्य के लिए प्रयत्नशील रहती है, उसी प्रकार जैसे कि विज्ञान शुद्ध अपरिवर्तनीय नियम या सत्य के लिए। अतः कविता ठोस, विशिष्ट और ग्राह्य होती है।

7. कविता का गुण घनीभूत भावों में देखा जा सकता है। ये घनीभूत या

संक्षिप्त भाव ऐसे होते हैं, जो केवल किसी विशिष्ट व्यक्ति को ही प्रभावित नहीं करते; वरन् उनमें पूरे समुदाय को प्रभावित करने की विशेषता रहती है। पत्नी की मृत्यु का तार, पति को शोक-व्याकुल कर सकता है, पर अन्य सम्बन्ध-रहित व्यक्तियों को उतना नहीं, विशेष रूप से जो उसको नहीं जानते। किसी की लॉटरी खुलने पर, वह व्यक्ति प्रसन्नता से नाच उठता है, जिसकी लॉटरी खुली है, परन्तु अन्य लोगों को उसकी वैसी प्रसन्नता नहीं होती; क्योंकि ये भाव कला के द्वारा प्रेषित नहीं हैं। ये जीवन के एक क्षण की वास्तविकता हैं। यही सूचनायें छः महीने बाद व्यर्थ हो जाती हैं और कोई भाव नहीं जगातीं; परन्तु कविता के भावों के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। वह सदैव पूरे समाज के मन में उन भावों को जगाती है, जो उसमें सन्निविष्ट हैं। कविता केवल वैयक्तिक भावनाओं को ही सम्प्रेषित नहीं करती, वह सामूहिक भावनाओं को सम्प्रेषित करती है और उनका आस्वाद कराती है। इस प्रकार कविता लयात्मक है, उसका अनुवाद नहीं हो सकता, वह तर्क-बाह्य है, अप्रतीकात्मक है, ठोस और साकार है और उसका गुण घनीभूत सौन्दर्यात्मक भावों को सम्प्रेषित करना है। ये गुण, सामान्य कविता के हैं, परन्तु इनका समावेश उसी कविता में होता है, जो सामाजिक भावों की अभिव्यक्ति करती है, जिसके लिए सीधा लोक-जीवन का अनुभव कवि को अपेक्षित है।

काडवेल के विचार से सभी कलाएँ व्यक्ति-परक होती हैं। सभी कलायें भावात्मक हैं, अतः सहजवृत्तियों (Instincts) से सम्बद्ध हैं। इनको सामाजिक जीवन में घटित करने से, भावात्मक चेतना उत्पन्न होती है। अतः कला उस मूलभूत जीवन-तत्त्व से अपना निकट सम्बन्ध रखने से बच नहीं सकती जिसकी आन्तरिक कामनायें, मानव-संस्कृति की अनन्त शृंखला से जुड़ी रहती हैं। कविता में अनुभूति इस प्रकार ढाली जाती है कि वह दृश्य वास्तविकता के सामान्य संसार में सामाजिक रूप ग्रहण कर सके। अनुभूतियों को कविता में सामाजिक मूल्य प्राप्त हो जाते हैं। स्वप्न का कार्य श्रम नहीं हो सकता; परन्तु कवितागत स्वप्न का कार्य श्रम है; क्योंकि उससे सामाजिक वस्तुयें उत्पन्न होती हैं, जो स्वप्न से नहीं।

कविता की उत्पत्ति के सम्बन्ध में काडवेल का मत है कि वह बाह्य जगत् की वास्तविकता का कोई टुकड़ा लेती है, उस पर भावात्मक रंग चढ़ाती है और उससे ऐसी रागात्मक वृत्ति को स्रवित करती है, जो स्थायी नहीं होती, वरन् कविता की पंक्तियों के समाप्त होते ही शान्त हो जाती है। कविता, तत्त्वतः एक क्षणिक, अनुभवात्मक भ्रम है, फिर भी उसका मानसिक प्रभाव चिरस्थायी है।

श्रमिक कला के सम्बन्ध में काडवेल का विचार है कि वह कला, श्रमिक-आन्दोलन की अभिव्यक्ति करती है। यद्यपि श्रमिक भी एक वर्ग है, परन्तु श्रमिक-आन्दोलन का उद्देश्य वर्ग की सत्ता को समाप्त कर, सम्पूर्ण समाज के साथ घुल-मिल जाना है।[1] इसी प्रकार साम्यवादी कवि, उन सभी मूल्यों को स्थापित करने के लिए सचेष्ट हैं, जो वास्तविक जीवन में मनुष्य के सम्बन्धों में प्रतिष्ठित हैं।[2]

---

1. Caudwell : *Illusion and Reality*, p. 233.
2. वही, पृ. 247.

काडवेल का विचार है कि कला उनका स्वत्व होती है जो स्वतन्त्र हैं। कला, स्वतन्त्रता की उस अवधारणा से प्रभावित होती है, जो कला की सर्जना करनेवाले समाज पर शासन करती है। कला, स्वतन्त्रता का एक ढंग है। वर्गगत समाज, उतनी ही स्वतन्त्रता की अवधारणा रखता है जितनी उसने प्राप्त की है। मध्यवर्गीय पूँजीजीवी कलाकार बाह्य वास्तविकता की आवश्यकता के प्रति तो सचेत है, परन्तु अपनी आवश्यकता के प्रति नहीं, क्योंकि वह इस समाज को नहीं जानता जिसने उसे बनाया। इसलिए वह आधा कलाकार है। साम्यवादी कला, अधूरी नहीं, वरन् पूरी होगी; क्योंकि उसका कलाकार अपनी आवश्यकताओं के प्रति भी सचेत होगा और बाह्य वास्तविकता के प्रति भी।

कला का तत्त्व तब तक रहेगा, जब तक कि मनुष्य रहेगा। यह कला का स्रोत बिखर जाता है, जब मनुष्य व्यर्थ के संघर्षों में टूटता और बरबाद होता है और समाज का गतिमय स्पन्दन रुक जाता है। सदा रहनेवाली सादगी, अपने वक्ष से ही कला की समृद्धि को जन्म देती है; इसलिए नहीं कि वह शाश्वत है, वरन् इसलिए भी कि वह परिवर्तन के बीच भी जीवित रहती है। कला, मनुष्य को स्वयं को समझने का माध्यम है। मनुष्य की वास्तविकताओं में से कला भी एक है।[1] इस प्रकार कला और मनुष्य का शाश्वत सम्बन्ध है।

9. आइ.ए. रिचर्ड्स का मूल्य-सिद्धान्त

आधुनिक समीक्षा और साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में आइ.ए. रिचर्ड्स का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे मनोविज्ञान के क्षेत्र से साहित्य में आये, अतः उन्होंने मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में कविता और कला की सार्थकता और महत्त्व पर अपने विचार प्रकट किये हैं। ये मौलिक विचारक माने जाते हैं। उन्होंने डॉ. ब्रैडले के "कला, कला के लिए" सिद्धान्त का खण्डन किया और अपने मूल्य-सिद्धान्त की स्थापना की है।

उनका मत है कि आज जब प्राचीन परम्परायें टूट रही हैं और मूल्य विघटित हो रहे हैं, तब सभ्य समाज, कला और कविता के सहारे ही अपनी मानसिक व्यवस्था और सन्तुलन बनाये रख सकता है। रिचर्ड्स के विचार से साहित्यालोचना का सिद्धान्त दो स्तम्भों पर टिका होना चाहिए—एक मूल्य का लेखा-जोखा और दूसरा सम्प्रेषणीयता का आकलन।[2] इसका यह अर्थ हुआ कि कविता और कला में मूल्य और सम्प्रेषणीयता के गुण होने चाहिए। इन्हीं दो गुणों के आधार पर रिचर्ड्स ने मूल्य-सिद्धान्त और सम्प्रेषणीयता के सिद्धान्त की स्थापना की। उनका विचार है कि यह एक गम्भीर त्रुटि है कि सौन्दर्यशास्त्र के प्रसंग में मूल्य-सम्बन्धी विचार की अपेक्षा की जाती है। यह

---

1. Caudwell : *Illusion and Reality*, p. 248.
2. The two pillars upon which a theory of criticism must rest are an account of value and account of communication.
— *Principles of Literary Criticism* : I.A. Richards, p. 25.

एक अलग बात है कि उसका केवल मूल्य की दृष्टि से विचार किया जाय, उससे तो बड़ा अनर्थ हो सकता है। परन्तु यह भी तथ्य अप्रासंगिक नहीं है कि कला-सम्बन्धी कुछ अनुभव सचमुच मूल्यवान् होते हैं। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र यह मानकर चलता है कि जिसे हम सौन्दर्यानुभूति कहते हैं, वह एक मानसिक क्रियां है। इससे सौन्दर्यानुभूति-अवस्था की एक हवाई समस्या उत्पन्न होती है जो सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की अरूप खोज की पुरानी परम्परा कही जा सकती है।[1] इन तीन के साथ काण्ट की ज्ञान, अनुभूति और इच्छा के त्रय का भी स्मरण आ जाता है। उसी के आधार पर सत्य को ज्ञान, शिव को इच्छा और सौन्दर्य को अनुभूति से जोड़कर देखा जाने लगा, जो ठीक नहीं है। वास्तविकता यह है कि सभी प्रकार के अनुभव, कला-मूल्यों के साथ जुड़े रहते हैं। सौन्दर्य के गुण, अनेक कारणों से उद्भूत होते हैं। सौन्दर्यानुभूति, विशिष्ट और विलक्षण होती है। यह विशिष्ट अनुभूति अन्य अनुभवों से भिन्न होती है, यह मानते हुए भी यह देखा जाता है कि सौन्दर्य का अनुभव, मूल्य के साथ भी जुड़ा है।[2]

रिचर्ड्स का स्पष्ट मत है कि कलायें, हमारे संचित मूल्यों के भाण्डार होती हैं। वे असाधारण पुरुषों के जीवन के क्षणों से उद्भूत होती हैं और उन्हें चिरस्थायी बनाती हैं—उन क्षणों को जब उनका अनुभव पर अधिकार और प्रभाव सर्वोच्च होता है—उन क्षणों को जब अस्तित्व की बदलती हुई सम्भावनाएँ स्पष्ट दिखायी देती हैं और जब उभरते हुए विभिन्न क्रिया-कलापों में एक सुन्दर समझौता हो जाता है—उन क्षणों को जब स्वार्थों की प्रकृत संकीर्णता या भ्रमपूर्ण उलझन एवं किंकर्त्तव्यविमूढ़ता तिरोहित हो जाती है। और उसके स्थान पर जटिलतायुक्त मानसिक सन्तुलन आ जाता है। रचनात्मक क्षणों में कलाकृति के निर्माण में तथा सम्प्रेषणीयता के माध्यम की दृष्टि से, इस बात के तर्क प्राप्त किये जा सकते हैं कि मूल्य-सिद्धान्त के बीच कला को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिए। अनुभव के मूल्यों के सन्दर्भ में उपलब्ध हमारे महत्त्वपूर्ण निर्णयों का कलायें लेखा प्रस्तुत करती हैं। यदि सही दृष्टि से देखा जाये, तो कलायें हमें यह निर्णय करने के लिए, उत्तम उपलभ्य आँकड़े प्रस्तुत करती हैं, कि हमारे कौन से अनुभव, अन्य अनुभवों से अधिक मूल्यवान् हैं।

कुछ लोगों का यह मत है कि कला का सम्बन्ध नैतिकता से नहीं है, वह उसके क्षेत्र से बाहर की वस्तु है तथा कला के आलोचक का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि नैतिकता को देखना या तो धर्म-गुरुओं का काम है या फिर पुलिस का। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नैतिकता का कला से सम्बन्ध नहीं है और कला

1. I.A. Richards : *Principles of Literary Criticism*, p. 16.
2. वही, पृ. 16.

का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है।[1] परन्तु जब किसी कृति को देखा जायेगा या उसकी समीक्षा की जायेगी, तो किन्हीं मूल्यों को ही सामने रखकर किया जायेगा। वास्तव में एक आलोचक, मन की स्वस्थता से ऐसा ही सम्बन्ध रखता है, जैसा कि डॉक्टर शरीर की स्वस्थता से। अतः उसका काम ही यह हो जाता है कि किसी कलाकृति के प्रभाव को देखे अगर उसका समाज पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, तो निश्चय ही उस कलाकृति में मूल्यों का समावेश होगा। कविता का मूल्य, उसकी पाठक या श्रोता के मन को प्रभावित करनेवाली क्षमता से आँका जाता है। कविता या कला का काम मन को सन्तुलित करना है। मन, स्नायु-सम्बन्धी व्यवस्था या उसकी आंशिक क्रियाशीलता है। जो कविता या कला-कृति स्नायुमण्डल में व्यवस्था उत्पन्न करती है, वही प्रेरणा या आनन्द प्रदान करती है और वही कल्याणकारी भी है। अतः कला का मूल्य से अटूट सम्बन्ध है, क्योंकि मूल्य हमारे उत्तम एवं प्रेरक अनुभव ही होते हैं।

रिचर्ड्स के मत से मन के भीतर आवेगों या वृत्तियों (Impulses) में उतार-चढ़ाव, जीवन की परिस्थितियों या संघर्षों के कारण होता रहता है। इससे मन में तनाव या विषमता उत्पन्न होती रहती है। काव्य और कलायें इन आवेगों में संगति और सन्तुलन स्थापित करती हैं और आवेगों को व्यवस्थित कर स्नायुमण्डल को केवल राहत ही नहीं देतीं, वरन् सुख भी पहुँचाती हैं। सौन्दर्य इसीलिए मूल्यवान् है, क्योंकि वह विरोधी मनोवेगों से उत्पन्न विषमता में व्यवस्था और सन्तुलन कायम करता है। आवेगों की दो स्थितियाँ हैं—एक काम्य (वांछनीय) और दूसरी अकाम्य। यद्यपि मस्तिष्क में दोनों ही सन्तुलित रूप में रहती हैं, फिर भी काम्य आवेग (Impulses) वे हैं, जो स्थिरता, सन्तुलन और व्यवस्था स्थापित करते हैं। वे आवेग अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, जो दूसरों को क्षति पहुँचाये बिना अपना विकास करते हैं। फिर भी मन की सबसे उत्तम स्थिति वह है जिसमें मानसिक क्रियाओं की सर्वोत्तम संगति रहती है तथा आवेगों का संघर्ष और विघटन कम होता है। बहुत अधिक सीमा तक कविता और कला, विशिष्ट सीमित अनुभवों के पूर्ण एवं व्यवस्थित विकास में योगदान देती हैं।[2] वे आवेगों के बीच सन्तुलन स्थापित करती हैं। हमारी अनुभूतियों और संवेदनाओं को व्यापक बनाती हैं और इस प्रकार मानव-मानव के बीच संवेदनात्मक एकत्व स्थापित करती हैं। (भारतीय दृष्टिकोण से इसे अनुभव का साधारणीकरण कह सकते हैं।) रिचर्ड्स इस प्रकार का सन्तुलन और समन्वय कला का गुण मानते हैं। यही उसका मूल्य है। यह कार्य कला, सौन्दर्य के माध्यम से करती है; क्योंकि वह उसी की अभिव्यक्ति है। रिचर्ड्स के पूर्वोक्त विचारों की पुष्टि प्रसिद्ध दार्शनिक 'सन्तायन' के विचार से भी होती है, जो कहते हैं कि सौन्दर्य का काम समन्वय और सन्तुलन प्रदान करना है

1. I.A. Richards : *Principles of Literary Criticism*, p. 36.
2. वही, पृ. 249.

जिससे उद्वेलित मन में शान्ति आ जाती है।[1] इस सन्तुलन के कार्य को रिचर्ड्स ने सिनेस्थीसिस (Synaesthesis) कहा है। उनका विचार है कि सिनेस्थीसिस ताज़गी देती है, थकान नहीं।[2] सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध में उनकी व्याख्या है कि सभी आवेग (Impulses) समन्वयकारी या सम्मिलनवाले नहीं होते, क्योंकि जीवन में संघर्ष न केवल सम्भव है, वरन् सामान्य भी है। अतः एक ऐसी परिपूर्ण व्यवस्था अपेक्षित है, जिसमें आवेग को स्वतन्त्र कार्य-कलाप की छूट हो, पर परस्पर सामंजस्य का रूप हो, जिसमें निराशा न आने पाये। इस प्रकार के सन्तुलन में वह चाहे कितना भी क्षणिक हो, हम सौन्दर्य की अनुभूति करते हैं।[3] रिचर्ड्स के विचार से इस सन्तुलित स्थिति में बाह्य क्रियाओं को भी प्रेरणा मिलती है। वे कला को एकान्तिक या एकांगी नहीं मानते। काव्य और कलायें मानव के अन्य व्यापारों से सम्बद्ध हैं, उनसे भिन्न और पृथक् नहीं। किसी भी मानव-क्रिया का मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि वह किस सीमा तक मानव-मनोवेगों में सन्तुलन और व्यवस्था उत्पन्न करने में सक्षम है और इस दृष्टि से कविता और कला-सर्जना सर्वाधिक मूल्यवान् मानव-क्रियायें हैं। उनके मूल्य-सिद्धान्त को 'सिनेस्थीसिस' का सामंजस्य या सन्तुलन का सिद्धान्त भी कहा जा सकता है।

10. रिचर्ड्स का सम्प्रेषण-सिद्धान्त

सम्प्रेषण, आइ.ए. रिचर्ड्स के आलोचना-सिद्धान्त का दूसरा स्तम्भ है। मानव सामाजिक प्राणी होने के कारण, बचपन से ही वह अपने अनुभवों का सम्प्रेषण करता चलता है। इन्हीं सम्प्रेषणों के द्वारा ही मनुष्य को अपने परिवार और समाज से विचार, ज्ञान और अनुभव प्राप्त होते रहते हैं। इसी सम्प्रेषण-शक्ति के कारण एवं इसी के माध्यम से मानव-समाज का, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और तकनीकी विकास हुआ है और होता जा रहा है। मस्तिष्क के विशिष्ट गुणों का बहुत बड़ा अंश, उसके सम्प्रेषण-माध्यम का यन्त्र है। पर इस सम्प्रेषण-क्रिया का सर्वाधिक उपयोग कला-कर्म में होता है। वास्तव में कलायें, सम्प्रेषण-क्रियाओं के उत्कृष्ट चरम रूप हैं।

परन्तु, कलाकार से यदि पूछा जाय, तो वह यह स्वीकार नहीं करेगा कि उसके कला-कर्म में या कविता-रचना में उसे उसकी सम्प्रेषणीयता का ध्यान रहता है। उसके लिए यह सामान्य महत्त्व की बात है। वह तो अपने उस रचना-कार्य में व्यस्त रहता

---

1. Now, it is the essential privilege of beauty to so synthesize and bring to a focus the various impulses of the self, so to suspend them to a single image, that a great peace falls upon that purturbed kingdom.—Santayana : *Liberation of the Self in Sense of Beauty,* p. 2352.
2. Synaesthesis refreshes and never exhausts. p. 77, note, *The Foundation of Aesthetics* : I.A. Richards.
3. वही, पृ. 75.

है, जो उसे सुन्दर लगता है और उसे व्यक्तिगत सन्तोष प्रदान करता है। वह यह भी कह सकता है कि वह यह कार्य केवल अपने मनोरंजन के लिए करता है। कलाकार सचेत रूप से सम्प्रेषण का ध्यान नहीं रखता है। फिर भी उसकी यह उपेक्षा सम्प्रेषण के महत्त्व को किसी भी प्रकार से कम नहीं करती[1] वरन् जिस तन्मयता से कलाकार अपनी रचना करता है, उतनी ही उसकी सम्प्रेषणीयता अधिक प्रभावकारी होती है। कलाकार की सम्प्रेषण-सम्बन्धी अन्यमनस्कता या उपेक्षा से यह बात सिद्ध नहीं होती कि सम्प्रेषण उसका प्रमुख उद्देश्य नहीं है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह उसका अचेतन उद्देश्य हो सकता है। यह भी एक प्रश्न उठता है कि सम्प्रेषण, कलाकार का सीधा उद्देश्य नहीं, तो क्या उसका यह उद्देश्य नहीं हो सकता कि वह कुछ ऐसी रचना करे जिसमें सम्प्रेषण की विशिष्ट क्षमता हो? कुछ लोगों को अमरता, या व्यापक यश आदि उद्देश्य हो सकते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रायः कलाकार की सम्प्रेषण-क्षमता, उसके कलाकृति के प्रति सन्तोष और उसके ठीक होने की भावना पर निर्भर करती है। वास्तविकता तो यह है कि कवि की सफल सम्प्रेषणीयता वही है, जबकि पाठक में भी कवि की सम्वेदना जग जाये। परन्तु इस कार्य के लिए कोई योजना नहीं बनायी जा सकती है। कविता और कला की अनुभूति की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह सम्प्रेषणीय होती है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि सम्प्रेषण है क्या? रिचर्ड्स का विचार है कि सम्प्रेषण तब होता है जब एक मस्तिष्क अपने पर्यावरण में इस प्रकार क्रियाशील होता है कि दूसरा मस्तिष्क उससे प्रभावित हो और उस दूसरे मन में जो अनुभूतियाँ जाग्रत् हों, वे पहले मन की अनुभूतियों के समान हों और आंशिक रूप से, पहले के द्वारा प्रेरित हों। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रेषण, एक जटिल प्रक्रिया है और दोनों की अनुभूतियों में भेद हो सकता है, पर दोनों अनुभूतियाँ कुछ न कुछ समान हों और दूसरे के मन की अनुभूतियाँ किन्हीं अंशों में पहले की अनुभूतियों पर निर्भर हों।[2] इस सम्प्रेषण की प्रक्रिया में कविता की प्रक्रिया जटिल होती है; क्योंकि उसके द्वारा गद्य की अपेक्षा कठिन और अधिक गहरे सम्प्रेषण किये जाते हैं।

रिचर्ड्स के विचार से सम्प्रेषण कला का तात्त्विक धर्म है। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के कारण, वह जो कुछ अनुभव करता है, उसे दूसरों को भी बताना चाहता है। कलाकार का अनुभव विशिष्ट और नव्य होने के कारण, उसकी सम्प्रेषणीयता, समाज के लिए मूल्यवान् है। कलाकार की भी कसौटी यही है कि वह अपना अनुभव या उसका कोई अंश, दूसरों तक भलीभाँति पहुँचा सके। जिसकी रचना में जितनी ही प्रबल और प्रभावशाली सम्प्रेषणीयता होती है, वह उतना ही बड़ा कवि या कलाकार होता है।

सम्प्रेषणीयता को प्रभावी होने के लिए कुछ बातों की आवश्यकता होती है, जिन्हें निम्नांकित रूप में देखा जा सकता है—

1. I.A. Richards : *Principles of Literary Criticism*, p. 27.
2. वही, पृ. 177.

1. कवि या कलाकार की अनुभूति व्यापक, विस्तृत और प्रभावकारी होनी चाहिए।
2. अनुभूति के क्षणों में आवेगों का व्यवस्थित ढंग से सन्तुलन होना चाहिए।
3. वस्तु या स्थिति के पूर्ण बोध के लिए कलाकार या कवि में जागरूक निरीक्षण-शक्ति होनी चाहिए।
4. कलाकार के अनुभवों और सामाजिक के अनुभवों में तालमेल होना चाहिए। यदि दोनों में अन्तर हो, तो कल्पना की सहायता से सम्प्रेषणीय बनाना चाहिए।
5. सम्प्रेषण के लिए आवश्यक प्रतिक्रियाओं में तीन बातों की आवश्यकता होती है—
   (क) वे एक-सी हों,
   (ख) वे विविध हों,
   (ग) उत्तेजनाओं से प्रेरित होनेवाली हों।
   यह कठिन कार्य होता है, इसीलिए कलायें संख्या में सीमित हैं तथा उनके स्वरूप के घटक तत्त्वों का बड़ा महत्त्व है।
6. समान प्रतिक्रियायें प्रकट करने के लिए उत्तेजना का काम करनेवाले स्वरूप-घटक तत्त्व अलग-अलग कलाओं के निम्नांकित प्रकार के हैं—
   (क) कविता के लिए लय, छन्द और स्वर-समायोजन
   (Rhythm, Metre and tune or cadence)
   (ख) संगीत के लिए लय, स्वर-समायोजन, तान या आरोहावरोह
   (ग) चित्रकला में—रूपरेखा और रंग
   (घ) मूर्तिकला में—आकार और उभार

अन्य वस्तुगत या शब्दगत सामग्री के साथ, ये तत्त्व मिलकर सम्प्रेषण को प्रभावशाली वनाते हैं। इसी प्रकार कविता के संघटक तत्त्व हैं—शब्दावली, लय और छन्द तथा बिम्ब। पूर्वोक्त तत्त्व ढाँचे या आधार का काम करते हैं, टिकते या समाये रहते हैं। इस प्रकार सम्प्रेषण की प्रक्रिया कला-कृतियों में सम्पन्न होती है। इस प्रकार सम्प्रेषण की प्रक्रिया जटिल होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी सम्प्रेषण के द्वारा ही कविता का आनन्द पाठक और श्रोता को मिलता है। कवि या कलाकार के विशिष्ट अनुभव सम्प्रेषण के द्वारा ही समाज को प्राप्त होते हैं जिससे ज्ञान और संस्कृति का विकास होता है, संकीर्णता और स्वार्थ दूर हटता है तथा मानव-सम्वेदनायें परिष्कृत होकर व्यापक और उदात्त बनती हैं। अतः कलायें सम्प्रेषण का प्रभावशाली माध्यम बन गयी हैं।

11. आइ.ए. रिचर्ड्स और व्यावहारिक समीक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्त

व्यावहारिक समालोचना किसी सिद्धान्त-विशेष पर आधारित नहीं रहती। फिर भी हम उसके सिद्धान्तों की चर्चा करने बैठे हैं, यह एक स्वयंविरोधी बात-सी लगती है। पर बात कुछ ऐसी ही है। आलोचना का उद्देश्य किसी भी काव्य-कृति के समस्त

सौन्दर्य और विशेषताओं को स्पष्ट कर अनुभूतिगम्य बनाना है। इस दृष्टि से आलोचना के अनेक स्वरूप विकसित हुए, पर कोई एक इस उद्देश्य की पूर्णतया पूर्ति न कर सका। अतएव व्यावहारिक समीक्षा की आवश्यकता का अनुभव हुआ।

व्यावहारिक समीक्षा के सिद्धान्तों या नियमों के अनुसन्धान की पूर्वगामिनी, आलोचना की एक सामान्य प्रक्रिया है जो इसको समुचित दृष्टि प्रदान करती है। इस प्रक्रिया को व्यवहार में लानेवाले अंग्रेजी के प्रसिद्ध समालोचक और विद्वान् श्री आइ.ए. रिचर्ड्स हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ *प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म (Practical Criticism)* में इस प्रक्रिया को स्पष्ट किया है और निष्कर्षस्वरूप अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उनके ये निष्कर्ष अंग्रेजी काव्य के आधार पर हैं यद्यपि यह उनका अपना दृष्टिकोण है और अन्य अनेक आलोचकों ने इसे पूर्ण या महत्त्वपूर्ण स्वीकार नहीं किया, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे अपने इस नये प्रयोग के द्वारा इस दिशा में अनेक सुझाव प्रदान करते हैं। उन्हीं सुझावों के आधार पर इस विषय में भारतीय काव्य को ध्यान में रखकर कुछ विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न यहाँ किया गया है।

श्री रिचर्ड्स महोदय ने अनेक अंग्रेजी कविताओं को उनके शीर्षकों और लेखकों के नामों को हटाकर विभिन्न प्रकार के शिक्षा-स्तर के शिक्षित व्यक्तियों को स्वतन्त्र समालोचनार्थ भेजा और उनकी समालोचनाएँ प्राप्त होने पर उनमें से तेरह का विश्लेषण अपनी पुस्तक में प्रस्तुत किया है। इसी के आधार पर उन्होंने समीक्षा की कुछ विशिष्ट बातों और नियमों का संग्रह किया है।

इसके पूर्व कि हम उन नियमों पर विचार करें, हमें पहले इस प्रयोग की महत्ता पर विचार कर लेना चाहिए। रिचर्ड्स महोदय का उद्देश्य केवल साहित्यिक समीक्षा का एक प्रयोग करना ही न था, वरन् संस्कृति की समकालीन स्थिति और शिक्षा-पद्धति का एक नवीन मार्ग भी स्पष्ट करना था।

इसके अतिरिक्त स्वयं हम काव्य के सम्बन्ध में किस प्रकार सोचते-विचारते हैं, यह ज्ञान भी अपने-आपको इस प्रकार के प्रयोगों द्वारा हो जाता है।[1] इस प्रकार आत्मविश्लेषण और शिक्षा-पद्धति के साथ-साथ इस प्रयोग का सबसे बड़ा महत्त्व सांस्कृतिक और ऐतिहासिक है। यदि इस प्रकार के व्यावहारिक समीक्षा के प्रयोग चलते रहें और विभिन्न देशों में एक ही समय चलें, तो निश्चय ही हमें इनके द्वारा संस्कृति

---

1. I have three aims in constructing this book. First to introduce a new kind of documentation to those who are interested in the contemporary state of culture, whether as critics, philosophers as teachers, as psychologists, or merely as curious persons. Secondly to provide a new technique for those who wish to discover for themselves what they think and feel about poetry and why should they like or dislike it. Thirdly to prepare the way for educational methods more efficient to prepare than those we are now in developing criminate discretion and power to understand what we hear or read.— *Practical Criticism*, p. 3, Introduction

और साहित्यिक अभिरुचि का तुलनात्मक यथार्थ ज्ञान हो सकता है। इस दृष्टि से सचमुच इसका बहुत बड़ा महत्त्व है।

यहाँ पर हमारे सामने प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार सांस्कृतिक या शिक्षा-सम्बन्धी ज्ञान के लिए किसी और विषय को चुना जा सकता था? काव्य को ही क्यों चुना गया और उसका ही चुना जाना क्या कुछ अधिक आवश्यक है? हाँ, काव्य इस प्रकार की समीक्षा को प्राप्त करने के लिए सर्वोपयुक्त विषय है। अन्य अनेक विषय जैसे—गणित, विज्ञान, व्यापार, कानून, उद्योग या अन्य शास्त्रीय विषयों की ओर सभी प्रकार के व्यक्तियों की रुचि नहीं होती। विशिष्ट रुचि और बुद्धि के व्यक्ति ही इन विषयों में प्रवृत्त हो पाते हैं। परन्तु धर्म, दर्शन, अध्यात्म, नीति, आचार, सौन्दर्यशास्त्र आदि की ओर एकसाथ बहुतों की रुचि और प्रवृत्ति होती है। किन्तु इनका जो शास्त्रीय स्वरूप होता है उसकी ओर सभी की रुझान नहीं होती; वह भी विशिष्ट ज्ञान और रुचि का विषय हो जाता है। काव्य का सम्बन्ध इन सब विषयों से होता है, अतएव काव्य के माध्यम से प्रस्तुत इन विषयों में व्यापक जन-समुदाय की सहज अभिरुचि होना एक स्वाभाविक और वास्तविक बात है। यह एक तथ्य है। अतः व्यावहारिक समीक्षा के प्रयोग के लिए काव्य को चुनना ही अधिक उपयुक्त है।

उपर्युक्त उद्देश्यों के स्पष्टीकरण के साथ एक शंका यह उठ सकती है कि इस प्रकार के प्रयोगों का उद्देश्य सांस्कृतिक या शिक्षा-सम्बन्धी है, तो ऐसी समीक्षा से साहित्य का क्या सम्बन्ध है और इस प्रकार साहित्यिक समीक्षा या आलोचना के क्षेत्र में इसकी चर्चा क्यों होनी चाहिए? इस शंका का उत्तर हमें काव्य को इस उद्देश्य के लिए चुने जाने के कारण में प्राप्त हो जाता है। यद्यपि 'व्यावहारिक समीक्षा' (Practical Criticism) के लेखक का उद्देश्य साहित्यिक समीक्षा नहीं, फिर भी क्योंकि काव्य को ही इस प्रकार के प्रयोगों के लिए सर्वोपयुक्त समझा गया है, अतः उसका सम्बन्ध निश्चयतः साहित्यिक समीक्षा से हो जाता है। इस प्रकार काव्य-समीक्षा का यह व्यावहारिक रूप न केवल साहित्यिक अभिरुचि के स्तर का एक लेखा प्रस्तुत करता है, वरन् वह मानव-अनुभूति और विचारों का एक स्वाभाविक इतिहास बन जाता है।[1]

व्यावहारिक समीक्षा-सम्बन्धी प्रयोगों से यह बात स्पष्ट होती है कि भावों या विचारों का सहज और सरल प्रकाशन कितना कठिन है, साथ ही यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि समीक्षा का प्रयास भी भावों और विचारों के आदान-प्रदान की सहजतम रीति निकालना है। समीक्षा-सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त इसी के परिणाम

---

1. It serves, therefore, as an eminently suitable bait for any one who wishes to trap the current opinions and responses in this middle field for the purpose of examining and comparing them, and with a view to advancing our knowledge of what may he called the natural history of human opinion and falings.
— *Practical Criticism,* p. 6.

हैं, परन्तु वास्तविकता तो कुछ इस प्रकार की ही है कि वे सिद्धान्त या नियम बुद्धिमानों के लिए तो बड़े सहायक सिद्ध होते हैं, परन्तु अन्यों के लिए वे स्वयं एक भ्रम या उलझन डालनेवाली वस्तु बन जाते हैं।[1] मनुष्य की विविध अभिरुचियों और विभिन्न मनोवृत्तियों के परिणामस्वरूप तथा विभिन्न युगों की जीवन-शैली और आदर्शों की परिवर्तनशीलता और विकास के कारण कोई भी नियम या सिद्धान्त सर्वांगीण रूप से उपयोगी सिद्ध नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त-विशेष का आग्रह समीक्षा को अपनी सीमा में बाँधनेवाला भी होता है और उसके स्वच्छन्द विकास में बाधा पहुँचाता है, अतः उसके स्वच्छन्द और विकासशील रूप को ही प्रेरणा देने का प्रयत्न श्रेयस्कर है।

इस प्रकार व्यावहारिक समीक्षा के मार्ग में कठिनाइयाँ आ उपस्थित होती हैं। इन कठिनाइयों में से कुछ प्रमुख पर यहाँ विचार किया जाता है।

सबसे प्रथम कठिनाई है कविता के वास्तविक अर्थ-ग्रहण की। किसी भी छन्द का यथार्थ तात्पर्य ग्रहण करना अत्यावश्यक है, क्योंकि अन्य बातें इसी पर निर्भर करती हैं। यह बात आश्चर्यकारी है, परन्तु व्यावहारिक समीक्षा के प्रयोगस्वरूप जो निष्कर्ष निकाला वह यही था कि अधिकांश व्यक्ति कविता का अर्थ, सहज तात्पर्य नहीं समझ पाते और इसके परिणामस्वरूप उसमें व्यक्त भावानुभूति, ध्वनि और उद्देश्य को समझने में भी भ्रम कर बैठते हैं। यह भाव सरल, जटिल और क्लिष्ट सभी प्रकार की कविताओं के लिए सत्य बैठता है। किसी भी समीक्षा के लिए काव्य का अर्थ-ज्ञान तो प्रारम्भिक आवश्यकता है।

दूसरी इसी के समकक्ष कठिनाई है कविता के ऐन्द्रिक प्रभाव के ग्रहण की। यह तो निर्विवाद तथ्य है कि कविता में शब्दक्रम गद्य के शब्दक्रम से भिन्न होता है और उसका एक लयात्मक या ध्वन्यात्मक प्रभाव होता है। इस प्रभाव को ग्रहण करने के लिए हमारी श्रवण-शक्ति की योग्यता आवश्यक है। लयात्मक प्रभाव को ग्रहण कर सकने वाले व्यक्तियों पर जो प्रभाव किसी छन्द का पड़ सकता है वह अन्यों पर नहीं। हम कवि की तद्विषयक प्रतिभा और कविता के इस गुण की विशेषता नहीं जान सकते, यदि हममें ये लयात्मक संस्कार नहीं हैं। इस त्रुटि का परिहार किन्हीं अंशों में कवि द्वारा या किसी अन्य दक्ष व्यक्ति द्वारा लयात्मक ढंग से पढ़कर किया जा सकता है, परन्तु उसके भी समग्र प्रभाव का आनन्द लेने के लिए पाठक को इस दृष्टि से संस्कृत होना आवश्यक है।

ऐन्द्रिक प्रभाव का दूसरा रूप है दृश्य-दर्शन। इसका सम्बन्ध हमारी प्रत्यक्ष करने की शक्ति से है। कवि के भीतर प्रत्यक्षीकरण की शक्ति असाधारण रूप से

---

1. There has hardly ever been a critical rule, principle or maxim which has not been for wisemen a helpful guide, but for fools a will-o'-the wisp.—*I.A. Richards*

विद्यमान होती है और वह प्रत्यक्षीकृत वस्तुओं का वर्णन करता है। परन्तु प्रत्यक्ष करने का दृश्य-दर्शन की शक्ति सवमें बराबर या एक-सी नहीं होती। अतः इसके परिणाम-स्वरूप कविता में प्रस्तुत दृश्यों को हृदयंगम करने या उसके प्रभाव-ग्रहण के क्षेत्र में अन्तर हो जाना स्वाभाविक है। कभी हम कवि द्वारा उद्दिष्ट प्रभाव से अधिक प्रभाव ग्रहण कर लेते हैं और कभी उस तक पहुँच ही नहीं पाते। इस प्रकार विभिन्न कोटि के व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत समीक्षाओं में भिन्नता होना स्वाभाविक है। इसके साथ ही साथ एक बात और है। हमारे स्मृति-पटल पर अनेक पूर्ववर्ती घटनाओं और दृश्यों के चित्र अंकित रहते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम कोई पंक्ति पढ़कर अपनी स्मृति के संस्कारों के कारण, अपने अनुभूत, किन्तु विषय से पूर्णतया अप्रासंगिक दृश्यों और अभावों में मग्न हो जाते हैं जैसे कि कविवर बिहारी ने कहा है, 'मन है जात अजौं वहै वा जमुना के तीर' वैसे ही हम अपने किसी प्रिय कल्पना या सुधि से ओतप्रोत होकर और विषय से विच्छिन्न हो जाते हैं। यह भय, योग्यता या संस्कार की त्रुटि के कारण नहीं, वरन् एक स्वाभाविक-सी बात है, परन्तु इससे हम कविता की पंक्तियों का उद्दिष्ट या वांछित प्रभाव ग्रहण नहीं कर सकते यह भी सत्य है।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी ऐसा होता है कि संयोग से कवि उस भावना को प्रकट करता है जो हमारी अपनी भावना भी है। ऐसी दशा में हम उस भावना से इतने अभिभूत हो जाते हैं कि वह कवि की न रहकर अपनी हो जाती है। समीक्षा की दृष्टि से यह स्थिति भी आपत्तिपूर्ण है; क्योंकि ऐसी दशा में या तो हम कवि के साथ पक्षपात करेंगे या उसे कोई श्रेय न देंगे।

समीक्षा के क्षेत्र में भावुकता एक बहुत बड़ी कठिनाई है। इस भावुकता के वशीभूत होकर निश्चय ही या तो हम कुछ ऐसी अच्छाइयाँ देखने लगते हैं, जो उसमें हैं नहीं और या हम प्रसंग से पूर्णतया बहक जाते हैं। यहाँ पर यह बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि भावुक और भावक, सहृदय या समीक्षक में अन्तर है। वास्तविक गुणों का समुचित ग्रहण और प्रशंसा भावक या सहृदय का काम है जबकि भावुक अवास्तविक या काल्पनिक गुणों की प्रशंसा करता है। उसकी अभिव्यक्ति सदैव समीक्षा नहीं कही जा सकती।

इससे विपरीत स्थिति है अरसिकता की। इसमें पाठक या समीक्षक गुणों को देखते और प्रभावित होते हुए भी उदारता से उनकी प्रशंसा नहीं करना चाहता। यह दशा काव्य-गुणों और कवि के उत्साह पर पानी फेरनेवाली होती है। इसीलिए कहा गया है—"अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं, शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख।" अतः समीक्षा में इस अरसिकता की स्थिति से भी सावधान रहने की आवश्यकता है। एक और बहुत बड़ी कठिनाई है सैद्धान्तिक आग्रह। यह सैद्धान्तिक आग्रह दो रूपों में देखा जा सकता है। प्रथम इस रूप में कि कविता में सत्य या जीवन के सम्बन्ध

में क्या विचार प्रकट किये गये हैं। यदि पाठक या समीक्षक किसी विशेष सम्प्रदाय, विचार या सिद्धान्त का व्यक्ति है तो उस काव्य-खण्ड का मूल्यांकन उसके आधार पर करेगा। उसके होने पर उसकी प्रशंसा और न होने पर निन्दा की जा सकती है। अन्य सिद्धान्त या विचारधारा के कारण उसे निकृष्ट बताया जा सकता है। समीक्षक के सामने एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या काव्य का महत्त्व उसमें व्यक्त किसी विशिष्ट सिद्धान्त या विचारधारा के कारण है या इसके अतिरिक्त किसी अन्य बात पर? यदि विचारधारा इतर बात को इतना महत्त्व देती है, तो वह कविता की शैली या शिल्प हो सकता है? यहाँ भी सैद्धान्तिक आग्रह का प्रश्न सामने आ उपस्थित होता है। शिल्प और शैली से सम्बद्ध अनेक सिद्धान्त हैं। हम उनमें से किसी एक का आग्रह उस कविता में कर सकते हैं। यदि उसमें वही शिल्प-विधि या शैली अपनाई गई है, तो वह हमें अच्छी लगती है और यदि नहीं अपनाई गई है, तो वह कविता हमें दोषपूर्ण लगती है। भारतीय काव्य शिल्प-विधि के अनेक रूप अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि आदि हैं। यदि आज का काव्य हम उनमें से किसी कसौटी पर कसने लगें तो आवश्यक नहीं कि वह उसमें खरा ही उतरे। आज का काव्य आज के जीवन के अनुरूप और उससे सम्बन्ध रखता है। अतः इस प्रकार किसी शिल्प-सिद्धान्त का आग्रह भी समीक्षा के लिए उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त शिल्प-सम्बन्धी बातें तो माध्यममात्र हैं। अतः उन्हें साधनरूप में ही देखना आवश्यक है। साध्य तो कुछ और है। वह उसके अन्तर्गत व्यक्त विचार, भाव, जीवन-आदर्श, संस्कृति आदि कुछ हो सकता है। समीक्षक को देखना यह है कि वह उद्देश्य किस प्रभाव के साथ अभिव्यक्ति पा सका है। इसी में कवि की सफलता और कविता की उत्कृष्टता निहित रहती है।

उपर्युक्त कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ हैं जो व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उपस्थित होती हैं। इन बातों को सामने रखने पर देखते हैं कि मानव-अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में चार बातें सामने आती हैं जिन्हें हम अभिव्यक्ति के चार पक्ष कह सकते हैं। ये हैं—अर्थ, भावानुभूति, ध्वनि और उद्देश्य। किसी भी समीक्षक के लिए इन चारों पक्षों का समुचित ज्ञान अपेक्षित है। विभिन्न प्रकार की अभिव्यक्तियों में इन पक्षों की कमी या अधिकता देखी जा सकती है। एक वैज्ञानिक कृति के लिए अर्थ ही सर्वोपरि महत्त्व का है। उसका भावानुभूति, ध्वनि से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। हाँ, उद्देश्य अवश्य उसके अर्थ का पथ-प्रदर्शन करता है। परन्तु एक साहित्यकार या वक्ता के लिए भावानुभूति का पक्ष महत्त्वपूर्ण है, जहाँ पर वह अपने वक्तव्य या भाषण का प्रभाव डालना चाहता है। भाव के विशिष्ट प्रभाव के लिए ध्वनि का अपना स्थान है, विशेष रूप से कविता की स्मरणीय रमणीयता के लिए ध्वनि का सहारा आवश्यक है। उपदेशात्मक और सैद्धान्तिक उक्तियों में उद्देश्य प्रधान होता है। इस प्रकार विभिन्न अभिव्यक्तियों की प्रकृति के अनुसार इन चार पक्षों के स्वरूपों का प्राधान्य या उनकी अपेक्षा रहती है।

इन पक्षों का सम्बन्ध काव्य के तत्त्वों से भी जोड़ा जा सकता है। काव्य भी एक विशिष्ट प्रकार की अभिव्यक्ति है। वरन् यह कहा जाय कि काव्य एक सजीव और पूर्ण अभिव्यक्ति है तो असमीचीन न होगा। इस अभिव्यक्ति में शव्द, अर्थ, भाव, कल्पना और बुद्धि-तत्त्वों का सामंजस्यपूर्ण समन्वय रहता है। काव्य के अतिरिक्त अन्य उक्तियों में समस्त तत्त्व विद्यमान नहीं रहते। वैज्ञानिक उक्तियों में अर्थ और बुद्धितत्त्व प्रधान हैं। दार्शनिक उक्तियों में अर्थ, बुद्धि-तत्त्वों के साथ कभी-कभी कल्पना-तत्त्व का भी समावेश हो जाता है। शब्द-तत्त्व केवल अर्थ-तत्त्व का वाहक होकर आता है, उसका अपना पूर्ण स्वरूप प्रकट नहीं होता और उसकी ध्वनि-सम्बन्धी विशेषता प्रस्फुटित नहीं हो पाती। शास्त्रीय, धार्मिक और नैतिक उक्तियों में भी यही बात देखी जाती है। अतः वह काव्य या उसके समक्ष ही कोई उक्ति है जिसमें उन पाँचों तत्त्वों का समुचित एवं सजीव प्रभावपूर्ण सम्मिश्रण देखा जाता है। इसीलिए उक्तियों में सबसे महत्त्वपूर्ण काव्योक्ति मानी गई है। पूर्वोक्त चार पक्षों का समाहार भी इन पाँचों तत्त्वों में हो जाता है।

एक बात और है। अन्य उक्तियों में ये तत्त्व अपने सामान्य, नग्न या नीरस रूप में रहते हैं, परन्तु काव्योक्ति में इनमें से प्रत्येक तत्त्व अपने द्युतिमय, अलंकृत एवं सरस रूप में दिखाई पड़ता है। शब्द-तत्त्व को लीजिए। काव्य में यह केवल अर्थ का वाहकमात्र नहीं है, वरन् इसका अपना निजी आकर्षण है और सबसे पहले वही हमारे ध्यान को खींचता है। संगीतात्मक ध्वनि, काकु वक्रोक्ति और भावानुकूल गति या लय का प्रभाव और भाव-संचार करने की क्षमता शब्द-तत्त्व में ही प्रकट हो जाती है। उसका स्वरूप न केवल अर्थ को प्रकट करने में सहायक होता है, वरन् वह अन्य तत्त्वों को भी चमका देता है। काव्य में शब्द, रत्नों के समान दमक लेकर आता है, वह साधारण उपयोग का पत्थर मात्र नहीं रह जाता। उसकी द्युति में मन चमत्कृत होता और उसकी गति में वह झूम जाता है।

इसी प्रकार अर्थ-तत्त्व है। काव्य में अर्थ-तत्त्व शब्द के चमत्कार से पूर्ण होने के कारण अलंकृत रूप धारण करता है और अर्थ-व्यंजना का समावेश हो जाता है। वह अर्थ, कल्पना और अनुभूति को सजग करता चलता है। व्यंग्यार्थ काव्य में उद्दिष्ट और प्रधान हो जाता है, अतः शब्दों के सामान्य अर्थों से काम नहीं चलता जिसको हम तर्क की कसौटी पर अनर्गल कह सकते हैं।[1] वह काव्य में पूर्ण प्रभाव डालने में समर्थ होता है।

कल्पना और भाव-तत्त्व तो काव्य में ही प्रधानतया रहते हैं। काव्य में कल्पना और अनुभूति का माध्यम होने से अर्थ-तत्त्व भी प्रभावित होता है। आलंकारिक अभिव्यक्ति जैसी एक रूपक, उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति, प्रतीप, उपमा, अतिशयोक्ति आदि में पायी जाती

---

1. But those in direct devices for expressing feeling through logical non-sense, through statements not to be taken strictly, literally or seriously, through pre-emimently apparent in poetry are not peculiar to it. —*Practical Criticism*, p. 188.

है, कल्पना-प्रेरित होती है। अतः कल्पना और भावानुभूति को जाग्रत् करनेवाले काव्य के शब्द-विधान में वाक्य-रचना या शब्द-क्रम का व्याकरणिक महत्त्व नहीं रहता। समीक्षक को अर्थ-ग्रहण करने के लिए अपने अनुभव या सहज संस्कारों का सहारा लेना पड़ता है। प्रसंग, परम्परा और प्रयोग के आधार पर हम काव्यगत अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का मूल्यांकन कर सकते हैं। इसके बिना नहीं। कोरा तर्कसंगत अर्थ ही महत्त्व का नहीं होता।[1] शब्द की गति, ध्वनि और लोच से कल्पना के सम्मुख प्रस्तुत दृश्यावली से और अनुभूति पर पड़े प्रभाव से सामूहिक रूप में जो हमारी बुद्धि ग्रहण करती है अथवा जो वैचारिक संस्कार बनते हैं वही महत्त्वपूर्ण होते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने काव्य-रचना के व्यापार को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहैं सुजाना॥
जो बरसै वर वारि विचारू। होइ कवित मुक्तामनि चारू॥

अनुभूति में डूबी हुई, कल्पना या प्रतिभा में जब किसी सुन्दर विचार का प्रवेश वाणी की कृपा से होता है, तब कविता का जन्म होता है। इस प्रकार काव्यगत अर्थ, सामान्य अर्थ से भिन्न है और उसमें ध्वनि, भाव और कल्पना की विशेषताओं का समावेश सहज में ही रहता है। ध्वनि, शब्द-तत्त्व और छन्द के परिणामस्वरूप संगीत का गुण काव्य में भरती है। भाव सरसता और रोचकता की सृष्टि करते हुए हमारे मनोविकारों को जाग्रत् करते हैं जिससे हमारे भीतर तन्मयता और एकाग्रता आती है और कल्पना सजीव चित्रों को सामने रखती है जो भाव आदि के प्रेरक होते हैं। इस प्रकार संगीत, चित्रकला और मनोविज्ञान की विशेषताओं से युक्त काव्य एक रमणीय रचना बन जाता है। यह विशेषता अन्य उक्तियों में नहीं पायी जाती।

कल्पना-शक्ति के माध्यम से प्रस्तुत किया हुआ अप्रस्तुत विधान केवल अलंकार की सृष्टि नहीं करता, वरन् सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अनुभूतियों को प्रकट करने में समर्थ होता है।[2] अतएव अलंकार-विधान को सदैव नव्य रूप देना अनुभूति की सूक्ष्मता, तीव्रता और सघनता पर तथा कल्पना की शक्ति पर निर्भर करता है। इसी प्रकार काव्य में अर्थाभिव्यक्ति की प्रक्रिया साधारण न होकर जटिल होती है। आलंकारिकता उक्ति-वैचित्र्य या दृश्य-चित्रण के माध्यम से अभिव्यक्त भाव या तात्पर्य को उपर्युक्त कल्पना और अनुभूति-सम्बन्धी क्रियाओं को ध्यान में रखकर ही भलीभाँति सम्यक् रीति से ग्रहण किया जा सकता है।

पूर्वोक्त पक्षों या तत्त्वों में से किसी एक या अनेक को लेकर काव्य की अभिव्यक्ति या शिल्प-सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। परन्तु वे सभी काव्य के सम्बन्ध में सत्य होते हुए भी, सार्वकालिक काव्य की समीक्षा के उपयुक्त

1. I have urged above that non sense is admissible in poetry if the effect justifies it. —*Practical Criticism*, p. 194.
2. Most descriptions of feeling and nearly all subtle descriptions are metaphorical and of the combined type.
—*Practical Criticism*, p. 222.

नहीं हैं। काव्य की विशेषता उसकी नव्यता में है। युग की चेतना और अनुभूति को सँजोकर कवि जो नूतन अभिव्यक्ति करता है, उसमें उसका अनुभव और जीवन-दर्शन छिपा रहता है। मानव-सभ्यता और संस्कृति के विकास की नूतन मंजिलें जिस प्रकार ठीक पूर्ववर्ती या प्राचीन स्वरूप जैसी नहीं हो सकतीं उसी प्रकार उसकी समीक्षा के लिए पूर्ववर्ती या प्राचीन सिद्धान्त पूर्णतया उपयुक्त नहीं हैं। इस कारण से व्यावहारिक समीक्षा शिल्प-विधि-सम्बन्धी सिद्धान्तों के आग्रह से मुक्ति चाहती है। वह काव्य या उक्तियों में प्रकट धर्म, सम्प्रदाय या दर्शन-सम्बन्धी सिद्धान्तों के आग्रह से भी मुक्ति चाहती है; क्योंकि जीवन के नवीनतम प्रयोग, नित्य नये सत्य-सिद्धान्तों और नियमों की खोज करते रहते हैं और प्रगतिशील जीवन को बाँधकर रखने में प्राचीन या पूर्ववर्ती सिद्धान्त पूर्णतया सक्षम नहीं होते। अतः व्यावहारिक समीक्षा एक स्वतन्त्र समीक्षा-क्रम है।

इतना होते हुए भी अभिव्यक्ति और काव्य के मूल में विद्यमान जो तत्त्व हैं उनका प्रत्यक्षीकरण, यह समीक्षा अनिवार्य समझती है। किसी अभिव्यक्ति में उनका नूतन रूप किस तरह प्रकट हुआ है, यही उसकी सबसे बड़ी खोज है। उसकी कसौटी, अभिव्यक्ति की पूर्णता से सम्बद्ध आदर्श है जिसका स्वरूप समीक्षक या पाठक के अध्ययन, सुरुचि, संस्कार, सहृदयता आदि की समग्रता से बनता है। उस पर कविता का मूल्यांकन उसके द्वारा प्रभाव के आधार पर होता है। यह प्रभाव जितना ही सामाजिक होगा, कविता की उत्कृष्टता उतनी ही व्यापक होगी।

12. टिलियर्ड का वक्रता-सिद्धान्त

पाश्चात्य समीक्षा और साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में टिलियर्ड की बहुत कम चर्चा मिलती है; पर डॉ. मथुरेशनन्दन कुलश्रेष्ठ की पुस्तक *टिलियर्ड का वक्रोक्ति-सिद्धान्त* पढ़ने पर मुझे इस सिद्धान्त की जानकारी मिली। जैसा कि डॉ. कुलश्रेष्ठ का विचार है, टिलियर्ड का वक्रता-सिद्धान्त, कुन्तक की वक्रोक्ति से कम मिलता है, उसका साम्य कुछ अंशों में ध्वनि से है। टिलियर्ड ने अपने ग्रन्थ *पोइट्री : डायरेक्ट ऐण्ड आब्लीक (Poetry : Direct and Oblique)* में अपने ढंग से वक्रता-सिद्धान्त की स्थापना की है और उनका मत है कि कविता प्रायः वक्रोक्ति ही होती है, स्वभावोक्ति नहीं। भारतीय साहित्यशास्त्र में वक्रोक्ति का बड़ा महत्त्व है। भोज ने कहा है—

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।

वाङ्मय में वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति होती है। भोज ने रसोक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। वक्रोक्ति, अलंकार का मूल तत्त्व है। इसलिए भोज के अनुसार रसोक्ति, रस का आनन्द देनेवाली; वक्रोक्ति अलंकार का चमत्कार उपस्थित करनेवाली होने से, काव्य के अन्तर्गत महत्त्व रखती है; परन्तु स्वभावोक्ति सामान्य कथन का ढंग है, अतः वह वाङ्मय में तो है; पर काव्य में नहीं। वक्रोक्ति अलंकार का प्राण है—ऐसा भामह का मत है। उनकी मान्यता है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ।। 2/85

अतः रसोक्ति और वक्रोक्ति को ही काव्य में महत्त्व दिया गया है। ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर रसोक्ति ध्वनि है। इस प्रकार अलंकार की वक्रोक्ति और ध्वनि का महत्त्वपूर्ण स्थान हो जाता है। कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त, एक अलग सिद्धान्त है; जिसमें न केवल ध्वनि और अलंकार की विशेषताओं का, वरन् आधुनिक शैली-विज्ञान की विशेषताओं का भी समावेश है।

स्वभावोक्ति के सम्बन्ध में भी विद्वानों के मत दो प्रकार के हैं—कुछ लोग स्वभावोक्ति को अभिधा के रूप में स्वीकार करते हैं; परन्तु कुछ अन्य वक्रोक्ति और रसोक्ति को ही काव्य मानते हैं, स्वभावोक्ति को नहीं। यदि स्वभावोक्ति को काव्य माना जाता है, तो उसमें कोई न कोई काव्यगुण समाविष्ट हो ही जाते हैं, चाहे वे अलंकार की विशेषताएँ अथवा शब्द-शक्ति, ध्वनि आदि की हों। वृत्ति और गुणों की विशेषताएँ भी वक्रोक्ति न होने पर भी रहती हैं। अतः वक्रोक्ति या ध्वनि में किसी न किसी की विशेषताएँ कविता में रहती ही हैं। इस विषय पर भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काफी विचार किया है।

यह आश्चर्य की बात है कि काफी अंशों में उपर्युक्त बातों का समावेश, टिलियर्ड ने अपने ग्रन्थ *पोइट्री : डायरेक्ट ऐण्ड आब्लीक* में किया है। उनके इस विषय में किये गये स्वतन्त्र विचार, बहुत कुछ भारतीय काव्याचार्यों के विचारों से मिलते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि कविता, सीधे कथन या स्वभावोक्ति में नहीं होती। जिसे हम स्वभावोक्ति का काव्य कहते हैं उसमें भी थोड़ी-बहुत वक्रोक्ति रहती ही है। हम कम वक्रोक्ति या अधिक वक्रोक्ति की बात न कहकर, स्वभावोक्ति या सीधी कविता और वक्र कविता कहते हैं, क्योंकि कम या अधिक वक्रोक्ति कहना भद्दा लगता है।[1] इससे यह स्पष्ट हुआ कि सभी कविता, किसी न किसी अंश में वक्र या तिर्यक् उक्ति ही होती है—सीधी या सपाट नहीं। जिसे हम सीधी, सपाट या सहज कविता कहते हैं, उसमें भी वक्रता रहती है। इस बात को टिलियर्ड ने अनेक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है।

इस प्रकार वर्गीकरण और बोध की सुगमता की दृष्टि से कविता के दो वर्ग हैं—एक सरल कविता और दूसरी वक्र कविता। सरल कविता को टिलियर्ड ने तीन रूपों में रखा है—1. सीधे कथन, 2. अलंकृत या पोषित कविता, 3. अर्थाभास की या छद्म कविता। इन तीन कोटियों में वक्रता उभरकर नहीं आती। वक्र-काव्य, सामान्य न होकर विशिष्ट

---

1. The terms 'direct and oblique' are a false contrast. All poetry is more or less oblique. There is no direct poetry. But the terms 'less oblique' and 'more oblique' would sound ridiculous and the only way to the emphatic or even generally intelligible is by exaggeration to force a hypothetical and more convenient contrast. —*Poetry : Direct and Oblique*, p. 10. quoted by Dr. M.N. Kulshreshtha.

होते हैं और उनमें वक्रता प्रधान होती है। इस प्रसंग में टिलियर्ड ने वक्रता के क्षेत्र और वक्रता के साधनों पर विस्तार से विचार किया है। वक्रता के क्षेत्र को उन्होंने तीन भागों में प्रस्तुत किया है—1. सम्वेदनशीलता, 2. महान् सामान्यताएँ (The great common places), 3. आदिम वृत्तियाँ (The primitive) । टिलियर्ड का विचार है कि कवि की सम्वेदनशीलता औरों से अधिक गहरी होती है, परन्तु इससे भी बड़ी बात यह है कि वह अपनी सम्वेदनशीलता को, वक्रोक्ति द्वारा विशिष्ट और सम्प्रेषणीय बना देता है तथा पाठक या श्रोता को उसका अद्भुत आस्वाद कराता है। सम्वेदन अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण नहीं है, जब तक कि वह सम्प्रेषित न हो और सम्प्रेषित होना भी तब तक महत्त्वपूर्ण नहीं है, जब तक कि वह पाठक में भी उसको न जगा दे। सम्प्रेषणीयता के इस धरातल पर लाने के लिए, उसमें वक्रता के विधान की आवश्यकता रहती है। निश्चय ही यह वक्रता, व्यंजना या ध्वनि है, वक्रोक्ति नहीं।

महान् सामान्यतायें जीवन के सामान्य रूप के बीच कवि द्वारा खोजी गई महानतायें हैं। टिलियर्ड ने महान् को विचित्र, विशिष्ट और अपवादरूप होने से बचाने के लिए सम्भवतः महान् सामान्यतायें, शब्द का व्यवहार किया है। इन महान् सामान्यतायें अर्थात् गहरी और तीव्र वासनायें—सभी में रहती हैं। इसी से वे सामान्यतायें हैं, क्योंकि सभी में व्याप्त हैं। उनके सम्बन्ध में उपदेशात्मक कथन भी हो सकते हैं। जैसे क्रोध या ईर्ष्या-द्वेष, मनुष्य के लिए हानिकर हैं। परन्तु कवि अपनी व्यंजना-शैली के द्वारा सीधे न कहकर, उन्हें एक परिस्थिति की वक्रता में ढालकर प्रस्तुत करता है। अतः महान् सामान्यताओं के भीतर कवि को वक्र-व्यापार का पूरा क्षेत्र मिल जाता है। इसके द्वारा समाज के भीतर गहरे चिन्तन और मानव-प्रेम की भावना पैदा करता है।

टिलियर्ड के विचार से आदिम वृत्तियाँ भी कविता के लिए एक व्यापक और गहरा क्षेत्र प्रस्तुत करती हैं। यद्यपि मानव-समाज प्रगति के पथ पर काफी दूर तक अग्रसर हो गया है, फिर भी कुछ आदिम वृत्तियाँ, जैसे भय, दुःख, उल्लास, नीति-उपदेश आदि आदिम काल से आज तक मानव के बीच विद्यमान हैं। ये वृत्तियाँ बड़ी जोरदार होती हैं और टिलियर्ड के विचार से इनकी प्रभावशाली अभिव्यक्ति के लिए वक्रता का व्यापार ही समर्थ है।

वक्रता के क्षेत्र पर विचार करने के उपरान्त टिलियर्ड ने वक्रता के साधनों पर भी विस्तार से विचार किया है। इन साधनों में, लय, प्रतीक-योजना, गूढ़ सन्दर्भ, कथानक और चरित्र-चित्रण मुख्य हैं। इनमें से प्रत्येक साधन अपने सामान्य कार्य के अतिरिक्त जब अलग या कुछ विशिष्ट कार्य करता है, तब वह उसकी वक्रता का द्योतक होता है। लय, जिसका कार्य मस्तिष्क को प्रेरित करने, वर्ण्य विषय को उद्दीप्त करने के साथ-साथ अर्थ की नयी और अप्रत्याशित व्यंजना करती है, तब वक्रलय का कार्य सम्पन्न होता है।[1]

1. Rhythm is oblique when it does more than back up the professed sense, whether in backing up, it quite overwhelms that sense yet without denying it suggests something entirely alien to it. —Tilliyard : *Poetry : Direct and Oblique*, p. 58.

प्रतीक-योजना के सम्बन्ध में टिलियर्ड का विचार यीट्स के इस विचार से भिन्न है कि उन सभी कविताओं में जिनमें कहानी नहीं होती, और सीधा यथार्थ चित्रण नहीं होता, प्रतीकात्मक होती हैं। इसके विरोध में उनका मत है कि सभी कविता प्रतीक नहीं होती, पर जहाँ प्रतीक होता है, वह उस कविता को एक खास प्रकार की उदात्तता और गरिमा प्रदान करता है। पहला कठिन काम प्रतीकार्थ को खोजने का है। प्रतीकार्थ निश्चित हो जाने पर उससे जुड़ी अन्य व्यंजनायें और सन्दर्भ खुलने लगते हैं। वहीं प्रतीक वक्रार्थों को निकालने की प्रेरणा देते हैं। इसके साथ ही साथ प्रतीक के कारण रचना में श्लिष्टता, उदात्तता, संक्षिप्तता, कसावट आदि अनेक विशेषतायें भी आ जाती हैं। प्रतीक, अर्थ की वक्रता के द्वारा विशिष्ट गरिमा प्रदान करता है।

गूढ़ सन्दर्भ वास्तव में साहित्यिक सन्दर्भाभास होते हैं। जब कवि सुप्रसिद्ध काव्य पढ़ता है, तो उसके मन पर उसका प्रभाव बैठ जाता है और जाने-अनजाने उसके संकेत आ जाते हैं। उन संकेतों से काव्य में एक विशेष क्रान्ति आ जाती है, ये पौराणिक सन्दर्भों से भिन्न होते हैं और ऐसे साहित्य से होते हैं, जो अधिकांश लोग पढ़ते और सराहते हों, तभी किसी भी कविता में उसके सन्दर्भ आ जाने से वक्रार्थ आभासित हो जाता है। इस प्रकार अनजाने सहज-सन्निविष्ट साहित्यिक सन्दर्भ, वक्रता के एक साधन हो जाते हैं।

कथानक के महत्त्व को यों तो सभी जानते हैं, पर टिलियर्ड ने उसे अपने ढंग से प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि कथानक काव्य में तीन प्रकार के कार्य करता है। प्रथम तो वह कवि की मनःशक्ति की महानता और संयम-शक्ति को प्रस्तुत करता है। यह बात तब स्पष्ट होती है जब कवि कथानक के ढाँचे में भावोद्वेलन के प्रसंग और उत्तेजित वासनाओं की छटपटाहटवाली स्थितियाँ संयोजित करता है जिससे उत्तेजित वासनाओं और मनोवेगों को संयमित ढंग से वास्तविक घटनाओं के बीच प्रकट किया जा सके। द्वितीय यह कि उसके माध्यम से ही महान् सामान्यताओं को वक्र अभिव्यक्ति दी जा सकती है और तृतीय यह कि उसमें घटनाओं के कौशलपूर्ण आयोजन होने चाहिए।[1] कथानक के इन तीनों ही कार्यों द्वारा वक्र-व्यापार सम्पन्न होता है।

पाँचवाँ साधन चरित्र-चित्रण है। चरित्र को किसी रचना से अलग करके नहीं देखा जा सकता। उसका मूल्यांकन कृति या कथानक के अन्तर्गत रखकर ही किया जा सकता है। टिलियर्ड का विचार है कि जब किसी रचना में कोई चरित्र, स्मरणीय, प्रेरक और प्रभावशाली रूप में चित्रित किया जाता है, तो निश्चित रूप से उसमें अभिव्यक्ति की वक्रता विद्यमान रहती है। वह अनेक रूपों में हो सकती है जैसे उच्च विचारों को व्यवहार में लाने में, प्रेम और सचाई का सन्देश देने में, मनुष्य को सत्कार्य की प्रेरणा देने में तथा अन्य ऐसे कार्य करने में जिनके द्वारा जीवन-मूल्यों और संस्कृति की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है।[2]

1. *टिलियर्ड का वक्रोक्ति-सिद्धान्त* : डॉ. मथुरेशनन्दन कुलश्रेष्ठ, पृ. 49.
2. वही, पृ. 55.

इस प्रकार टिलियर्ड द्वारा यह स्थापित किया गया है कि वक्रतायुक्त काव्य ही उत्कृष्ट काव्य है, पर सरल काव्य का भी एक रूप उन्होंने स्वीकार किया है। परन्तु उनकी वक्रोक्ति-विषयक अवधारणा, प्रायः व्यंग्योक्ति से अधिक मिलती है। उसे हम ध्वनि और वक्रोक्ति का मिला-जुला रूप कह सकते हैं जिसकी टिलियर्ड ने अपनी मौलिक और स्वतन्त्र व्याख्या प्रस्तुत की है।[1]

(ख) प्रमुख वाद

1. अस्तित्ववाद

साहित्य का अस्तित्ववाद, आधुनिक युग के एक नवीन दर्शन से सम्बद्ध है। अस्तित्ववादी दर्शन का विकास वैयक्तिक परिस्थितियों और महायुद्ध की विभीषिका के बीच हुआ। इस विचारधारा का आरम्भ डेनमार्क के चिन्तक 'कीर्केगार्द' (1815-55) की विचार-पद्धति से हुआ। इसका आधार धार्मिक भावना थी। इनके पिता ने गरीबी से तंग आकर ईश्वर को कोसा। तत्पश्चात्, उन्हें ऐसा अवसर आया कि वे गाँव से कोपेनहेगेन नगर गये और वहाँ काफी सम्पन्नता प्राप्त की। वे बहुत सम्पत्ति और भवनों के मालिक हो गये। इतना ही नहीं, 1807 में जब अंग्रेजों द्वारा कोपेनहेगेन पर बमबारी की गयी, तो उसमें उनके भवन और सम्पत्ति क्षतिग्रस्त नहीं हुए। वे बड़े पवित्र धार्मिक ईसाई थे। इस सम्पन्नता और आश्चर्यजनक बचाव पर उन्हें अपने पाप की अनुभूति हुई कि मैंने जिस ईश्वर को कोसा था, वह कितना दयालु है। यह अनुभूति उन्हें जीवनभर विषादग्रस्त किये रही। पिता की इस विषण्णता का प्रभाव उनके प्रतिभासम्पन्न और संवेदनशील पुत्र सोरेन कीर्केगार्द पर बराबर रहा। वे सदैव इस भावना से ग्रस्त रहे कि पिता के पाप की छाया और ईश्वर का अभिशाप परिवार पर मँडरा रहा है। उनका यह विश्वास आगे चलकर उनकी माँ और पाँच भाइयों की मृत्यु से और भी पुष्ट हो गया। आगे विश्वविद्यालय में अध्ययन के समय इनकी प्रतिभा और व्यक्तित्व का सभी पर बड़ा प्रभाव पड़ा, परन्तु इनके भीतर जो एक विषाद और पीड़ा तथा उदासी की भावना भरी रहती थी, उसे लोग नहीं जान पाते थे।

इनकी उदासी के गहरी होने का एक और कारण था। इनका प्रेम एक सुन्दरी युवती से हो गया। इनके प्रस्ताव पर उसने स्वीकृति दे दी, परन्तु विवाह के बाद प्रसन्नता के स्थान पर विषण्णता और गहरी हो गयी। इन्हें यह अनुभव हुआ कि मैंने पाप किया है, क्योंकि मैं उस सुन्दरी के सामने सैकड़ों वर्ष का बुड्ढा हूँ। इस भावना के मन्थन के फलस्वरूप इन्होंने उससे तलाक ले लिया। उसके उपरान्त गम्भीर चिन्तन ने इनके भीतर घर कर लिया। अपनी डायरी और ग्रन्थों में अपने इस कार्य की जिम्मेदारी की भावना का प्रकाशन ये करते रहे। यह विच्छेद उनके लिए एक कुरबानी थी,

1. विस्तृत जानकारी के लिए देखिये—डॉ. मथुरेशनन्दन कुलश्रेष्ठ का ग्रन्थ : *टिलियर्ड का वक्रोक्ति-सिद्धान्त।*

एक त्याग था, जो ईसाई-धर्म में एक उच्च गुण माना जाता है। धीरे-धीरे भय की अवधारणा के साथ इन्हें आभास हुआ कि स्वतन्त्रता को तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता। वह एक अनुभूति है। आगे चलकर जब उस सुन्दरी ने दूसरा विवाह कर लिया तो उन्हें बड़ी निराशा हुई, क्योंकि इसके पूर्व वे इसे दिव्य दाम्पत्य-सम्बन्ध समझते रहे थे। इस निराशा के साथ इन्होंने आदर्शवाद की कटु आलोचना की। हीगेल के नियतिवाद और आदर्शवाद की भी इन्होंने आलोचना की। मानव-जाति से इन्हें घृणा हो गयी। इन्हीं सब परिस्थितियों के परिणामस्वरूप उन्होंने सारे जगत् और सत्ता की व्यवस्था पर प्रहार किया। हीगेल के विषयगत ज्ञान-व्यवस्था को अनिश्चित सिद्ध करके वैयक्तिकता को सत्य सिद्ध किया और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को महत्त्व प्रदान किया। यह स्वतन्त्रता की अनुभूति ही अस्तित्व है, जो अस्तित्ववाद का मूलाधार है। कीर्केगार्द ने इस भावना को भी प्रसारित किया है कि ईश्वर ने उन्हें चर्च की भ्रान्तियों को दूर करने का काम सौंपा है। आगे चलकर अस्तित्ववादी दो समुदायों में देखे जा सकते हैं—एक आस्तिक और दूसरे नास्तिक। आस्तिक अस्तित्ववादियों में कीर्केगार्द, जास्पर्स और गैब्रिल मार्सल मुख्य हैं तथा नास्तिक अस्तित्ववादियों में हेडेगर, काफ़्का, ज्याँ पॉल सार्त्र, कामू आदि प्रमुख हैं।

अस्तित्ववाद का महत्त्व और उसकी प्रतिष्ठा दार्शनिक इतिहास के क्षेत्र में उतनी नहीं हुई जितनी साहित्य के क्षेत्र में इसे प्रतिष्ठा मिली। अनेक अस्तित्ववादी चिन्तकों ने उत्कृष्ट साहित्य की रचना की जिसमें नाटक और उपन्यास विशेष रूप से आते हैं। डायरी और निबन्ध भी काफी लिखे गये और बाद में विश्व के विभिन्न देशों की कविता पर भी इसका प्रभाव पड़ा। साहित्य के क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट साहित्य के रचयिता सार्त्र और कामू हैं। अल्बेयर कामू को तो नोबेल पुरस्कार भी मिला। ये दोनों दार्शनिक लेखक फ्रेञ्च थे।

अस्तित्ववाद का मूलभूत कार्य परम्परागत दर्शन और व्यवस्था का खण्डन कर व्यक्ति-अस्तित्व की स्थापना है। अस्तित्व-तत्त्व की व्याख्या और उसके महत्त्व की प्रतिष्ठा उसका मूल उद्देश्य है।

अस्तित्ववाद मूलतः वैयक्तिकता का दर्शन है। इसका प्रस्थान-बिन्दु है 'मैं क्या हूँ?' इसी 'मैं' का ही अस्तित्व वह मानता है। अस्तित्ववाद 'स्व' या अहं के अस्तित्व की अनुभूति का दर्शन है। अहं के रूप में कार्य करना स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के द्वारा ही सम्भव है। व्यक्ति सृष्टि का अद्वितीय तत्त्व है। उसे पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। व्यक्ति पूर्व-निर्मित नहीं होता। वह निरन्तर बनता रहता है और आन्तरिक रूप से स्वतन्त्र होता है। उसके सामने चुनाव और निर्णय की समस्या बनी रहती है, परन्तु चुनाव और निर्णय पूरी तरह उसी का होता है। ईश्वर या कोई अन्य शक्ति उसके लिए चयन या निर्णय नहीं करती।

कीर्केगार्द के मत से अस्तित्व का अर्थ है ईश्वर के सामने अस्तित्ववान् होना जिसका अर्थ है स्वयं को पापी समझना। अतः अस्तित्ववान् होने का अर्थ है पापी

होना। इस प्रकार अस्तित्व पाप भी है और एक उच्चमूल्यसम्पन्न वस्तु भी। व्यक्ति अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक रहता है। उसी के माध्यम से अन्तस्थ ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहता है।[1] कीर्केगार्द के ये विचार आस्तिक अस्तित्ववादी के विचार हैं। मानव-व्यक्तित्व ही अस्तित्व से युक्त है। अन्य साकार निष्क्रिय अचेतन प्रकृति 'सारभूत' है। यही तत्त्व है। अस्तित्व पहले है, सारभूत या तत्त्व गौण और बाद में है, क्योंकि अस्तित्व के बिना तत्त्व का अनुभव सम्भव नहीं।

व्यक्ति तात्त्विक रूप से स्वतन्त्र है, पर सांसारिक परिस्थितियों के बीच फेंक दिया गया है। व्यक्ति प्रवृत्तियों, गुणों और बुद्धि से युक्त होकर पैदा होता है, यह सब उसके अधिकार के बाहर है। यही उसकी स्वतन्त्रता को परिमित करते हैं। हेडेगर इस नियामक तत्त्व को भाग्य की संज्ञा देता है। उसके विचार से व्यथा या वेदना, अस्तित्व का एक आधारभूत तत्त्व है। मानव-जीवन व्यथा से युक्त है। भय व्यथा का एक रूप है। हमें मृत्यु का भय पीड़ित करता रहता है। व्यथा मृत्यु से जुड़ी रहती है। मृत्यु कोई आकस्मिक वस्तु नहीं है। वह अस्तित्व का अन्त या शून्य है। हम अपनी स्वेच्छा से अस्तित्व धारण नहीं करते। हम उसके लिए मजबूर हैं। हम विराट् शून्य में भटकते रहते हैं और व्यथा की अनुभूति करते हैं। हेडेगर के विचार से 'मैं' या 'अहं' ही मानव-अस्तित्व का सच्चा रूप है। ये नास्तिक अस्तित्ववादी थे और इनका मत मृत्यु का दर्शन कहा जाता है।

जास्पर्स, कीर्केगार्द की परम्परा के आस्तिक चिन्तक थे। उन्होंने ईश्वर के स्थान पर 'सीमापारी' तत्त्व की प्रतिष्ठा की। यह तत्त्व अज्ञेय, ज्ञानातीत तथा अनन्त शक्तिवाला होता है। उनके विचार से आत्मा संकल्परूप है। वह रचनात्मक संकल्प है। अस्तित्व चेतना का अधिष्ठान है, वह चेतना से भिन्न नहीं है। वास्तव में अस्तित्व, आत्मा और संकल्प एक ही है। अस्तित्ववान् आत्मा चेतना और संसार से सम्बद्ध होती है। व्यक्ति जीवन इसलिए धारण करता है, जिससे वह आगे बढ़कर उस सीमापारी निरपेक्ष सत्ता की अनुभूति कर ले, जो उसकी नियामक है। संघर्ष, पाप और मृत्यु की चेतना, किसी अन्य नियामक तत्त्व की ओर संकेत करती है। वह तत्त्व संसार से भी परे है और अस्तित्ववान् जीव से भी परे है। वह तत्त्व अज्ञेय है। उस निरपेक्ष सत्ता का प्रतीकात्मक ज्ञान ही सम्भव है।

आस्तिक अस्तित्ववादी परम्परा में ग्रैब्रिल मार्सल भी आते हैं। इन्हें ईसाई अस्तित्ववादी विचारक माना जाता है। इन्होंने अस्तित्ववाद के तत्त्वों को ईसाई धर्म-ग्रन्थों में ढूँढ़ने का प्रयत्न किया। उनके विचार से मैं क्या हूँ? यही प्रमुख दार्शनिक समस्या है, किन्तु उनके विचार से 'अस्तित्व' समस्या नहीं, रहस्यानुभूति है। अस्तित्व को बुद्धि से नहीं समझा जा सकता है आत्मा, देह से भिन्न है, पर आत्मा की देहबद्धता ही अस्तित्व है—यही आत्मसाक्षात्कार है। ये विचार भारतीय उपनिषदों के

---

1. *आधुनिक पाश्चात्य काव्य और समीक्षा के उपादान* : डॉ. नरेन्द्रदेव वर्मा, पृ. 19.

दार्शनिक चिन्तन से काफी मिलते-जुलते हैं। मार्सल का विचार है कि हमारा उच्चतम विश्वास सीमापारी तत्त्व का बोध कराता है जिसे हम ईश्वर कहते हैं।[1] भारतीय विचार-परम्परा में कहा गया है कि 'विश्वासो फलदायकः'। गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है—

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धा-विश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम् ॥

इस प्रकार उसे परम तत्त्व की अनुभूति के लिए विश्वास आवश्यक है।

मार्सल के विचार से मृत्यु के क्षणों में हम अधिकारों से मुक्त हो जाते हैं और चिरन्तन जीवन में प्रवेश करने के लिए तैयार हो जाते हैं। मृत्यु शून्य में तिरोभाव नहीं, वह चिरन्तन जीवन की ओर अगला कदम है। उनका यह भी विचार है कि आत्मजीवी व्यक्ति में अपने और पराये का भेद नहीं होता। उसके भीतर महान् तत्त्व प्रेम विकसित हो जाता है। प्रेम में व्यक्ति अपनी सीमाओं का परित्याग कर देता है। प्रेमी व्यक्ति एक-दूसरे के जीवन में घुल-मिल जाते हैं और मैं और तुम का भेद नहीं रहता। आशा, एक आश्वासन है जो व्यक्ति और वस्तु के बीच तादात्म्य को स्थापित करता है। प्रेम और आशा दोनों ही विश्वास की धरती पर पनपते हैं। मार्सल के विचार कबीर के इन विचारों से तुलनीय हैं—

जा मरने से जग डरै, मेरे मन आनन्द ।
कब मरिहौ कब पाइहौ, पूरन परमानन्द ॥
तूँ तूँ कहता तू भया, मुझमें रही न हूँ ।
बारी फेरी बलि गई, जित देखूँ तित हूँ ॥

वास्तव में इसका कुछ साम्य सूफी भावना से भी है।

नास्तिक अस्तित्ववादी विचारकों में हेडेगर के बाद ज्याँ पॉल सार्त्र प्रमुख हैं। सार्त्र अपने अस्तित्ववादी रचनात्मक साहित्य के कारण काफी लोकप्रिय और विश्वविख्यात हुए। इनके उपन्यास और नाटक काफी प्रभावकारी हैं।

सार्त्र के विचार से अस्तित्व आकस्मिक, कृत्रिम और विवेकहीन होता है। उनके विचार से वस्तु भैतिक पदार्थ है, परन्तु तत्त्व उससे भिन्न है। वे तत्त्व को ही चेतना मानते हैं। वस्तु चेतन नहीं होती। चेतना, वस्तु के निषेध पर प्रकट होती है। चेतना प्राप्त करने के लिए हमें जीवन की सीमा से बाहर आकर अपने को शून्य बनाना पड़ता है। सचेतन होकर ही हम अपने अस्तित्व को प्राप्त करने के लिए अग्रसर होते हैं। परन्तु अन्य का अस्तित्व मेरा चिरन्तन विरोधी होता है। वह मेरे अस्तित्व से टकराता है। रहस्य यह है कि व्यक्तियों के एक-दूसरे के सम्बन्ध विरोध के होते हैं, क्योंकि एक का अस्तित्व दूसरे के अस्तित्व का विरोधी है।

सार्त्र के चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु 'स्वतन्त्रता' है। अस्तित्व और स्वतन्त्रता, परस्पर

1. *आधुनिक पाश्चात्य काव्य और समीक्षा के उपादान* : डॉ. नरेन्द्रदेव वर्मा, पृ. 29-30.

समानार्थी हैं। परिस्थितियाँ व्यक्ति की शक्ति को नियमित करती हैं, पर वे स्वतन्त्रता को सीमित नहीं कर सकतीं। मनुष्य स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य है। उनके विचार से मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। अतः ईश्वर को नियामक समझने की आवश्यकता नहीं। मूल्य शाश्वत नहीं है और न ईश्वर मूल्यों का स्रोत ही है। व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से मूल्यों का निर्माण करता है। मनुष्य आत्मचेतन, आत्मप्रबुद्ध एवं स्वाधीन है। स्वाधीनता की स्थिति में ही उसकी रचनात्मक क्रिया सम्भव होती है। संसार की वस्तुयें अपने-आप में मूल्यहीन होती हैं। मनुष्य ही उन्हें मूल्यवत्ता प्रदान करता है। वही नैतिक मूल्यों का मानदण्ड भी निर्धारित करता है। मनुष्य का अस्तित्व उसके कार्यों और जीवन में ही है। अतः मेरे जीवन के दायित्व और कार्यों का बोझ मेरे ही ऊपर है। मैं अपना कार्य स्वयं चुनता हूँ। अच्छे कार्य का चुनाव मैं अपने लिए नहीं, वरन् संसार के लिए करता हूँ। अतः इस बोझ का दायित्व मुझमें व्यथा और उदासी भर देता है।

अन्य दर्शनों के समान अस्तित्ववादी दर्शन में भी ईश्वर जीव, जगत् या प्रकृति से सम्बद्ध विचार मिलते हैं, परन्तु वे एक व्यवस्थित दर्शन या व्यवस्था पर विश्वास नहीं करते थे। फिर भी भारतीय शब्दावली में उन्हें आत्मवादी दार्शनिक माना जा सकता है। उनके लिए मुख्य बात अस्तित्व है। अस्तित्व का तात्पर्य अहं या 'मैं' की अनुभूति है। अहं की अनुभूति आत्मानुभूति है। इस अहं या 'मैं' के साथ ही, इस दर्शन की दूसरी विशेषता यह है कि 'मैं' या व्यक्ति यह अनुभव करे कि मैं स्वतन्त्र हूँ और अपने कार्य का चुनाव तथा निर्णय स्वयं कर सकता हूँ। मेरे इस चुनाव या निर्णय में किसी बाहरी शक्ति का नियन्त्रण या हाथ नहीं है। परन्तु स्वतन्त्र होते हुए भी व्यक्ति अच्छे कार्य का निर्णय क्यों करता है? वह अच्छे कार्य का निर्णय, अपने लिए नहीं, संसार के लिए करता है। इस स्थिति में अच्छे कार्य का सारा भार या बोझ उसके सिर पर आ जाता है। इस बोझ का अनुभव करके वह उदास और व्याकुल हो जाता है। यही उदासी अस्तित्ववादी दार्शनिक की निराशा, विषण्णता या पलायन की प्रवृत्ति को जन्म देती है। अस्तित्ववाद में अस्तित्व की अनुभूति तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना के साथ-साथ यह भी बड़ी गहरी अनुभूति रहती है कि वह अपने 'अस्तित्व' के लिए स्वतन्त्र नहीं है। उसका अस्तित्व सांसारिक विषम परिस्थितियों के बीच फेंका हुआ अस्तित्व है। इसके लिए वह विवश है। अपनी परिस्थितियों के मध्य की विवशता, व्याकुलता और सन्त्रास की अनुभूति भी अस्तित्ववाद की विशेषता है। अस्तित्ववादी कभी-कभी अपने कर्मों पर पश्चात्ताप और पाप के प्रायश्चित का भी अनुभव करता है। परन्तु यह अनुभूति प्रायः आस्तिक या ईश्वरवादी की अनुभूति है। कीर्केगार्द का स्पष्ट मत है कि पाप की अनुभूति, ईश्वर के समक्ष ही होती है, जो ईसाई-धर्म की विशेषता के कारण है। ईश्वर के सान्निध्य में पापानुभूति भारतीय दर्शन में भी मिलती है। परमात्मा के समक्ष, आत्मा क्षुद्र, पतित और पापी ही दिखती है। जो भी आत्मानुभूति के साथ-साथ परमात्मा का साक्षात्कार भी करता है, वह निश्चय ही अपनी हीनता का अनुभव

करेगा। परन्तु अनीश्वरवादी या नास्तिक इस पश्चात्ताप की अनुभूति को पीड़ा, व्याकुलता आदि की अनुभूति के रूप में देखता है, जबकि ईश्वरवादी अथवा आस्तिक अपनी अनुभूति के साथ-साथ ईश्वर या सीमापारी की भी अनुभूति करता है। वह अपने 'अस्तित्व' का कारण, उस परोक्ष, निरपेक्ष सत्ता या तत्त्व को ही मानता है। वह अपने 'अस्तित्व'-बोध को उस निरपेक्ष परमतत्त्व की अनुभूति या साक्षात्कार का माध्यम मानता है।

अस्तित्ववादी दर्शन में जागतिक पदार्थों या वस्तु को 'अस्तित्वविहीन' माना जाता है। उनमें कतिपय विशेषताओं या गुणों का समुच्चय तो है, पर वे 'अस्तित्व' से सम्पन्न नहीं हैं। उनमें अपने होने की अनुभूति या चेतना का अभाव है। व्यक्ति में भौतिक वस्तु की विशेषताओं और गुणों के साथ-साथ चेतना भी है। अपनेपन का आभास भी है। यही अस्तित्व की विशेषता है। भारतीय दर्शन के अनुसार यह जीव की विशेषता है जो जड़ तत्त्व के साथ-साथ चेतना से भी सम्पन्न होता है। भौतिक शरीर चेतना से सम्पन्न होकर ही अस्तित्व को प्राप्त करता है। कुछ अस्तित्ववादियों, विशेषकर सार्त्र का मत है कि प्रत्येक मनुष्य भी अस्तित्ववान् नहीं होता। अस्तित्ववान् वही है, जो अनुभव करता है कि 'मैं' हूँ और मैं अपने चयन, निर्णय और कार्यों में स्वतन्त्र हूँ। जो यह अनुभव नहीं करता वह अस्तित्ववान् नहीं है। 'अस्तित्व' व्यक्ति के निर्णय, कार्यों और स्वतन्त्र होने की भावना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परन्तु इसकी मूल भावना एक प्रकार से मानसिक रिक्तता की है। क्योंकि इसमें प्राचीन दर्शन तथा जीवन-मूल्यों के प्रति अनास्था से तथा परम्परा और मर्यादाओं से मुक्ति की भावना से इसका जन्म हुआ तथा नयी मान्यतायें बन भी नहीं सकीं और जो बनीं उन पर पूर्ण विश्वास न होने तथा परमस्वतन्त्र होने के साथ ही कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व से पलायन करने की भावना के प्रधान होने से, यह एक रिक्तता का अथवा पलायन का मार्ग है।

अस्तित्ववाद में इस प्रकार ईश्वर, जगत् और जीव पर बारीकी से विचार किया गया है। अस्तित्व की अनुभूति मनुष्य में ही मानी गयी है, जड़ पदार्थों, वनस्पतियों और पशु-पक्षियों में नहीं; क्योंकि वे विवश हैं तथा अपना स्वयं कार्य-चयन तथा जीवन के उत्थान और प्रगति का निर्णय नहीं कर सकते। वे स्वतन्त्र नहीं हैं। अतः अस्तित्ववाद में व्यक्ति की अद्वितीय सत्ता की प्रतिष्ठा की गयी है, जैसी कि पूर्ववर्ती दर्शनों में अप्राप्य है। अस्तित्व का पूर्ण स्वरूप, पूर्ण सचेतन और स्वतन्त्र स्थिति में जीने के समय ही माना गया है, इस स्थिति के सोचनेभर की स्थिति में नहीं। इस प्रकार का व्यावहारिक जीवन जीना कठिन है। वह सन्त-महात्माओं का ही जीवन हो सकता है। अतः अस्तित्ववादी विचारकों ने 'अस्तित्व' की अवधारणा के अनुरूप जीवन जीनेवाले चरित्रों की सर्जना कर, ऐसे साहित्य—विशेष रूप से नाटक और उपन्यास-साहित्य की रचना की जिसमें अस्तित्ववाद का पूर्ण स्वरूप, उनमें घटित किया गया। इस प्रकार अस्तित्ववादी दर्शन का व्यावहारिक रूप अस्तित्ववादी साहित्य है। उन्होंने अपने साहित्य में परम स्वतन्त्र या 'मुक्त पुरुष' का चित्रण करना चाहा है। परन्तु जो

अस्तित्ववादी साहित्य उपलब्ध होता है उसमें जीवन के प्रति रुचि देखने को नहीं मिलती। उसके पात्रों में जिजीविषा और जीवन के लिए उत्साह, साहस और कर्मठता का अभाव रहता है, क्योंकि वे कर्त्तव्य को भार और बोझ समझते हैं। यह बोझ उन्हें ऊब और उदासी से भर देता है। अतः अस्तित्ववादी साहित्य समाज के लिए प्रेरणा देनेवाला और उत्साहवर्धक साहित्य नहीं है।

इस साहित्य का महत्त्व यही है कि अस्तित्ववाद के अनुसार इसमें मानव को स्वतन्त्र रूप में प्रतिष्ठित किया गया। उसमें उनकी सभी भावनाओं और क्रिया-कलापों का चित्रण किया गया है, जिनके चित्रण की पहले स्वतन्त्रता नहीं थी। अस्तित्व की अनुभूति और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पूर्ण रूप इसमें देखने को मिलता है। इसमें यह आध्यात्मिक भावना भी एक समुदाय की विचारणा के अनुसार काम करती है कि मनुष्य या व्यक्ति अस्तित्व की स्थिति से ही चरम तत्त्व तक पहुँच सकता है। मनुष्य के जीवन में ही वह सम्भव है, अन्य प्राणियों में नहीं।

2. आदर्शवाद और यथार्थवाद

आदर्शवाद बहुत प्राचीन समय से चला आता है; परन्तु यथार्थवाद मध्यकाल और आधुनिक काल की विशेष देन है। पाश्चात्य दर्शन-साहित्य में आदर्शवाद (Idealism) का सम्बन्ध बौद्धिक सत्य से था और उसका विलोम शब्द वस्तुवाद या पदार्थवाद था। आदर्शवाद या आइडियलिज़्म आइडिया (Idea) से बना है और उसका तात्पर्य यह हुआ कि सत्य का वह रूप जो हमारी बुद्धि में आता है। यही आदर्श बनता है और किसी वस्तु या पदार्थ का रूप हम उसी के आधार पर व्याख्यायित करते हैं। यूनान के सोफिस्ट जो बौद्धिक या विचारगत सत्य है, उसे व्यक्ति की प्रतीति के रूप में तथा जो शिव या कल्याणकारी है, वही व्यक्ति की रुचि के रूप में देखते थे। परन्तु सुकरात ने वस्तुगत या पदार्थगत सत्य को महत्त्व प्रदान किया। इसी प्रकार प्लेटो भी बुद्धिगत सत्य को महत्त्व प्रदान करते हैं; क्योंकि उनके विचार से वस्तुगत या इन्द्रियगोचर वास्तविक पदार्थ, बुद्धिगत सत्य का परिणाम है। इस प्रकार प्लेटो आदर्शवादी थे; क्योंकि वे मूल सत्य को विचार और वस्तु सत्य को उसकी अनुकृति मानते थे। प्रकृति, उस परम सत्य या सृष्टिकर्त्ता के विचार की अनुकृति है और कला उस प्रकृति की। परन्तु अरस्तू, वस्तुवादी या यथार्थवादी थे। वे वस्तु और पदार्थ का स्वतन्त्र अस्तित्व मानते थे और वास्तविक ज्ञान के लिए बुद्धि से अधिक ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष की आवश्यकता पर बल देते थे। इस प्रकार विचार और कला की भूमि पर आदर्शवाद और यथार्थवाद का द्वन्द्व प्राचीन काल से ही देखने को मिलता है।

मध्यकाल में यूरोप में ईसाई-मत का व्यापक प्रभाव छा गया। परिणामस्वरूप धार्मिक जीवन और नैतिक धारणाओं का वातावरण बन गया। धर्म में समाविष्ट और उपदिष्ट जीवन के लिए ऐन्द्रिक सुखों को मान्यता नहीं दी गयी। धार्मिक आदर्शवाद मध्ययुग में प्रधान हो गया। जीवन और साहित्य दोनों ही नैतिक और धार्मिक आदर्शों में बँध गये। इस धार्मिक और नैतिक मान्यताओं, विशेष रूप से नैतिक और सामाजिक

प्रतिबन्धों के विपरीत स्वच्छन्दतावाद का जन्म हुआ। पर वह भी आदर्शवाद का ही रूप था। क्योंकि उसकी मान्यता थी, प्रकृति और मानव के सौन्दर्य का सच्चा रूप मन की आँखों या कल्पना के द्वारा ही देखा जा सकता है। चर्म-चक्षुओं से जो दिखाई देता है, वह पूर्ण सौन्दर्य की एक झलक मात्र है। उसका पूर्ण दर्शन मन और अन्तः-करण में ही प्राप्त होता है। यह आदर्शवाद का सामाजिक और नैतिक रूप नहीं, वरन् सौन्दर्यात्मक आदर्शवाद है। जहाँ भी वस्तु, व्यक्ति और दृश्यमान जगत् का बाह्य प्रत्यक्ष और वस्तुगत रूप महत्त्व का न होकर, उसका आन्तरिक, भावना और विचार में आया गुण सौन्दर्यमय रूप महत्त्व का होता है; वहीं आदर्शवाद होता है।

आदर्शवाद मूल्य-परक होता है। यह एक साहित्यिक दृष्टिकोण है जिसके द्वारा किसी रचना का उद्देश्य उच्च, उदात्त चरित्रों, गुणों और अनुकरणीय सामाजिक व्यवहार या व्यवस्था की स्थापना अथवा सामान्य, नीच चरित्रों, अवगुणों और घृणित व्यवहार के प्रति घृणा की भावना जाग्रत् की जाती है। परन्तु आदर्शवाद का अर्थ पूर्णतया हवाई या अयथार्थ का चित्रण नहीं होता। उच्च और उदात्त मूल्यों का चित्रण विश्वसनीय यथार्थ के धरातल पर किया जाता है। इस प्रकार आदर्शवाद कई रूपों में हमारे सामने आता है।

एक रूप है **निर्वैयक्तिक या तटस्थ आदर्शवाद** । आदर्शवाद का यही रूप प्रमुख है। इसकी मान्यता है कि चेतन प्रथम है और जड़ उसके बाद का रूप है। यह संसार परमचेतन या विश्वचेतना के अनुसार या उसकी इच्छानुसार निर्मित प्रकृति का व्यापक रूप है। आदर्शवाद का यह रूप वस्तुवाद (Materialism) का विरोधी है। यह अलौकिक परम चेतना को विश्व का कारण मानता है। रहस्यवादी अनुभूतियाँ और धार्मिक मान्यतायें, इसी पर आधारित हैं। भारतीय वेदान्त-दर्शन, चीन का कन्फ्यूशियसवाद तथा प्लेटो की मान्यतायें इसी निर्वैयक्तिक या व्यापक सार्वभौम आदर्शवाद के अन्तर्गत हैं। परमात्मा या परमेश्वर ही विश्वचेतना के रूप में अनेक धर्मों और दर्शनों में स्वीकार किया गया है। इसमें यह भी अवधारणा निहित है कि परमात्मा या परमचेतना शाश्वत है। उसका विनाश नहीं होता। उसी से विचारों का संसार सम्बद्ध है। जबकि संसार की दृश्यमान वस्तुयें उसी की छाया या प्रतिबिम्ब हैं और नाशवान् हैं। शेलिंग और हीगेल भी चरम आदर्शवाद को मान्यता देते हैं। यह पदार्थवाद का विरोधी है तथा संसार के आस्तिक धर्मों का स्रोत भी आदर्शवाद का यही रूप है। दान्ते, मिल्टन, गोयठे आदि की रचनाओं का भी यही वैचारिक आधार है। सेण्ट आगस्टाइन, टामस एक्वाइनस आदि की मान्यतायें भी इसी पर आधारित हैं।

वैयक्तिक आदर्शवाद दूसरा रूप है। इसकी मान्यता यह है कि निर्वैयक्तिक सत्ता कोई नहीं है। जो चेतन-सत्ता है, वह व्यक्ति-सत्ता है और वह वैयक्तिक अनुभूति, संवेदन, संवेग, भावना और कल्पना का मिला-जुला रूप है। व्यक्ति इन्हीं से बने संसार में रहता और कार्य करता है। भावना का यही जगत्, विश्व का प्रमुख अंग है। बर्कले, फ़िक्टे, ह्यूम तथा काण्ट इसी विचारधारा के थे। आगे चलकर इसी का विकास, नीत्शे, बर्गसाँ के विचारों में हुआ तथा अस्तित्ववादी विचारक इसी मान्यता

से प्रभावित थे। बीसवीं शताब्दी में वैयक्तिक आदर्शवाद की परिणति यथार्थवाद में हो गयी। वास्तव में निर्वैयक्तिक और वैयक्तिक आदर्शवाद, केवल दार्शनिक क्षेत्र में महत्त्व रखते हैं। साहित्यिक क्षेत्र में इनका भेद परिलक्षित नहीं होता।

अन्य रूप हैं भौतिक (Physical) आदर्शवाद और जैविक (Physiological) आदर्शवाद। ये भी दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में ही महत्त्व रखते हैं। भौतिक आदर्शवाद, भौतिक विज्ञान से प्राप्त नये ज्ञान-क्षेत्रों से सम्बन्ध रखता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसी से प्रभावित है। भौतिकी की खोजों के फलस्वरूप मानव-ज्ञान के विस्तार का जो प्रभाव पड़ा, वह भौतिक आदर्शवाद के क्षेत्र के भीतर है।

साहित्य में आदर्शवाद, अपने दार्शनिक मतवाद से कुछ भिन्न रूप में आया है। जहाँ पर सद्वृत्तियों की कुवृत्तियों पर विजय दिखाई जाती है और उच्च, उदात्त, त्यागी, परोपकारी सज्जनों की उन्नति एवं दुष्ट, नीच, अनिष्टकारी दुर्जनों की दुर्गति दिखायी जाती है, वह चित्रण साहित्य में आदर्शवाद माना जाता है। जो साहित्य, समाज को प्रगति और उन्नति के मार्ग पर चलने की प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान करता है तथा जिसके चरित्रों के आचरण अनुकरणीय एवं समाज का कल्याण करने वाले होते हैं, जिसमें जीवन के उच्च मूल्य भलीभाँति प्रतिफलित होते हैं, वह साहित्य आदर्शवादी कहलाता है।

यों समाज में भले और बुरे दोनों ही प्रकार के लोग रहते हैं और साहित्य में दोनों ही का चित्रण होता है। आदर्शवादी कहे जाने वाले साहित्य में भी अच्छे चरित्रों के साथ, बुरे चरित्रों का चित्रण होता है; पर देखना यह पड़ता है कि साहित्यकार का दृष्टिकोण क्या है? यदि वह समाज की बुराइयाँ दिखाते हुए भी उन्हें दूर करने और उनसे बचने की प्रेरणा देता है, तो यह चित्रण भी आदर्शवादी ही होगा। आदर्शवाद, एक विशेष दृष्टिकोण की मानसिकता के साथ, उदात्त प्रेरणा देनेवाला साहित्य है पर जब बुराई का ही चित्रण होता है और उस चित्रण के पीछे कोई ऐसा दृष्टिकोण नहीं रहता या बुराइयों को हटाने या उनसे बचने की कोई प्रेरणा नहीं रहती, तो उसे आदर्शवादी न कहकर यथार्थवादी दृष्टिकोण कहा जाता है।

आदर्शवाद का उद्देश्य यथार्थ का पूर्ण निषेध नहीं है; वरन् यथार्थ का चित्रण करते हुए उदात्त प्रेरणा देना होता है। इसलिए आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों एक-दूसरे से ओतप्रोत रहते हैं। लेखक जिसकी स्थापना करना चाहता है, उसी के अनुसार उसे आदर्शवादी अथवा यथार्थवादी साहित्य कहा जाता है।

यथार्थवाद (Realism) : यथार्थवाद, वास्तव में आदर्शवाद का पूर्णतः विरोधी नहीं है। आदर्शवाद का विरोधी वस्तुवाद या पदार्थवाद है। यथार्थवाद का आदर्शवाद से विरोध इस बात में देखा जा सकता है कि वह वस्तु और पदार्थ-सत्ता का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करता है। विचार या मनस्तत्त्व का परिणाम या परवर्ती रूप में पदार्थ-सत्ता को वह नहीं मानता। उसकी मान्यता है कि कोई वस्तु, हमारे लिए प्रत्यक्ष या इन्द्रियगम्य होती है, इसीलिए उसकी सत्ता नहीं है, वरन् हमारी दृष्टि या अनुभव-

क्षेत्र में न आने पर भी वस्तु की सत्ता होती है। वस्तु या पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता है। अतः वस्तु, पदार्थ या जीवन के कार्यकलाप का जैसा है, वैसा ही वर्णन यथार्थवाद है तथा उसका स्वरूप कैसा होना चाहिए, वैसा वर्णन आदर्शवाद है, क्योंकि हम आदर्शवाद के वर्णन में यथार्थ का आधार लेकर, शेष वर्णन अपने विचार और कल्पना के आधार पर करते हैं। किसी भी वस्तु या व्यक्ति में अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की विशेषतायें होती हैं। आदर्शवाद उनके अच्छे और उपयोगी पक्ष पर प्रकाश डालता है, इसके विपरीत यथार्थवाद बुरे पक्ष को उभारता है। वास्तविकता दोनों में होती है। एक वर्णन में मानसिक पक्ष प्रधान होता है और दूसरे में इन्द्रियगोचर पक्ष। साहित्य के अन्तर्गत आदर्श और यथार्थ की प्रवृत्तियाँ इन्हीं रूपों में देखी जाती हैं।

कला और साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवाद वह प्रवृत्ति है जिसमें वस्तुओं और व्यक्तियों के वास्तविक स्वरूप का, पारस्परिक सम्बन्धों का तथा उनके गुण-दोषों का सही वर्णन किया जाता है। इस प्रवृत्ति का दर्शन, साहित्य में मध्य युग के प्रारम्भ से ही होता है; परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य से उसका पूर्णरूप दिखाई देता है। उस समय के यथार्थवाद को 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' कहा गया है—बाल्ज़ाक, चार्ल्स डिकेन्स, गोगोल, ताल्स्ताय आदि इसके प्रमुख लेखक हैं जिन्होंने मानव-जाति की बुराइयों का उद्घाटन किया तथा सामन्तवाद और मध्यवर्गीय समाज की छिपी हुई बुरी प्रवृत्तियों का पर्दाफाश करके समाज को उनसे बचने की प्रेरणा प्रदान की। साथ ही सामाजिक और जनतान्त्रिक आदर्शों के संस्कार बनाये। यह आलोचनात्मक यथार्थवाद आज भी पूँजीवादी देशों के भी प्रगतिशील लेखकों की रचनाओं में देखने को मिलता है। यथार्थवाद की कलावादी उपलब्धियों से ही सामाजिक यथार्थवाद का आधार बना।

मध्ययुगीन यथार्थवाद ने इस बात को प्लेटो की परम्परा कायम रखते हुए स्वीकार किया कि सार्वभौमिक अवधारणायें वास्तविक सत्ता रखती हैं और वस्तुओं की एकाकी सत्ता के पूर्व में विद्यमान रहती हैं। धारणा और पदार्थ के बीच के सम्बन्धों को भी उसमें स्वीकार किया गया। कैथोलिक विचारों का भी वही आधार बना।

प्रकृत यथार्थवाद वास्तव में यथार्थवाद का वह रूप है जो प्रत्येक व्यक्ति के भीतर भौतिक वस्तुओं के प्रति सहज बोध के रूप में दिखाई देता है। इसमें यह विश्वास निहित रहता है कि प्रत्येक भौतिक पदार्थ की मानव-चेतना से अलग स्वतन्त्र सत्ता है। यह सहज यथार्थवाद तो है, पर इसका कोई सैद्धान्तिक महत्त्व नहीं है।

समाजवादी यथार्थवाद : कला और साहित्य की वह प्रवृत्ति है जिसमें सच्ची और ठोस ऐतिहासिक वास्तविकता की समझ देखी जाती है, जो क्रान्तिकारी आन्दोलनों से उपलब्ध विकास और साम्यवादी सौन्दर्यात्मक आदर्शों के प्रकाश में प्राप्त होती है। समाजवादी यथार्थवाद के विकास, प्रगतिशील, क्रान्तिकारी, सामाजिक शक्ति के रूप में श्रमिक-समाज के उदय के साथ-साथ हुआ, यह मानव-मूल्यों का सही प्रतिनिधि बना। समाजवादी यथार्थवाद का चित्रण करनेवाला साहित्य, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रचा

जाने लगा। गोर्की का साहित्य इसका प्रतिनिधित्व करता है। आगे चलकर यह मानव के कलात्मक विकास का एक जोरदार मंच बन गया। इसमें जीवन की सचाई के प्रति ईमानदारी और वफ़ादारी है; परन्तु इसमें घटनाओं और इतिहास के अतीत और वर्तमान को साम्यवादी विश्व के दृष्टिकोण से देखा जाता है और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति की जाती है। साम्यवादी सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि में, रचनाओं के नायक नये हैं जो श्रमिक वर्ग, संघर्षरत साम्यवादी समाज के निर्माण करनेवाले लोगों के बीच से लिये जाते हैं। इसमें रूपवाद के स्थान पर वास्तविकता के जोरदार चित्रण पर बल दिया जाता है। साम्यवादी शिक्षा के लिए यह सबल उपकरण बन गया है। इसके द्वारा कलाकार की रचनात्मक प्रतिभा को प्रेरणा मिलती है तथा वह अपने विषय, आदर्श और अपनी रुचि के अनुरूप अपनी शैली का चयन करने के लिए स्वतन्त्र होता है।

प्रतिरूपवादी यथार्थवाद : यथार्थवाद के इस रूप के प्रतिपादकों में लेनिन और ऐञ्जिल्स जैसे भौतिकवादी हैं। इसके साथ डेकार्ते और लॉक जैसे अनुभववादी भी हैं। इस मत के अनुसार हमारी चेतना एक फोटो-प्लेट के समान होती है जिस पर बाह्य वस्तुएँ प्रतिरूपित होती हैं और इसी रूप में हम उन्हें जानते-पहचानते हैं। इसे रिप्रेज़ेण्टेशनिज़्म (Representationism) कहते हैं।[1] यथार्थवाद के इस रूप में भौतिक वस्तुओं और मानव-चेतना दोनों के अस्तित्व को स्वतन्त्र और यथार्थ माना जाता है। जवकि ऐंट्रिक यथार्थवाद चेतना के अस्तित्व को स्वतन्त्र नहीं मानता।

अनुभवात्मक संकेतवाद (Imperio symbolism) : प्रतिरूपवादी यथार्थवाद की आलोचना होने पर अनुभवात्मक संकेतवाद की स्थापना हुई जिसके अनुसार इन्द्रियगोचर यथार्थ वस्तु का यदि सही प्रतिरूप नहीं देते तो उसके संकेत या प्रतीक को अवश्य प्रस्तुत करते हैं। जिनके आधार पर हम यथार्थ वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि ये संकेत यथार्थ वस्तु के सम्बद्ध रहते हैं।

नव्य यथार्थवाद (Neorealism) : आधुनिक युगीन यथार्थवादी विचारधारा का यह रूप, विशेष प्रचलित हुआ। इसमें यह मान्यता रहती है कि हम जो भी सोचते- विचारते हैं वह किसी विषय-वस्तु से सम्बन्ध रखते हैं। संसार के पदार्थ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं और हमारे चिन्तन या ज्ञान-प्राप्ति की क्रिया को उत्तेजित भी करते हैं। वास्तव में वे हमारे सोचने-विचारने के लिए विषय प्रस्तुत करते हैं। इसमें यह भी मान्यता है कि बाह्य संसार के पदार्थों के बिना हमारा चिन्तन सम्भव ही नहीं हो सकता। संसार में किसी वस्तु या पदार्थ की जो स्थिति है ठीक वैसा ज्ञान, हमारी ज्ञान-इन्द्रियाँ प्रदान करती हैं। पदार्थ के ज्ञान और पदार्थ की यथार्थता में एकता है। यथार्थवाद का यह रूप सर्वजन सुगम होने के कारण पापुलररियलिज़्म (Popular-realism) भी कहलाता है।

---

1. Our sensation, our consciousness is only an image of the external world. Materialism deliberately makes the naive belief of mankind the foundation of its theory of knowledge.

आलोचनात्मक यथार्थवाद (Critical Realism) : यथार्थवाद की यह समकालीन और आधुनिकतम विचारधारा है और इस विचारधारा का महत्त्वपूर्ण साहित्य है। अमेरिका के सात दार्शनिकों ने मिलकर सन् 1920 में *आलोचनात्मक यथार्थवाद (Critical Realism)* नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। इसमें यह मत स्पष्ट किया गया है कि किसी भौतिक विषय का प्रत्यक्षीकरण वास्तव में प्रतीति न होकर एक प्रकार का सन्देश है जो उस विषय के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। उनका तर्क है कि हम आकाश में चमकनेवाले तारों को वास्तविकता में नहीं देख पाते, जो कुछ हम देखते हैं वह एक प्रकार का उससे प्राप्त सन्देश है, जो हमें प्राप्त होता है, और यह भी सम्भव है कि जब हमें वह सन्देश प्राप्त होता है तब तक उस तारे का अस्तित्व ही समाप्त हो गया हो। किसी वस्तु के प्रत्यक्षीकरण में जो प्रतीति ग्रहण की जाती है वह उस समय से भिन्न क्षण की होती है और भिन्न स्थान की भी।

आलोचनात्मक यथार्थवाद में तीन बातें देखी जाती हैं—

1. मानसिक अवस्था (ज्ञाता की);
2. ज्ञान प्रतीति का सार;
3. भौतिक विषय और उसकी विशेषताओं का देखा हुआ रूप।

इस आलोचनात्मक यथार्थवाद को वैज्ञानिक यथार्थवाद भी कहा जाता है। यों तो यथार्थवाद के अनेक रूप माने जाते हैं परन्तु उसकी कुछ विशेषताएँ जो सभी को मान्य हैं वे निम्नांकित हैं—

1. आदर्शवाद की मनस्तत्त्व की मान्यता स्वीकार करना और सांसारिक पदार्थों की सत्ता न मानना त्रुटिपूर्ण है।
2. बाह्य जगत् के पदार्थों का स्वतन्त्र और बुद्धि-निरपेक्ष अस्तित्व होता है।
3. पदार्थों के सभी गुण भौतिक एवं वस्तुगत होते हैं।
4. वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध आन्तरिक नहीं, वरन् बाह्य सत्ता से सम्बद्ध होते हैं।
5. हमारी मानसिक क्रियाएँ बाह्य संसार के पदार्थों पर निर्भर करती हैं और उन्हीं से प्रेरित होती हैं।

यथार्थवाद की इस विचारधारा का प्रभाव साहित्य पर—विशेष रूप से आधुनिक साहित्य पर बड़े व्यापक रूप से पड़ा। आधुनिक साहित्य की रचनाएँ यथार्थवादी दृष्टिकोण से ओतप्रोत हैं। साहित्य की आलोचना में यथार्थवाद का प्रयोग आदर्शवाद और स्वच्छन्दतावाद के विरोध में होता है। वह साहित्यिक कृति यथार्थवादी होती है जो अपनी विषय-वस्तु वास्तविक जीवन से ग्रहण करती है। इसी प्रकार यथार्थवादी लेखक उसे कहते हैं जिसका दृष्टिकोण वस्तुपरक है और जो अपनी रचनाओं में व्यक्तिगत अनुभूतियों का समावेश नहीं करता, वरन् वस्तु का विवरण वास्तविक बिम्बात्मक रूप में देता है।

परन्तु आजकल यथार्थवाद के सम्बन्ध में जो धारणा है, वह कुछ भिन्न प्रकार

की है। आजकल यथार्थवादी लेखक वह माना जाता है, जो जान-बूझकर सुन्दर, सुसंगत विषयों और उदात्त चरित्रों का वर्णन अपने साहित्य में नहीं करता, वरन् उसके स्थान पर विकृत वस्तुओं और अवांछनीय कदाचारी चरित्रों का अपने साहित्य में वर्णन करता है।

कुछ विद्वान् साहित्य में यथार्थवाद को भिन्न दृष्टि से देखते हैं। उनका विचार है कि यथार्थवाद, साहित्य का वह दृष्टिकोण है जिसके अन्तर्गत जीवन और वस्तुओं का यथातथ्य चित्रण और प्रकृति का यथावत् प्रस्तुतीकरण होता है। इसमें सौन्दर्य और व्यवहार के आदर्शीकरण, आध्यात्मिक और अलौकिक बातों तथा शैलीगत चमत्कार का निषेध होता है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत जैसा दिखता और अनुभव में आता है, वहाँ वैसा ही वर्णन किया जाता है जिससे उसे पढ़नेवाले कह सकें कि यह वर्णन बिल्कुल सही है। एच. लेविन, लूकाच, हावर्ड फास्ट आदि का इसी प्रकार का मत है।[1] इस प्रकार यथार्थवाद साहित्य की विशेषताओं की पहचान जिन बातों से होती है, वे हैं (1) विषय से सम्बद्ध स्थानों का सूक्ष्म विवरण, चाहे वे अति सामान्य ही क्यों न हों। (2) आंचलिक स्थानीय दृश्यों और वातावरण का यथातथ्य वर्णन। (3) उस समय के समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों का वर्णन। (4) लोक-भाषा का पात्र और परिस्थिति के अनुसार सही प्रयोग, चाहे वह अश्लील ही क्यों न हो। (5) वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दों का यथावश्यक व्यवहार। (6) वास्तविकता को सही सिद्ध करने के लिए पत्रों-दस्तावेजों का समावेश। (7) महत्ता के स्थान पर लघुता की प्रतिष्ठा—आदि आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि यथार्थवाद आधुनिक साहित्य की मुख्य प्रवृत्ति बन गया है।

3. नव्यशास्त्रवाद

यूरोपीय साहित्य के अन्तर्गत शास्त्र-बद्धता और फिर उससे स्वच्छन्दता या शास्त्र-परम्परा अथवा धार्मिक-सामाजिक नैतिकता के विरोध-सम्बन्धी चढ़ाव-उतार बराबर देखने को मिलते हैं और यह प्रवृत्ति अत्याधुनिक युग तक विद्यमान है। यह बात केवल पाश्चात्य साहित्य के लिए ही सत्य नहीं है, वरन् सभी देशों के साहित्यों के इतिहास की गति इसी प्रकार ज्वार-भाटे की गति से चलती है। यूरोप में ईस्वी पूर्व पाँचवीं शताब्दी से लेकर ईसा की पाँचवीं शती तक प्रायः यूनानी विचारधारा का व्यापक प्रभाव रहा। पाँचवीं शती से लेकर पन्द्रहवीं शती ईस्वी तक का समय मध्ययुगीन साहित्य के अन्तर्गत चर्च और पादरियों का बोलबाला था तथा कला और साहित्य के क्षेत्र में धर्म और नैतिकता का

---

1. Realism in literature is an attitude which purports to depict life and to reproduce nature in all its aspects, as faithfully as possible. It rejects the idealizing of reality in favour of beauty, together with stylization in expression and the treatment of transcendental and, supernatural subject matter.—H. Levin in 'What is Realism' in the book *Comparative Literature*, p. 284.

साम्राज्य था। धर्मोपदेशकों के लिए यहाँ तक प्रतिबन्ध था कि वे लौकिक मनोरंजन, ऐहिकतापरक नाटक तक नहीं देख सकते थे। चर्च की मान्यता यह हो गयी थी कि नाटक और कविता बुद्धि को विकृत और ज्ञान को नष्ट कर देनेवाली होती है। विद्वत्ता और दर्शन के विषय ईश्वर और धर्म से ही सम्बद्ध थे। कलाकार या रचनाकार का अलग से कोई महत्त्व न था। उसका महत्त्व इसी में था कि वह धर्मपरक या उसके प्रचार से सम्बद्ध रचना करे। वह राजतन्त्र और सामन्तवाद का युग था तथा राजा और शासक को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। वास्तव में यह युग प्राचीन परम्पराओं के पालन या धार्मिक अनुष्ठानों का युग था। अतएव किसी भी कला-साहित्य के क्षेत्र में नये और स्वतन्त्र चिन्तन का अवकाश नहीं था।

यह वह युग था, जब यूनानी साम्राज्य नष्ट हो गया था। परिणामस्वरूप यूनानी विचारक, लेखक और कलाकार यूनान से भागकर इटली में आ गये थे तथा रोम का महत्त्व बढ़ गया था। इटली के प्रबुद्ध वर्ग ने उनका स्वागत किया। इटली में पहले से ही नये विचार और नयी व्याख्या की जागरूकता हो गयी थी। परिणामस्वरूप यूनानी विचारकों प्लेटो, अरस्तू आदि की नयी व्याख्यायें प्रस्तुत की गयीं। यह पन्द्रहवीं शताब्दी का समय था, जिसे पुनर्जागरण (Renaissance) युग कहा जाता है। इसमें ग्रीक विचारकों का अनुकरण न करके उनसे प्रेरणा लेकर साहित्य रचना की गयी। यह समय इंग्लैण्ड के एलिजाबेथ का शासन-काल था। इटली और इंग्लैण्ड दोनों ही देशों में यूनानी और लैटिन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की स्वतन्त्र व्याख्या हुई, साथ ही उनके शुद्ध संस्करणों के स्थान पर भ्रष्ट संस्करणों और मनमानी व्याख्याओं का प्रचार हो गया था। सर फिलिप सिडनी और बेन जानसन ने प्लेटो और अरस्तू के ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया और काव्यशास्त्रीय अनुशासन को लेखन के लिए आवश्यक बताया।

सोलहवीं शताब्दी के बाद कला और साहित्य के चिन्तन का केन्द्र इटली से हटकर फ्रान्स में आ गया तथा फ्रान्स के विचारकों का प्रभाव इंग्लैण्ड के साहित्यकारों पर खूब पड़ा। बेन जानसन, शेक्सपीयर आदि ने अपने नाटकों और काव्य में नये दृष्टिकोण का परिचय दिया। फ्रांसीसी और अंग्रेजी के अनेक कवियों और लेखकों ने काव्यशास्त्रीय परम्परा के विपरीत स्वच्छन्द रचनायें और विचार प्रस्तुत किये जिससे एक अव्यवस्था-सी आ गयी। अतएव बोइलो (Boileau), बाल्ज़ाक आदि ने साहित्य और कला के नये सिद्धान्तों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया और यहाँ तक कहा कि प्राचीन नियमों का उल्लंघन करना संस्कृति को चुनौती देना है, अतः सभ्य और सुरुचि-सम्पन्न होने के लिए अरस्तू, होरेस आदि के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का पालन आवश्यक है। अतः परम्परागत शास्त्रीय नियमों की पुनःस्थापना ही 'नव्य-शास्त्रवाद' कहा जाता है। बोइलो की पुस्तक *आर्ट पोइटिक* नव्यशास्त्रवाद के लिए सिद्धान्तग्रन्थ बन गयी। इसमें नियमों और सिद्धान्तों का कट्टरता से पालन कराने का आग्रह था। इसका प्रभाव अंग्रेजी साहित्य पर भी पड़ा। नाटकों में संकलनत्रय तथा काव्य में छन्द और अलंकार का सही प्रयोग आवश्यक हो गया। अठारहवीं शताब्दी

में नव्यशास्त्रीय आलोचना का व्यापक प्रभाव पड़ा। ड्राइडन, पोप, एडीसन, डॉ. जानसन आदि इसके प्रतिनिधि विचारक माने जाते हैं।

नव्यशास्त्रवाद की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

1. नव्यशास्त्रवाद ने वास्तव में साहित्यिक और कलात्मक रचनाओं के सिद्धान्त, नियम और संरचना की विधियों को खोजने का प्रयत्न किया।[1] इस आन्दोलन के द्वारा प्राचीन ग्रीक और लैटिन के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का ठीक अनुवाद और टीकायें भी प्रस्तुत की गयीं।

2. नव्यशास्त्र के अन्तर्गत सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त, प्रकृति का अनुकरण है। यह अनुकरण अरस्तू के अनुकृति-सिद्धान्त पर आधारित है, पर इसका व्यापक अर्थ लिया गया है। प्रकृति के अनुकरण का अर्थ है—यथार्थ चित्रण। प्रकृति के अन्तर्गत अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के साथ-साथ मानव-प्रकृति को भी लिया गया है। इसमें प्रकृति के सौन्दर्य, उसमें निहित जगत् के नियम और भाव भी सम्मिलित हैं।

3. इसके अन्तर्गत मानवीय प्रकृति के सार्वभौम उदात्त रूपों का समावेश तथा उसके आंचलिक, संकुचित, कुत्सित रूपों का बहिष्कार भी होता है।

4. इसमें प्रकृति और मानव का सुन्दर और आदर्श रूप ही वांछनीय है।

5. कलाकृति के गठन एवं संरचना के सम्बन्ध में नव्यशास्त्रवाद अरस्तू की मान्यताओं से भिन्न विचार रखता है। जहाँ अरस्तू विषय-वस्तु एवं रूप-विधान में संघटनात्मक एकता को स्वीकार करते हैं, वहाँ नव्यशास्त्रवाद दोनों पक्षों की अलग-अलग सत्ता स्वीकार करता है। परिणामस्वरूप काव्य की विषय-वस्तु को नैतिक मूल्यों की कसौटी पर कसने की प्रवृत्ति का विकास हुआ। आलोचना के लिए कथावस्तु, विचार, चरित्र, छन्द, भाषा आदि पर अलग-अलग विचार होने लगा और साहित्यालोचन की लीकें और ढर्रे बनने लगे।

6. नव्यशास्त्रवाद ने काव्य और कला के उद्देश्य पर भी नियम बनाये। उसके अनुसार काव्य का प्रयोजन नैतिक शिक्षा या आनन्द प्रदान करना माना गया; पर बल नैतिक शिक्षा और उपदेश पर दिया गया।

7. अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त पर भी अलग-अलग व्यांख्यायें की गयीं और यह भी कहा गया कि विरेचन-प्रक्रिया के लिए चुने गये भय और करुणा के भावों के बार-बार प्रदर्शन से दर्शकों की संवेदना जड़ हो जाती है और उसका प्रभाव नहीं रहता, ठीक उसी प्रकार जैसे एक सर्जन, बार-बार चीर-फाड़ करते हुए स्वयं पीड़ा की अनुभूति से शून्य हो जाता है!

8. काव्य का प्रयोजन मूल्यों की प्रतिष्ठा करना है—ऐसा मानने से, यह भी नव्यशास्त्रवाद में आवश्यक माना गया कि कवि और कलाकार में प्रतिभा और प्रेरणा

---

1. It attempted to discover the principles or laws or rules of literature, of literary creation, of structure of literary work of art and the readers response.—*A History of Modern Criticism*— Neo Classism, Vol. I, p. 12, by Rene Wellek.

के साथ-साथ कला-विषयक तथा संसार का ज्ञान भी होना चाहिए।

नव्यशास्त्रवाद की उपर्युक्त बहुत-सी मान्यतायें परवर्ती साहित्य में भी स्वीकार की गयीं, परन्तु नियम-पालन के अतिशय आग्रह ने स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों को पुनः जाग्रत् कर दिया। यह प्रवृत्ति स्वच्छन्दतावाद का पुनः जागरण या रोमाण्टिक रिवाइवल (Romantic Revival) के नाम से जानी जाती है।

4. स्वच्छन्दतावाद

हिन्दी का स्वच्छन्दतावाद शब्द, अंग्रेजी के रोमाण्टिसिज़्म (Romanticism) का हिन्दी अनुवाद है। अंग्रेजी रोमाण्टिसिज़्म, रोमांस से बना है जिसका अर्थ है—प्रेम के स्वच्छन्द क्रिया-कलाप। प्रेम और स्वच्छन्दता दोनों ही मानव-जीवन के सहज तत्त्व हैं; अतः जीवन में स्वच्छन्द प्रेमचर्या भी स्वाभाविक है। इसी के परिणामस्वरूप स्वच्छन्द प्रेम-चर्या, जिसमें सामाजिक मर्यादाओं और दायित्वों का उल्लंघन प्रकट किया गया हो, कला और साहित्य के क्षेत्र में भी आ गयी। यह प्रवृत्ति हमें प्राचीन आभिजात्य (Classical) साहित्य के समय भी देखने को मिलती है और बाद के युगों में भी। बाद के युगों में यह स्वच्छन्द प्रेम-चर्या (Romance) प्रेमाख्यान काव्यों के रूप में प्रकट हुई। इन प्रेमाख्यानों में एक नये प्रेम-चर्या के संसार की कल्पना की हुई दिखाई देती है, जिसमें प्रेम के लिए नायक और नायिका अद्भुत त्याग, तपस्या और बलिदान करते हैं। प्रेमतत्त्व ही जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है। यह प्रेम, प्रायः सौन्दर्य के प्रति है और विशेष रूप से नारी-सौन्दर्य के प्रति। अतः इन प्रेमाख्यानों में नारी के अलौकिक, दिव्य और काल्पनिक सौन्दर्य का वर्णन मिलता है। यह प्रवृत्ति केवल साहित्य में ही नहीं, वरन् चित्रकला और मूर्तिकला की कृतियों में भी देखी जाती है।

परन्तु यह स्वच्छन्द प्रेम-चर्या, सामाजिक मर्यादा, धर्म और नैतिकता के विरुद्ध जाती है। अतः मध्ययुग के धर्मप्रधान काव्य में ऐसी प्रवृत्तियों का बहिष्कार किया गया। इस प्रवृत्ति के विपरीत धार्मिक नैतिकतावादी अथवा काव्यशास्त्रीय नियमों वाले नव्यशास्त्रवाद का उदय और प्रचार हुआ। आभिजात्य और शास्त्रवादी काव्य में मर्यादा, स्पष्टता और समाधान के तत्त्व देखने को मिलते हैं। अंग्रेजी साहित्य में ड्राइडन और डॉ. जानसन के समय तक इसका प्रभाव देखने को मिलता है।[1] परन्तु इस शास्त्रीय और परम्परावाद के विपरीत अठारहवीं शताब्दी में स्वच्छन्दतावाद का पुनः जागरण हुआ।

यों तो स्वच्छन्दतावाद का पुनरुत्थान प्रतिक्रियास्वरूप अपने-आप ही हो रहा था परन्तु उसके गतिमय विकास की दिशा में दो बातें बड़ी प्रेरक रहीं—एक जर्मन स्वच्छन्दतावादी साहित्य और दर्शन तथा दूसरा फ्रान्स की राज्यक्रान्ति। इन दोनों के प्रभाव से अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी काव्य ने एक व्यापक एवं विशिष्ट प्रेरणादायी

---

1. Order, clarity and tranquility are obviously classical qualities and these are the qualities that have engaged our attention in dealing with the literature of Dryden and Johnson age.—Arthur Compton Rickett : *History of English Literature*, p. 292.

रूप ग्रहण किया। इस पारस्परिक प्रभाव-ग्रहण की दिशा में शेक्सपीयर के नाटकों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। ये नाटक जिनमें स्वच्छन्दतावाद की मनोरम प्रवृत्ति विद्यमान है, जर्मन भाषा में अनूदित होकर जब पहुँचे, तब उन्होंने सुप्रसिद्ध जर्मन कवि गोयठे (Goethe) को प्रभावित किया। जर्मन साहित्यकार लेसिंग ने भी शेक्सपीयर के नाटकों की तुलनात्मक समीक्षा कर उनका महत्त्व स्पष्ट किया। आगे चलकर श्लेगल और काण्ट की दार्शनिक विचारधारा ने जर्मन स्वच्छन्दतावाद को एक विशिष्ट आयाम प्रदान किया। रॉयल सोसायटी ऑफ् एडिनबरा की संगोष्ठियों में अंग्रेजी और जर्मन स्वच्छन्दतावाद पर विचार हुआ और इस प्रकार पाश्चात्य साहित्य पर व्यापक रूप से उसका प्रभाव फैलने लगा। यह कहा जा सकता है कि जर्मन स्वच्छन्दतावाद, आलोचनात्मक और दार्शनिक तत्त्वों से युक्त है और उनकी रचनाओं में एक संरचनात्मक एवं वस्तुपरक संगति है। वह कलात्मक मन के स्वच्छन्द उद्गारों के रूप में नहीं है, जैसा कि हमें उसका रूप शेली, कॉलरिज, स्काट आदि की रचनाओं में मिलता है। वरन् जर्मन स्वच्छन्दतावाद एक मत और विश्वास के रूप में है। स्वच्छन्दतावादी काव्य और त्रासदी का, वहाँ के जीवन पर गम्भीर प्रभाव भी पड़ा। उसके विपरीत इंग्लिश स्वच्छन्दतावाद सौन्दर्य-संवेदना को विकसित करने और वैयक्तिक अनुभूतियों के विकास में अधिक सहायक सिद्ध हुआ। वह प्रायः भावुकतापूर्ण, नव्य कल्पनाशीलता एवं रहस्यदर्शन का पर्याय बन गया।

स्वच्छन्दतावाद के विकास में फ्रेञ्च रेवोल्यूशन (फ्रांस की राज्य-क्रान्ति) का महत्त्वपूर्ण हाथ है। स्वच्छन्दतावादी साहित्य में जो भी क्रान्ति-दृष्टि और मानवतावादी भावनायें हैं, वे उसी की देन हैं। यों तो फ्रांस का स्वच्छन्दतावाद राज्यक्रान्ति के बाद विकसित हुआ। उस पर अंग्रेजी और जर्मन कवियों जैसे स्काट, बाइरन और गोयठे का प्रभाव पड़ा; परन्तु फ्रेञ्च स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव बाहर अधिक नहीं पड़ा। फिर भी फ्रांस की राज्यक्रान्ति से जो सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल हुई उसका प्रभाव अंग्रेजी स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा पर देखा जा सकता है। वास्तव में फ्रांस के क्रान्तिकारी दार्शनिक और लेखक 'रूसो' के विचारों का प्रभाव व्यापक रीति से पड़ा। फ्रान्स की क्रान्ति ने स्वच्छन्दतावाद को तीन रूपों में प्रभावित किया—(1) सैद्धान्तिक और वैचारिक रूप से, (2) राजनीतिक रूप से तथा (3) सैनिक प्रभाव के रूप में।

सैद्धान्तिक और वैचारिक पक्ष रूसो के विचारों से निर्मित हुआ। उसका भावनात्मक प्रभाव राबर्ट ब्लेक, वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज की रचनाओं में देखा जा सकता है; परन्तु रूसो का बौद्धिक प्रभाव शेली पर खूब पड़ा, जो गॉडविन (Godwin) के माध्यम से आया। परिणामस्वरूप बाह्य प्रकृति के प्रति प्रेम और जीवन के सरल सीधे ढंग वर्ड्सवर्थ आदि की रचनाओं में तथा प्रेम के उत्कट मूल्यों का जोरदार उद्घाटन शेली के काव्य में मिलता है। इस प्रसंग में रूसो के विचारों का सार जान लेना उपयोगी होगा, जो संक्षेप में इस प्रकार है—प्राकृतिक होने के कारण मनुष्य की मूलभूत वृत्तियाँ और प्रेरणायें भली होती हैं। मनुष्य में बुराई का प्रवेश इसलिए हुआ क्योंकि वह

विकास-रहित प्रकृति को छोड़कर बनावटी और विलासी बन गया। इस रुग्ण स्थिति से उबरने के लिए हमें फिर वनों और पर्वतों की ओर जाना चाहिए। उनका यह भी विचार था कि राजनीतिक संस्थायें इसलिए बनती हैं कि धनी, गरीब का शोषण करे तथा अत्याचारी, दुर्बल को सताये। शक्ति सदैव दुर्वृत्तिमय होती है। प्रेम को छोड़कर कोई तत्त्व अनिवार्य नहीं। नई सामाजिक व्यवस्था, केवल तर्क और ज्ञान के प्रकाश द्वारा ही निर्मित की जा सकती है।

रूसो के इस प्रकार के विचारों का प्रभाव किसी पर भावुकता के रूप में, किसी पर आत्मिक बल और प्रेरणा के रूप में तथा किसी पर पूर्णतया क्रान्ति की भावना के रूप में पड़ा। परिणामस्वरूप यह स्वच्छन्दतावादी पुनरुत्थान केवल हल्का, हवाई और मनोरंजनपूर्ण काव्य देने के स्थान पर ऐसा साहित्य दे गया जिसमें आत्म-मन्थन, प्रेमबल, सौन्दर्य की उत्कष्ट अनुभूति, मानवता की अक्षय संवेदना, उत्सुकता, उल्लास और लोकमानस का मर्म स्पर्श करने की विशेषतायें समाविष्ट हो गयीं। इसलिए पाश्चात्य साहित्य के इतिहास में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का बड़ा महत्त्व है; क्योंकि इसके प्रभावस्वरूप अनेक मतवादों और कला तथा काव्य की प्रयोग-धाराओं का प्रस्फुटन हुआ। अतः हमारे लिए यह वांछनीय हो जाता है कि स्वच्छन्दतावाद की विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण दिया जाय।

स्वच्छन्दतावाद वास्तव में एक नव्य कल्पनाशील दृष्टिकोण से जीवन और प्रकृति को देखने की प्रवृत्ति है जिसने प्रायः सभी कला-रूपों को प्रभावित किया है तथा इतिहास और दर्शन पर भी प्रभाव डाला। साहित्य और कला के क्षेत्र में यह पैनी सूक्ष्म संवेदनाओं एवं उत्कृष्ट काल्पनिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने की कला है। स्वच्छन्दतावादी भावना के मुख्य तत्त्व हैं—सौन्दर्य-प्रेम, सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासा, प्रकृति को चेतन मानकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ना, सरल और प्राकृतिक जीवन का मोह तथा कृत्रिमता और आडम्बर का विरोध, परम्परा से मुक्ति, काल्पनिकता, भावुकता, वैयक्तिकता तथा मानवतावादी दृष्टिकोण। इन पर हम संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

1. सौन्दर्य-प्रेम : सौन्दर्य के प्रति प्रेम प्रत्येक कला का मूलभूत तत्त्व है। वास्तव में कला और काव्य का आरम्भ ही सौन्दर्य के प्रति आकर्षण के साथ हुआ था। अतः सौन्दर्य, कला का मुख्य गुण है। हाँ, आधुनिक युग में सौन्दर्य के स्थान पर कुरूप का भी चित्रण होता है, पर उसमें भी हास्य, आश्चर्य, घृणा आदि भावों का सौन्दर्य रहता है। परन्तु स्वच्छन्दतावाद के अन्तर्गत सौन्दर्य अपने मूल अर्थ में अवयव-संगठन, अवयव-अनुपात, रंग और कान्ति, आकार आदि का आकर्षण और उसकी मनोरमता के रूप में आता है। अतः स्वच्छन्दतावादी दृष्टि में सौन्दर्य अपने मूलभूत और प्राकृतिक अर्थ में ही गृहीत हुआ है।

2. सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासा : सौन्दर्य-प्रेम स्वच्छन्दतावाद का भाव-पक्ष है और जैसा कहा जा चुका है यह सौन्दर्य-प्रेम कला और काव्य का प्रकृत तत्त्व है।

परन्तु इस सौन्दर्य-प्रेम के साथ-साथ, जब एक गहरी जिज्ञासा की भावना सम्मिलित हो जाती है, तव वह स्वच्छन्द प्रेम-चर्या, स्वच्छन्दतावाद का रूप धारण करती है। स्वच्छन्दतावाद, प्रत्यक्ष सौन्दर्य को, जो दिखायी पड़ता है, व्यापक या पूर्ण सौन्दर्य की झलक-मात्र मानता है और अपनी कल्पना से अप्रत्यक्ष सौन्दर्य को भी देखकर उसका वर्णन करना चाहता है। अतः सौन्दर्य में रम जाना और उसके भीतर और गहरे छिपे सौन्दर्य को देखने और जानने की इच्छा, सौन्दर्य के प्रति रोमाण्टिक या स्वच्छन्दतावादी दृष्टि की विशिष्टता है। यह जिज्ञासा उसका बौद्धिक पक्ष है।

3. काल्पनिकता : सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासा के साथ-साथ सौन्दर्य के अप्रत्यक्ष रूप का, जो और जिस प्रकार उद्‌घाटन स्वच्छन्दतावाद के द्वारा होता है, वह कल्पना का कार्य है। सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासा के परिणामस्वरूप सौन्दर्य के जो अप्रत्यक्ष रूप और बिम्ब उद्‌घाटित होते हैं, वे काल्पनिकता के प्रतिफलन होते हैं। वास्तविकता तो यह है कि स्वच्छन्दतावाद में अभिव्यंजित जो अनुभूति होती है, वह काल्पनिकता के माध्यम से ही होती है। यही उस अनुभूति की अभिव्यंजना में एक विशिष्ट लालित्य और कला भर देती है। परन्तु यह काल्पनिकता भी स्वच्छन्दतावाद में सामान्य प्रकार की न होकर चरम उत्कर्ष को प्राप्त होती है। इसके कारण हम ऐसी रचना या कला में उस अनुभूति, गुण, रंग या सौन्दर्य का उत्कृष्ट सम्भाव्य या चरम रूप देख सकते हैं। स्वच्छन्दतावाद की यह महत्त्वपूर्ण विशिष्टता है।

4. भावुकता : स्वच्छन्दतावाद, वस्तुपरक यथार्थवाद न होकर एक प्रकार का आदर्शवाद है। वस्तु या व्यक्ति को देखने की उसकी दृष्टि भावुकता की होती है, सामान्य नहीं। स्वच्छन्दतावाद प्रकृति, दृश्य या वस्तु को किसी भाव से युक्त होकर देखता है; पर उसकी भावुकता अनर्गल या असंगत नहीं होती। उसे देखकर कवि के भीतर एक विशेष प्रेरणा उत्पन्न हो जाती है और उसी से आविष्ट होकर वह उसका वर्णन करता है। यह वर्णन ऐसा होता है कि उसे पढ़ने या सुननेवाला भी उसी भाव में बह जाता है। कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि उसका वर्णन वास्तविकता से दूर है; परन्तु ऐसा तभी होता है, जब कवि भाव-विभोर नहीं होता; अन्यथा उसके वर्णन की कला के जादू से प्रभावित होकर हम भी उसमें भर जाते हैं। इस भावुकता के परिणामस्वरूप स्वच्छन्दतावादी कवि का वर्णन वैयक्तिकता से पूर्ण होता है। अतः वैयक्तिकता भी स्वच्छन्दतावाद का गुण है।

5. वैयक्तिकता : स्वच्छन्दतावाद वैयक्तिक निजी अनुभूति को महत्त्व देता है। उसकी दृष्टि सामाजिक न होकर व्यक्तिवादी है। इस कारण जहाँ वह एक ओर सामाजिक मर्यादा और परम्परागत बन्धनों से मुक्ति के गीत गाता है तथा उनके बन्धनों और रूढ़ियों को तोड़कर क्रान्ति भी लाना चाहता है; वहीं अपने व्यक्तिगत जीवन में प्रेम और अर्थ-काम की असफलता के कारण निराशा की तथा विषाद और वेदना की भी अभिव्यक्ति करता है। जर्मन कवि गोयठे (गेटे) यद्यपि रूढ़ि-विरोधी और बौद्धिक स्वच्छन्दतावाद का पोषक था; परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी की वेदना और निराशा-भरे

स्वच्छन्दतावादी काव्य को उसने रुग्णता का काव्य तक कह डाला है। वास्तव में स्वच्छन्दतावाद में वैयक्तिकता के स्वर दो रूपों में मुखरित हुए हैं। एक ओर तो वह कवि की अनुभूति-तरंगों की बारीकियों को रूपायित करते हुए सौन्दर्य-प्रेम और प्रकृति के उत्कृष्ट गीतिकाव्य की सर्जना करता है और दूसरी ओर सामाजिक मर्यादाओं के कारण प्रेम-व्यापार में निराशा तथा अन्य समस्याओं से पीड़ित होकर विषाद, निराशा और वेदना के गीत गाता है। दार्शनिक दृष्टि, जीवन की क्षणभंगुरता, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य आदि को लेकर भी निराशावादी काव्य लिखा गया। यही भावना और अधिक विस्तृत होकर अस्तित्ववादी विचारधारा को प्रेरित करनेवाली बनी। स्वच्छन्दतावाद में वैयक्तिकता का स्तर ही ध्वनित हुआ है।

6. आडम्बर और कृत्रिमता का विरोध : स्वच्छन्दतावाद में पुरातन-पन्थी नियमों और परम्परागत आडम्बर से मुक्त होकर जीवन की सहजता और स्वाभाविकता का चित्रण हुआ। बहुत-सी सहज अनुभूतियों का खुला चित्रण स्वच्छन्दतावाद में मिलता है, जिनकी अभिव्यक्ति पहले मर्यादा के विपरीत और नियम-विरुद्ध समझी जाती थी। इसकी मान्यता है भाषा और अभिव्यंजना-शैली में कृत्रिमता और अस्वाभाविकता से मुक्त होकर ही लिखना चाहिए। अलंकृति और छन्द-विधान में भी रूढ़ि और परम्परा से हटकर, सहज स्वाभाविक अलंकारों और लयों को अपनाने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। भाषा और अभिव्यक्ति के बनावटीपन से दूर रहकर सहजभाव-तरंगों को स्वाभाविक और हृदयस्पर्शी अभिव्यक्ति देना स्वच्छन्दतावादी कवि का प्रमुख उद्देश्य बन गया था। यही कारण था कि उसमें एक सहज आकर्षण और अकृत्रिम मनोरमता दिखाई देती है। सरल और प्राकृतिक जीवन के प्रति स्वच्छन्दतावादी कवियों को प्रबल आकर्षण था।

7. प्रकृति के प्रति उत्कट प्रेम एवं उसमें मानव-भावनाओं का आरोप : रूसो के विचारों में प्रकृति की गोद में पुनः जाने का आह्वान था। प्रकृति की ओर जाने से ही जीवन में आयी कृत्रिमता से मुक्ति मिल सकती है, अतः प्रकृति के प्रति प्रबल आकर्षण स्वच्छन्दतावाद की एक प्रमुख विशिष्टता बनकर उभरी। इतना ही नहीं, प्रकृति के कार्यकलाप के भीतर किसी रहस्य का दर्शन भी स्वच्छन्दतावाद में देखा जा सकता है। प्रकृति में भी संवेदना की अनुभूति स्वच्छन्दतावादी काव्य में बराबर देखी जाती है। उल्लास और विषाद की स्पष्ट छाया देखना और उससे स्वयं प्रभावित होना स्वच्छन्दतावाद की व्यापक संवेदनशीलता का परिचायक है। सूर्य का उगना-डूबना, बादलों का घिरना, पर्वतों पर झोंकों से मस्त होकर द्रुमों का थिरकना, वर्षा, शरद्, वसन्त और ग्रीष्म ऋतुओं में उभरती हुई प्रकृति की नवीन छटायें, स्वच्छन्दतावादी कवि को उल्लास से भर देती थीं। प्रकृति की शोभा और उसकी बदलती छबियाँ, स्वच्छन्दतावाद की सतरंगी आभा है जिसमें कवि विभोर हो उठता है। घाटियों और चरागाहों में खिलते-डोलते फूल स्वच्छन्दतावादी कवि को मुग्ध कर देते हैं। इन प्राकृतिक दृश्यों से उसकी संवेदना व्यापक और कोमल बन जाती है।

प्रकृति में मानव-भावनाओं के आरोप ने स्वच्छन्दतावाद में मानवतावादी भावनाओं को जाग्रत् कर गहराई से उभारा। इस प्रकार मानवतावादी दृष्टि भी इसकी एक विशेषता बन गयी—सौन्दर्य और भावनाओं की खोज उसके लिए उल्लासपूर्ण .ध्येय बन गया।

8. मानवतावादी दृष्टि : रूसो के विचारों ने मानव के गौरव और गरिमा की जोरदार शब्दों में प्रतिष्ठा की। मनुष्य को मनुष्य के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए। उसने प्रेम की अन्तर्व्यापी शक्ति को भी उभारा। नगरीय भीड़भाड़ और दिखावे के व्यवहार के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया भी रूसो ने व्यक्त की। इसका प्रभाव स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा पर गहरा पड़ा। व्यापक रूप से पीड़ित और दुःखी के प्रति संवेदना का भाव इस प्रकार के काव्य में देखने को मिलता है। संवेदना के विस्तार से व्यापक प्रेमभाव जाग्रत् हुआ जिसके परिणामस्वरूप मानवतावादी दृष्टिकोण का विकास हुआ।

इस प्रकार सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासा-भरा प्रेम, प्रकृति के प्रति आकर्षण और रहस्य की भावना, संवेदना का विस्तार, कल्पना से सौन्दर्य और प्रकृति के भीतर रहस्य-दर्शन और उसका उद्‌घाटन तथा रूढ़ियों, मर्यादाओं एवं बँधी-बँधायी अभिव्यंजना शैली से स्वच्छन्दता, स्वच्छन्दतावाद के प्रमुख तत्त्व स्पष्ट होते हैं।

5. कलावाद—कला, कला के लिए आन्दोलन

जिस प्रकार स्वच्छन्दतावाद, साहित्य में शास्त्रवाद या नियमबद्धता का विरोधी था; उसी प्रकार कलावाद, कला के क्षेत्र में धार्मिकता और नैतिकता के उद्देश्य का विरोधी आन्दोलन था। यह एक प्रकार से कला की मुक्ति एवं कला की स्वयंसाध्यता को लेकर चली हुई विचारधारा का रूप था।

प्लेटो ने भी कविता को तभी स्वीकार किया, जबकि उसमें समाज और राज्य के संगठन और उन्नति के विचार और तत्त्व समाविष्ट हों। आगे चलकर अरस्तू, होरेस आदि ने कला को स्वतन्त्र मानते हुए भी उसमें नैतिकता और सामाजिकता को आवश्यक माना। मध्ययुग में तो कला, धर्म-प्रचार का माध्यम ही बन गयी। पुनर्जागरण-काल में भी कला और कविता नैतिक और सामाजिक मूल्यों के आधार पर ही मूल्यांकित की जाती थी। मैथ्यू आर्नल्ड ने काव्य की कसौटी को नैतिकता पर ही आधारित किया। जीवन-मूल्यों की स्थापना ही उसका लक्ष्य है। वर्ड्सवर्थ तक ने अपने "लिरिकल बैलेड्स" की भूमिका में काव्य-सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए नैतिकता की बात कही है। कविता को उन्होंने मानवमात्र को आनन्द प्रदान करनेवाली वस्तु माना है। परन्तु शेली ने नैतिक और उपदेश-प्रधान कविता के प्रति घृणा का भाव व्यक्त किया। उनके विचार से कविता की नैतिकता, मन में प्रेम, विश्वास, आशा, सहनशीलता के बिना कोई प्रभाव नहीं डाल सकती। पर वे भी शुद्ध कलावादी नहीं कहे जा सकते। रस्किन, ताल्स्ताय आदि का भी मत नैतिकतावादी ही रहा। परन्तु धीरे-धीरे इस नैतिकतावाद के विरोध में भावना बनती गयी और यह विचार उभरने लगा कि कला का उद्देश्य और साध्य, कला ही होना चाहिए, अन्य कुछ नहीं।

इस विचारधारा को बहुत बड़ा आधार काण्ट के सौन्दर्यवादी दार्शनिक विचारों से मिला। काण्ट ने सुन्दर की निरपेक्ष और पूर्ण सत्ता स्वीकार की। सौन्दर्यमूलक आनन्द प्रयोजन-युक्त होने के साथ-साथ प्रयोजन-रहित भी है। वह व्यक्तिगत इच्छा से स्वतन्त्र है। सौन्दर्यगत आनन्द वैयक्तिक होते हुए भी सार्वभौम है। प्रयोजन-रहित या प्रयोजन-निरपेक्ष सौन्दर्य, स्वतन्त्र और पूर्ण स्वायत्त सौन्दर्य है। इसी प्रकार उन्होंने यह भी स्थापना की कि प्रतिभा किसी नियम का अनुसरण नहीं करती, वरन् नियम प्रतिभा का अनुसरण करते हैं। काण्ट के इन विचारों ने स्वच्छन्दतावादी और कलावादी दोनों विचार-धाराओं को प्रेरणा दी। उनके विचार इस प्रकार कला और काव्य के क्षेत्र में क्रान्तिकारी विचार थे। इसका प्रभाव फ्रान्स पर पड़ा। बादलेयर पर भी इसका प्रभाव पड़ा, साथ ही अमेरिकन कवि 'एडगर एलेन पो' पर भी इसका प्रभाव पड़ा। 'एलेन पो' यही मानते थे कि कविता को केवल कविता के लिए लिखना चाहिए, तभी उसका संरचनात्मक सौन्दर्य, पूर्णता को प्राप्त होता है। बादलेयर के विचार से नैतिकता कविता भी उसी प्रकार परिव्याप्त रहती है, जैसी कि जीवन में। बादलेयर कलावादी तो थे, पर नैतिक मूल्यों के प्रति भी उनकी आस्था थी। फिर भी वे एडगर एलेन पो के बड़े प्रशंसक थे।

फ्रान्स और जर्मन कलावादी विचारों का इंग्लैण्ड के कवियों और साहित्य-चिन्तकों पर बड़ा असर पड़ा और 'कलावाद' ने एक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। कलावादी दृष्टिकोण के जन्मदाता जहाँ कांण्ट को माना जाता है, वहीं उसके विकास का श्रेय वाल्टर पेटर, आस्कर वाइल्ड और डॉ. ब्रैडले को है।

वास्तव में 'कला, कला के लिए' है इस विचार का सूत्रपात फ्रान्स के सुप्रसिद्ध साहित्यकार बेंजमिन कान्स्टैण्ट को है, जर्मन साहित्य-क्षेत्र से सम्पर्क स्थापित कर 1804 ई. में उन्होंने एक लेख लिखा जिसमें यह दिखाया गया था कि काण्ट की विचारधारा से उठे विचार-विमर्श से किस प्रकार 'कला, कला के लिए' कथन चल पड़ा जिसमें यह भावना निहित है कि उद्देश्य, कला को विकृत कर देता है, परन्तु कला, एक ऐसे उद्देश्य को सिद्ध करती है, जो उसमें होता है।[1] कान्स्टैण्ट और मादाम दे स्टेल के जर्मनी से फ्रान्स वापस आने पर काण्ट की विचारधारा का बड़ा प्रचार हुआ। फ्रान्स के गौटिये (Gautier) भी इसी विचारधारा के समर्थक थे। गौटिये और एडगर एलेन पो के विचारों में काफी समानता देखने को मिलती है। पो का प्रभाव बादलेयर पर काफी व्यापक था।

इंग्लैण्ड में वाल्टर पेटर के लेखों से कलावादी आन्दोलन को विशेष बल प्राप्त हुआ। इनके कलावादी विचार इनकी इटली की यात्रा के बाद विशेष रूप से विकसित

1. "His (Schillers) work on aesthetics on Kant has some very forceful ideas 'Lart pour L'art without purpose, for all' purpose perverts arts, but art attains the purpose that it does not have." Quoted in *Literary Criticism : A Short History*, p. 477.

हुए। इनकी पुस्तक *हिस्ट्री ऑफ् रेनेसाँ* के कुछ लेखों से कलावादी आन्दोलन बड़ा प्रभावित हुआ। पेटर के सौन्दर्यशास्त्रीय विचारों को मान्यता मिली। इनकी शैली वड़ी प्रांजल और परिष्कृत थी। वे कलावांदी लालित्यबोध के विचारकों में थे। उनका मत है कि कला की सार्थकता जीवन के कलात्मक निरूपण से ही होती है। महान् कवि न तो शिक्षा और उपदेश देते हैं और न नियमों को ही बनाते हैं। वे मानव-जीवन को बँधी-बँधायी यान्त्रिकता से दूर कर परिस्थितियों के साथ भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। साहित्य और कला जीवन की अखण्डता की अनुभूति और अभिव्यक्ति है। पेटर का यह विश्वास है कि कला में निहित आनन्द, किसी अन्य उपयोगिता के कारण नहीं। कला की सत्ता तीव्र और उदात्त आनन्द प्रदान करने के लिए है। पर उनका यह भी मत था कि जो उत्कृष्ट आनन्द होता है, उसमें नैतिकता का स्पन्दन स्वतः ही होता है। अनुभूति का फल नहीं, वरन् स्वयं अनुभूति ही कला का उद्देश्य है।

कलावाद के इतिहास में आस्कर वाइल्ड के विचारों का प्रेरक और उत्तेजक योगदान है। वे इस मत के उद्दण्ड समर्थक और आक्रामक प्रचारक थे। कला के लिए उन्होंने भावना को महत्त्व प्रदान किया। उनके विचार से कला और कविता में रूप-रचना (Form) का बड़ा महत्त्व है। इसी के द्वारा कला के रहस्य उद्घाटित होते हैं। छन्द के साथ-साथ वे तुक को भी आवश्यक मानते थे। उससे कृति का छान्दसिक सौष्ठव ही नहीं, वरन् विचार का आध्यात्मिक पक्ष भी प्रकट होता है। कविता में अतिशय तथ्यात्मकता और प्रकृति की घोर यथार्थता, उसके सौष्ठव को समाप्त कर देती है। वाइल्ड के मतानुसार भाव, भाव के लिए है, कला का उद्देश्य होता है और भाव, कर्म के लिए है, यह जीवन का उद्देश्य होता है। इसलिए सभी कला नैतिकता-रहित होती है। सुन्दर-सुन्दर वस्तुयें वे होती हैं जिनका हमसे कोई सरोकार नहीं होता। जो वस्तुयें हमारे लिए उपयोगी होती हैं, हमें प्रभावित करती हैं—चाहे पीड़ा देती हों या सुख, वे कला के क्षेत्र के बाहर हैं। आस्कर वाइल्ड के विचार से सौन्दर्य सबकुछ उद्घाटित करता है; क्योंकि वह कुछ अभिव्यक्त नहीं करता। (Beauty reveals everything because it expresses nothing.) उनका यह भी विचार था कि प्रकृति स्वयं में सुन्दर नहीं है, कला उसे सुन्दर बनाती है। कला का स्थान प्रकृति से ऊँचा है। प्रकृति में भावना नहीं; वह निर्बल को नष्ट करती है; जबकि कला करुणा की भावना को उभारकर उसे भी सहायता की प्रेरणा देती है।

कलावादी आन्दोलन में अमेरिकी चित्रकार व्हिसलर का भी योगदान है। उनका भी यह मत है कि सुन्दर वस्तुएँ केवल वही हैं, जिनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तु को जब तक उपयोगी तथा सुख या दुःख पहुँचानेवाली हम मानते हैं, तब तक वह कला के वृत्त के भीतर नहीं आती। कला की विषय-वस्तु के प्रति हमारी उदासीन भावना रहती है।

'कला, कला के लिए है' या 'कविता, कविता के लिए है' इस मत के प्रबल समर्थक डॉ. ए.सी. ब्रैडले थे। उन्होंने 'कविता, कविता के लिए' विषय पर व्याख्यान

ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी में दिये थे, जो पुस्तक-रूप में भी प्रकाशित हुए। उनके ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोइट्री में कलावादी विचार प्राप्त होते हैं। उनके विचारों का संक्षेप इस प्रकार है—

1. कविता विविध अनुभवों का क्रम है, जो हमें ध्वनियों, कल्पनाओं, बिम्बों, विचारों, भावों आदि के रूप में कविता पढ़ते समय प्राप्त होता है। वह अनुभव काल्पनिक होता है और प्रत्येक पाठक एवं प्रत्येक पाठ के साथ भिन्न-भिन्न रूप में प्राप्त होता है। इस प्रकार एक कविता अनेक कोटियों में रहती है।
2. 'कविता, कविता के लिए है' इस सूत्र से जो बातें समझनी चाहिए, वे हैं— प्रथम यह कि अनुभव स्वयं ही साध्य है और इसका अपना निजी स्वतन्त्र मूल्य है; द्वितीय यह कि काव्य का मूल्य यही अनुभव है। कविता का महत्त्व इसके अतिरिक्त अन्य बातों में भी देखा जा सकता है, जैसे धर्म, संस्कृति, उपदेश, शान्ति, अर्थ-प्राप्ति आदि। परन्तु कविता का यह महत्त्व उसके काव्यात्मक मूल्य को निश्चित नहीं करता जिस प्रकार वह हमें एक कल्पनागत अनुभव के रूप में प्राप्त होता है। और तृतीय यह कि अन्य प्रयोजनों से कविता का वास्तविक मूल्य बढ़ता नहीं, वरन् घटता ही है।
3. कविता के लिए विषय महत्त्व का नहीं होता और न यही कहा जा सकता है कि उसके बिना कविता केवल रूप है, अभिव्यक्ति है। कविता वस्तु और रूप दोनों का संश्लेषण है।

अतः कविता का मूल्य विषय में न रहकर समस्त कविता में है; क्योंकि एक ही विषय पर अनेक कोटियों की कविता लिखी जा सकती है। कविता न केवल विषय है और न केवल रूप या शैली। वास्तव में कविता, कविता ही है। उसमें एक को दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। दोनों का एकीकरण ही कविता का मूल और वास्तविक रूप है। अतः जब कविता को तत्त्वों से अलग नहीं देखा जा सकता तो कविता का प्रयोजन भी कविता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यही बात सभी कलाओं के लिए है। कविता या कला के मूल्य उसके भीतर होते हैं, उसके बाहर नहीं।

ब्रैडले के विचार से कविता का संसार, वास्तविक संसार का अंश न होकर अपने में पूर्ण जगत् होता है। यद्यपि वे कविता का प्रयोजन कविता को ही स्वीकार करते हैं, पर वे यह भी मानते हैं कि कविता का सम्बन्ध मानव-जीवन से है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कलावाद के अन्तर्गत आरम्भ में धर्म और बाद में नैतिकता का विरोध हुआ और कला की निरपेक्ष और स्वायत्त सत्ता स्थापित की गयी। परन्तु इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कला का सम्बन्ध मानव-जीवन के साथ बड़ा ही सुदृढ़ है। मानव-जीवन के अतिरिक्त कला का कोई स्थान नहीं।

6. प्रतीकवाद

प्रतीक : अपने रूप, गुण, कार्य या विशेषताओं की समानता या प्रत्यक्षता

के आधार पर जब कोई वस्तु या कार्य किसी अप्रस्तुत वस्तु, भाव, विचार, क्रिया-कलाप, देश, जाति, संस्कृति आदि का संकेत या प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रकट किया जाता है, तब वह प्रतीक कहलाता है। यह प्रतीक-पद्धति सामान्य जीवन तथा विशिष्ट व्यवहार-क्षेत्र में भी प्रयुक्त होती है। किसी राष्ट्र या धर्म का द्योतक झण्डा, सिक्का, लिपि आदि किसी व्यापक अर्थ के प्रतीक होते हैं। प्रतीकों का व्यवहार सभी देशों और कालों में होता रहा है, परन्तु पाश्चात्य देशों में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में, वहाँ की कला एवं साहित्य के अन्तर्गत प्रतीकवाद एक विशिष्ट प्रवृत्ति या आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ। यह प्रतिक्रिया-स्वरूप प्रकट हुआ और स्वयं इसके प्रति भी प्रतिक्रिया हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में यूरोप की वैज्ञानिक उन्नति के परिणामस्वरूप वहाँ यथार्थवादी दृष्टिकोण का तीव्रता से विकास हुआ। इस दृष्टिकोण का प्रभाव कला और साहित्य के क्षेत्र में सबसे अधिक दिखाई देता है। फ्रान्स में कला के क्षेत्र में प्रभाववाद (Impressionism) और साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवाद (Realism) तथा प्राकृतवाद (Naturalism) का प्रचार हुआ। इन यथार्थवादी प्रवृत्तियों की आदर्शवादी प्रतिक्रिया हुई और सन् 1870 और 1885 के बीच कला और साहित्य के क्षेत्र में प्रतीकवादी आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। इसके परिणामस्वरूप कवियों और चित्रकारों ने बाह्य जगत् और जीवन का वास्तविक चित्रण छोड़कर प्रतीकात्मक सन्दर्भों के द्वारा अपने काल्पनिक आदर्शों को व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया। प्रतीकवादी आन्दोलन को आदर्शवादी और रहस्यवादी चिन्तकों से काफी प्रेरणा और बल मिला। उनकी धारणा थी कि बुद्धि, जीवन के रहस्यमय पर्तों को प्रकाशित करने में असमर्थ है। परन्तु, ये तत्त्व जीवन के मूलाधार के रूप में स्थित हैं जिनका साक्षात्कार करना मानव-चेतना का मूलभूत कार्य है। कला के क्षेत्र में इस विचारधारा के परिणामस्वरूप असीमता, रहस्यात्मकता और आध्यात्मिकता का विकास हुआ।

स्वच्छन्दतावादी काव्य-चिन्तन शब्द की ससीम शक्ति को स्वीकार करता है। शब्द के अभाव में विचार-क्रिया सम्भव नहीं होती। अमरीकी दार्शनिक इमर्सन, शब्द की रहस्यमय शक्ति पर विशेष बल देते हैं। उनके विचार से शब्द और कार्य दिव्य शक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं। हम शब्दों के द्वारा अतीन्द्रियसत्ता का बोध प्राप्त कर सकते हैं। सुप्रसिद्ध कवि कॉलरिज का भी इसी प्रकार का मत था। कॉलरिज और इमर्सन प्रतीकवादी चिन्तना के प्रमुख सूत्रधार थे। इमर्सन का यह भी कथन है कि हम स्वयं प्रतीक हैं और प्रतीकों के उत्पादक भी।

सन् 1886 ईस्वी में 'जॉन मोरेआस' ने 'फिगारो' नामक पत्र में एक घोषणा-पत्र प्रकाशित कराया जिसमें उन्होंने यह कहा कि प्रतीकवाद ही एक ऐसा शब्द है जो कला में सर्जनात्मक प्रवृत्ति को भलीभाँति व्यक्त करता है। विचार या भाव को संवेदनात्मक रूप प्रदान करना ही कला का प्रयोजन है। इस भावना को लेकर अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। इसके उपरान्त सन् 1891 में अलबर्ट ओरिऐट ने एक लेख में प्रतीकवाद को स्पष्ट किया। उन्होंने लिखा कि किसी भी कलाकृति के

लिए पाँच बातें आवश्यक हैं—(1) वह भावात्मक हो, क्योंकि उसका प्रयोजन एक भाव को व्यक्त करना है; (2) वह प्रतीकात्मक हो, क्योंकि वह भाव को रूपाकार के माध्यम से प्रकट करेगी; (3) वह संश्लेषात्मक हो, क्योंकि वह उन रूपाकारों को सामान्य प्रेषणीय उपकरण के रूप में घटित करेगी; (4) वह विषयीपरक हो, क्योंकि उसमें विषय, विषय के रूप में न आकर, कलाकार द्वारा गृहीत भावसंकेत के रूप में होगा और, (5) वह अलंकरणात्मक हो, क्योंकि उपर्युक्त विशेषताएँ ही आलंकारिक कला की विशेषतायें हैं। इस घोषणापत्र और लेखों के द्वारा कला और साहित्य के क्षेत्र में प्रतीकवाद ने एक आन्दोलन का रूप धारण किया।

यह प्रतीकवादी आन्दोलन हीगेल, शॉपेनहोवर और इमर्सन के आदर्शवादी दर्शनों से प्रभावित था। इसके प्रचारकों और समर्थकों में मुख्य कवि और कलाकार थे— एडगर एलेन पो, बादलेयर, वर्लेन, मलार्मे, रिम्बो आदि। इस प्रतीकवाद का प्रभाव जर्मनी, रूस, इंग्लैण्ड और अमेरिका पर भी पड़ा। प्रसिद्ध आयरिश कवि ईट्स इससे बहुत प्रभावित हुआ था।

एडगर एलेन पो के विचारों ने प्रतीकवादियों का प्रारम्भ में पथ-निर्देशन किया। 'पो' शब्द की रहस्यात्मक शक्ति के अन्वेषी थे। वे 'कला, कला के लिए' आन्दोलन के भी सबसे बड़े प्रचारक थे। उनका दृष्टिकोण विशुद्ध सौन्दर्यवादी था। उनके विचार से कवि शिल्पकार होता है, और शब्दों को विशिष्ट शैली में बाँधता है। कविता का मूल तत्त्व विशुद्ध प्रगीतात्मक सघनता है जो क्षणिक होती है, अतः लम्बी कविता, असम्भव है; क्योंकि उसमें थोड़े समय बाद प्रगीतात्मक सघनता नष्ट हो जाती है। 'पो' के विचार से संगीत, कला का सर्वोच्च रूप है, क्योंकि इसमें ही आत्मा, सौन्दर्य के अलौकिक रूप का दर्शन करती है। उनके विचार से अनिश्चयात्मकता, सच्चे काव्य और संगीत का अनिवार्य अंग है किन्तु इसे आध्यात्मिक प्रभाव और व्यंजना से युक्त होना चाहिए। सजग कलाकार अन्तरात्मा के अतल और गहन स्तरों में प्रवेश करता है, पर वह अपनी गहन अनुभूति का कला द्वारा संकेत मात्र ही कर पाता है और इस प्रकार 'पो' के विचारों में प्रतीकवाद का उत्स है।

बादलेयर पर एडगर एलेन पो की रचनाओं का गहरा प्रभाव पड़ा। पो का मत था कि कवि का सचाई और अच्छाई से कोई सरोकार नहीं। उसका चरम उद्देश्य अलौकिक सौन्दर्य प्राप्त करना होता है। सांसारिक या लौकिक सौन्दर्य इस अलौकिक सौन्दर्य की एक प्रतिच्छवि है। इस प्रकार 'पो' ने सांसारिक सौन्दर्य को चरम सौन्दर्य का प्रतीक-रूप स्वीकार किया। इन कला-चिन्तनाओं ने बादलेयर को काफी प्रभावित किया। बादलेयर का अपना विचार था कि इन्द्रिय-संवेदनों की व्याप्ति अनन्त होती है। इससे वह निष्कर्ष निकलता है कि कोई इच्छा, खेद, उल्लास, विचार आदि मन की बातें कल्पना के संसार में तत्सम्बन्धी बिम्बों को उत्पन्न करती हैं। कवि ऐन्द्रिय जगत् से ऐसी सामग्री लेता है जिसमें अपना प्रतीकात्मक दृश्य संसार या स्वप्नलोक की रचना

करता है। यह कार्य उसकी अपनी आत्मानुभूति को प्रकट करने का एक माध्यम होता है। इस प्रकार प्रतीक एक आवश्यक उपाय, आत्मा के अनुभव को प्रकट करने का है।[1] बादलेयर का मत था कि कवि अपने काव्य के माध्यम से दुःख को सुख में परिवर्तित करने की क्षमता रखता है। सौन्दर्य प्रकृति में नहीं, वरन् कला में निहित है। उनके काव्य में भी स्वप्निल भावनायें व्यंजनात्मक प्रतीकों में अभिव्यक्त हुई हैं।

पॉल वर्लेन (Paul Verlaine) के काव्य में प्रतीकवादी प्रवृत्ति खुलकर स्पष्ट हुई है। वर्लेन संगीत को भी महत्त्व देनेवाले कवि हैं। उनकी भाषा संगीत-रचना का साधन है। उनकी भी गणना प्रतीकवादी कवियों में होती है। कुछ आलोचक उन्हें प्रभाववादी कवि भी मानते हैं। परन्तु प्रतीकवाद की प्रतिष्ठा और प्रवर्त्तन का बहुत बड़ा श्रेय 'स्टीफेन मलार्मे' को दिया जाता है। मलार्मे, एडगर एलेन पो और बादलेयर से बहुत अधिक प्रभावित थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में उन्हें प्रतीकवादी आन्दोलन का मार्ग-दर्शक और गुरु मान लिया गया था। वे कविता को एक साधना और तप मानते थे। कविता एक शिल्पगत परिपूर्ण कला है। मलार्मे और उनके सहयोगी प्रतीकवादी इसलिए कहे जाते हैं; क्योंकि उन्होंने अपने अलौकिक अनुभव को दृश्य वस्तुओं के माध्यम से प्रकट किया है। उसकी भाषा का प्रायः प्रत्येक शब्द प्रतीक है और वह सामान्य अर्थ में प्रयुक्त न होकर उस अनुभव और सत्य के लिए प्रयुक्त हुआ है जो इन्द्रियों से परे है।[2] उन्होंने स्पष्ट किया कि मानव-चेतना का प्रतिक्षण अपूर्व होता है। प्रतीकवादी कवि संवेदना के इन क्षणों में पाठकों को अपनी संवेदना सम्प्रेषित करना चाहता है। परन्तु यह कार्य कठिन होता है। अनुभूति अखण्ड होती है और सम्प्रेषण उसमें व्याघात उपस्थित करता है, अतः उसे एक विशिष्ट काव्यभाषा का निर्माण करना पड़ता है। यह प्रतीकमय होती है। प्रतीक, सहज बोधगम्य नहीं होते। मलार्मे, उसे प्रतीक नहीं मानते हैं जो सहज बोधगम्य हो। वे क्लासिकल काव्य की बौद्धिकता और स्वच्छन्दतावादी काव्य की भावुकता के विरोधी हैं। उनके विचार से रोमांच और ऐन्द्रिक चेतना विशेष महत्त्वपूर्ण होती है और कविता का प्रायः प्रत्येक शब्द

---

1. Since sensuous data can have "the expansion of, infinite things" it follows that a desire, a regret, a thought, things of the mind can awaken a corresponding symbol in the world of images (and vice versa). From the world of the senses the poet takes the material in which to forge a symbolic vision of himself or of his dream; what he takes of the world of the senses is that it give him the means of expressing the soul : Baudelaire in *Documents of Modern Art* (Translated).
2. "He (Mallarme) and his followers are rightly called symbolists because, they attempted to convey a supernatural experience in the language of visible things and therefore almost every word is symbol and is unsed not for its common purpose, but for the association which it evokes of reality beyond the sense," C.M. Bowra : *The Heritage of Symbolism*, p. 5.

रोमांच का या ऐन्द्रिक संवेदन का प्रतीक होता है। प्रतीक सत्य के उस रूप को संवेद्य बनाते हैं जो बुद्धिग्राह्य नहीं होता। मलार्मे के विचार से काव्य यथार्थ का प्रकाशन न होकर, यथार्थ की संक्रमणशील अनुभूति की अभिव्यक्ति होता है। संगीत उनकी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता है। काव्य और संगीत तद्रूप होते हैं और संगीत के माध्यम से ही चरम तत्त्व का अनुभव हो सकता है। कवि जो कुछ देना चाहता है, वह अर्थमात्र नहीं है, वह जो एक व्यापक, विराट् सत्य की अनुभूति कराना चाहता है, वह संगीत के माध्यम से ही सम्भव है। उसकी संगीत की कल्पना अंतरिक्ष में निरन्तर प्रवहमान संगीत के रूप में होती है, जिसके कुछ कण कवि अपने शब्द-प्रतीकों द्वारा सम्प्रेषित करता है।

मलार्मे का विचार है कि कवि जब काव्य-रचना में संलग्न होता है, तब वह मात्र कवि रहता है और उसका मानव-स्वभाव, व्यक्तित्व और निजी सम्बन्ध तिरोहित हो जाता है। वह मैं, की घनीभूत अनुभूति के माध्यम से आध्यात्मिक जगत् का उद्घाटन करता है। अपने विचारों और रचनाओं के कारण मलार्मे को प्रतीकवादियों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

प्रतीकवादी विचारधारा में रिम्बो (Rimbaud) का भी विशिष्ट योगदान है। इनके काव्य में प्रतीकवाद का एक उन्मेष देखने को मिलता है, परन्तु बाद की कविता में निराशावाद और मोहभंग का रूप प्राप्त होता है। यों सन् 1871 ईस्वी में अपने मित्र को लिखे दो पत्रों में इनके काव्य-सम्बन्धी विचार प्रकट होते हैं। उनमें इनका यह मत व्यक्त हुआ है कि कवि अनवरत साधना करता है और वह एक द्रष्टा होता है। वह अपने मन की गहराइयों के भीतर जाकर, अज्ञात की ओर उन्मुख होता है। वह अपनी वेदना को पीकर, अन्तर्द्वन्द्व को सहकर अटूट आस्था और अतिप्राकृतिक शक्ति का परिचय देता है। उसकी मूलशक्ति आत्मसाक्षात्कार में है। वह मानवता के साथ तादात्म्य स्थापित करता है और इसी में वह एक पतितमानव का भी चित्रण करता और बुद्धिमान् का भी। वह इन दोनों के साथ ही तादात्म्य स्थापित करता है। वह पशु-जगत् और प्रकृति में भी चेतना का अनुभव करता है और उनके क्रिया-कलापों से अनुभव प्राप्त कर संसार के लोगों में वितरित करता है। इन सबके लिए उसे नयी काव्य-भाषा का निर्माण करना होता है। इसी के लिए रिम्बो ने नये प्रतीकों और बिम्बों को आवश्यक माना है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में प्रतीकवाद अपने उच्चतम विकास पर था और फ्रान्सीसी काव्य में इसका बड़ा प्रभाव देखा जा सकता है। फ्रान्सीसी कविता में इसके प्रभावस्वरूप एक विशिष्ट भंगिमा विकसित हुई। परन्तु प्रतीकवाद का प्रभाव केवल फ्रान्स तक ही सीमित नहीं रहा। वह समस्त यूरोप में छा गया। बेल्जियम में अनेक प्रतीकवादी कवि हुए। इस समय के प्रतीकवादियों में पाल बैलेरी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने सृजन के साथ चिन्तन का समन्वित समावेश किया। अपने सामाजिक और दार्शनिक निबन्धों में इन्होंने नयी ध्वन्यात्मक शैली का प्रतिपादन किया। संगीत को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी उन्होंने कविता में उसके सहज रूप को ही स्वीकार

किया, उसके आयासलभ्य, कृत्रिम रूप को नहीं। बैलेरी के काव्य में बुद्धि और भावना का समन्वय है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते प्रतीकवादी प्रवृत्ति का प्रभाव मन्द पड़ गया और धीरे-धीरे उसका ह्रास हो गया।

प्रतीकवाद वास्तव में आन्तरिक घनीभूत अनुभूति को विशिष्ट भंगिमा के साथ संकेतात्मक अभिव्यक्ति पर बल देनेवाली विचारधारा थी। इसके अन्तर्गत ध्वनियों और बिम्बों के माध्यम से परोक्ष या अप्रस्तुत की व्यंजना का उपक्रम किया गया। प्रतीकवादी कवि काव्य में संगीत को महत्त्वपूर्ण समझते हुए भी छन्दमुक्ति के समर्थक थे। उनका मत था कि विशिष्ट अनुभूतियाँ सामान्य भाषा के माध्यम से व्यक्त नहीं की जा सकतीं, इसलिए अभिव्यंजना की नयी संकेतात्मक प्रणाली आवश्यक है। इसी के परिणामस्वरूप नये प्रतीकों और बिम्बों का अन्वेषण किया गया। आन्तरिक रहस्यात्मक अनुभूतियों को अस्पष्ट संकेतात्मक प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करने की परिपाटी बन गयी। परन्तु प्रतीकवादी काव्य अस्पष्टता, रहस्यवादिता, सांकेतिकता और काल्पनिकता के कारण समाज-विरोधी माना गया। इसमें अतिशय निराशावाद और विषण्णता के कारण वह ह्रासोन्मुखी माना जाने लगा। फिर भी प्रतीकवाद का सीमित और प्रतिक्रियात्मक उपयोग था। आधुनिक कविता के सुप्रसिद्ध आलोचक 'लुई मैकनीस' ने अपने ग्रन्थ *मॉडर्न पोइट्री* में लिखा है कि परनेशियनवाद, प्रतीकवाद और बिम्बवाद 'कविता को जीवन से दूर करने के प्रयत्न थे।'[1] वास्तविकता तो यह है कि प्रतीकवाद के पास कोई ठोस दार्शनिक भूमि नहीं थी और न कोई राजनीतिक एवं सामाजिक विचारणा ही। इसके कवियों और आलोचकों के विचारों में अन्तर्विरोध भी देखने को मिलता है। ऐसी दशा में प्रतीकवाद, कोई निश्चित काव्य-सिद्धान्त नहीं बन सका। वह एक अभिव्यक्ति-शैली का आन्दोलन था। उसे एक वाद की ही मान्यता मिल सकी।

7. बिम्बवाद

वस्तु, व्यक्ति, भाव, विचार, रूप, गुण आदि को इन्द्रिय-गोचर या हृदयंगम बनाने के लिए जो स्पष्ट सम्प्रेषण अप्रस्तुत विधान के उपयोग की प्रणाली है, उसे बिम्बवाद कहा जा सकता है। यह काव्य में बिम्ब के व्यवहार की पद्धति है। बिम्ब हमारी इंन्द्रियों को प्रभावित करनेवाले कल्पनागत रूप हैं।[2] वे हमारे ऐन्द्रिक दृश्य, श्रव्य एवं अन्य अतीत प्रभावों का स्मृति द्वारा मन में पुनः जागरण या पुनः प्रस्तुतीकरण

---

1. Pamassianism and symbolism in France, the poetry of nineties in England and later Imagism in America, were all attempts to divorce art form life.—Louice Macneice in *Modem Poetry*.
2. The sensory appeals in poetry which we have considering are usually referred to as images; an image, being understood to be the mental or imagined representation of anything not actually present to the senses.
   —*Element of Poetry* by James R. Kreuzer

होते हैं।[1] ये बिम्ब रूप और गुणों के सादृश्य के आधार पर मन में जाग्रत् होते हैं। बिम्ब-विधान का मूल कार्य वस्तु, भाव, विचार को इन्द्रियगम्य बनाने के साथ-साथ अप्रस्तुत व्यक्ति, रूप या घटना को प्रत्यक्ष कराना भी होता है। इसके अतिरिक्त (1) काव्यार्थ को स्पष्ट करना,[2] (2) भाव-सम्प्रेषण में सहयोग देना, (3) भाव को उत्तेजित करना, (4) वस्तु या घटना को वर्तमान में प्रत्यक्ष कराना, (5) सौन्दर्य और रूप को आकार देकर हृदयंगम कराना भी होता है।

यूरोप में बिम्बवाद एक आन्दोलन के रूप में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रतीकवाद की अस्पष्टता और रहस्यवादिता तथा स्वच्छन्दतावाद की भावुकता एवं अनिर्दिष्टता का विरोध करके कविता में स्पष्टता और ग्राह्यता लाने के उद्देश्य से प्रारम्भ हुआ। इसमें कुछ अमरीकी और अंग्रेजी कवि सम्मिलित हुए। अपने बिम्बवादी आन्दोलन के साहित्यिक कार्यक्रम का सूत्रपात सन् 1912 में सुप्रसिद्ध कवि एज़रा पाउण्ड के द्वारा किया गया। परन्तु बिम्बवादी विचार टी.ई. हुल्मे (T.E. Hulme) के लेखों से प्रेरित हुए जो उन्होंने स्वच्छन्दतावादी आशावाद और अस्तव्यस्त विचारों के विरोध में लिखे गये। बिम्बवादियों में स्पष्ट और ठोस रूपरेखा के आधार पर निश्चित दृश्य बिम्बों के काव्यमय वक्तव्य दिये। यह फ्रेञ्च प्रतीकवाद का एक उत्तराधिकारी आन्दोलन था। यह कहा जा सकता है कि प्रतीकवाद का सम्बन्ध जहाँ संगीत-कला से था, वहीं बिम्बवाद की घनिष्ठता मूर्ति-कला के शिल्प से स्थापित हुई। एज़रा पाउण्ड ने 1914 ई. में अनेक बिम्बवादी कवियों के संग्रहों का सम्पादन किया तथा बिम्बवादी आन्दोलन के सूत्रधार बने रहे। आगे चलकर अमरीकी कवि आमी लोवेल (Miss Amy Lowell) ने इसकी बागडोर सँभाली। टी.एस. इलियट की कविता भी बिम्बवाद से प्रभावित थी।

जैसा कहा जा चुका है कि बिम्बवादी विचारधारा के प्रवर्तक टी.ई. हुल्मे को ही माना जाता है। उन्होंने सन् 1909 ई. में इसका श्रीगणेश किया, जिसको एज़रा पाउण्ड ने अपने सम्पादित ग्रन्थ *दि रिपोर्ट्स* की भूमिका में इमेजिज़्म या बिम्बवाद की संज्ञा प्रदान की। हुल्मे ने अतिशय भावुकता या संवेदना को कविता में स्थान देने की आलोचना की। वे भावुक और काल्पनिक दृष्टिकोण के विरोधी थे। वे तथा अन्य बिम्बवादी मानते थे कि कविता की पंक्ति की लम्बाई कवि द्वारा प्रयुक्त बिम्बों की प्रकृति पर निर्भर करती है। हुल्मे नियमवादिता के विरोधी थे तथा स्वच्छन्दता को महत्त्व देते थे। उनका नयी उपमाओं के प्रयोग का आग्रह था। फ्रान्सीसी मुक्त काव्य के वे प्रशंसक थे। उनकी मान्यता थी कि प्रत्येक युग में नये प्रकार के काव्य की

1. Image is a revival, reproduction by memory, in the mind of some sensuous experience, undergone in the past including the visual, auditive, tactile and other impressions, associated with it.—*The Art of Drama* by Ronald Peacock, p. 96.
2. But often the image, as in Dante, is there to clarify or run home the meaning.—*Modern Poetry* by Louice Macneice, p. 80.

आवश्यकता होती है। कविता अन्तर्मुखी होती है तथा कवि, मानस के छायाचित्रों तथा प्रभावों को व्यक्त करती है। सच्ची कविता लिखना एक कठिन कला है जिसमें बिम्ब का निर्माण किया जाता है, उपयुक्त लय की योजना होती है तथा पुराने छन्दों का सरल प्रयोग होता है। कविता एक सरल और सीधी भाषा है, क्योंकि वह बिम्बों की सृष्टि करती है और बिम्बों के माध्यम से कोई भी वस्तु या विचार बड़ी सरलता से समझा जा सकता है। हुल्मे का विचार था कि नयी बिम्ब-प्रधान कविता संगीत की अपेक्षा मूर्तिकला के अधिक निकट है, जबकि प्रतीकवाद संगीत से जुड़ा हुआ है। बिम्बवादी कविता कानों की अपेक्षा आँखों को अधिक प्रभावित करती है। कविता की आत्मा की मिट्टी से विभिन्न आकारों के अनेक बिम्बों को निर्मित करना पड़ता है। वह लचीले बिम्बों का निर्माण कर उसे पाठक के हाथों सौंप देती है, जबकि पुरानी कविता लय के मोहक मायाजाल से पाठकों को प्रभावित करती है। बिम्बवादी कविता में प्रत्येक पद एक देखे गये बिम्ब का वाहक होता है; उसमें अनुमान के लिए अवकाश नहीं होता।

काव्य-सृजन के सम्बन्ध में हुल्मे का विचार है कि साधारण व्यक्ति भी कवि के समान ऐसे भावों की अनुभूति करता है जो उसे अभिभूत कर लेते हैं। परन्तु वह उसकी सही अभिव्यक्ति नहीं कर पाता, परन्तु कवि अपनी अनुभूति को व्यक्त करने के लिए नये बिम्बों की तलाश करता है। वह पदों को कविता के रूप में सजाता है। किन्तु जब वह कविता की पंक्तियों को किसी रूप में ढालने की चेष्टा करता है तब वह बिम्बों का नियोजन करता है। वास्तव में कविता स्वयं लिखी जाती है, वह प्रयत्नसाध्य नहीं। कवि शब्दों से नये बिम्बों का निर्माण करता है। सर्जनात्मक प्रक्रिया का अर्थ ही है नये बिम्बों का निर्माण। हुल्मे यद्यपि स्वच्छन्दतावाद के विरोधी हैं फिर भी उनके विचारों में स्वच्छन्दतावाद के समान ही प्रभाव है।

बिम्बवादी आन्दोलन के साथ आधुनिक काव्य-चेतना का आरम्भ हुआ। इसके अनुसार कविता एक प्रतिबिम्ब या प्रतिबिम्बों की परम्परा है जो किसी विशेष क्षण, बौद्धिक और रागात्मक ग्रन्थियों को खोलती है। काव्य-सृजन का समय क्षणिक होता है और काव्य-प्रेरणा के क्षणों के अल्पायु होने के कारण लम्बी कविता असम्भव है। लघु कविता ही वास्तविक कविता है। बिम्बवादियों ने कविता के जिन उद्देश्यों को स्पष्ट किया है वे निम्नांकित हैं :

1. प्रचलित सामान्य भाषा का प्रयोग करना तथा वांछित अर्थ के लिए उपयुक्त शब्दों का ही प्रयोग करना।

2. अस्पष्ट यथार्थ का प्रयोग न कर ठोस और स्पष्ट कविता की रचना करना।

3. प्राचीन मानसिकता की द्योतक पुरानी लयों का प्रयोग न करके ठोस और स्पष्ट बिम्बों की रचना करना।

इस प्रकार बिम्बवाद एक प्रकार का काव्यशास्त्रीय आन्दोलन था। इसका विकास भी क्रान्तिकारी ढंग से हुआ, परन्तु वह सामाजिक और बौद्धिक धरातल पर स्थित

स्वच्छन्दतावाद को समाप्त नहीं कर सका। सन् 1930 में इस विचारधारा का अन्तिम काव्य-संकलन निकला और द्वितीय महायुद्ध के आते-आते इसका प्रभाव समाप्त हो गया।

8. प्राकृतवाद

प्राकृतवाद अंग्रेजी के नेचुरलिज़्म का हिन्दी रूपान्तर है। यह प्रकृतिवाद से भिन्न है जिसका अर्थ प्रकृति-सम्बन्धी काव्य और साहित्य से होता है। साहित्य और कला के अन्य अनेक आन्दोलनों के समान इस आन्दोलन का भी प्रारम्भ और विकास फ्रान्स में हुआ। यह एक प्रकार से यथार्थवाद का समकक्ष आन्दोलन है। इसकी मान्यताओं के अनुसार आत्मा या अन्य कोई अलौकिक सत्ता नहीं है। जो कुछ हो रहा है वह सब प्रकृति के द्वारा ही संचालित है, किसी पारलौकिक सत्ता या शक्ति के द्वारा नहीं। प्राकृतवादी विचारधारा का आरम्भ सन् 1830 की फ्रान्सीसी क्रान्ति के बाद हुआ। यथार्थवाद की अपेक्षा यह सामाजिक परिवेश को लेकर चला और इसके द्वारा पूँजीवादी वैभव विलास के वातावरण में मानव-प्रकृति के अन्दर समाविष्ट विकृतियों का विश्लेषण भी किया गया। यथार्थवाद केवल उतना ही चित्रण करता है जितना प्रत्यक्ष होता है। उसका दृष्टिकोण तटस्थ रहता है और अपनी निजी भावनाओं का चित्रण कवि उसमें नहीं करता; परन्तु, इसके विपरीत प्राकृतवादी कलाकारों की रचनाओं में उनका व्यक्तित्व भी उभरकर आता है। इसके साथ ही साथ साहित्यकार का जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण होता है वह भी प्राकृतवादी रचनाओं में देखने को मिलता है।

प्राकृतवाद की प्रवृत्ति काव्य की अपेक्षा उपन्यासों में विशेष रूप से देखने को मिलती है। प्राकृतवाद का प्रमुख रीति से प्रवर्तन फ्रेञ्च उपन्यासकार 'एमिली ज़ोला' के उपन्यासों में हुआ। उन्होंने अपने एक्सपेरीमेण्टल नावेल में प्राकृतवाद की विशेषताओं का वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि प्राकृतवादी उपन्यासकार को दो रूपों में कार्य करना होता है—एक पर्यवेक्षक का और दूसरा प्रयोगकर्ता का। पर्यवेक्षक रूप में वह जीवन के तथ्यों को उसी प्रकार प्रस्तुत करता है जिस प्रकार उसने देखा है और इस प्रकार वह घटनाओं और पात्रों का समावेश कर एक विस्तृत भूमि तैयार करता है। इसके पश्चात् उसका प्रयोगकर्ता का रूप उभरकर आता है जिसके अन्तर्गत वह कथानक-विशेष के अन्तर्गत अपने पात्रों को संचालित करता है और अपना प्रयोग आरम्भ करता है। इस प्रकार के उपन्यासों में सामाजिक परिवेश, परम्परा और बाह्य परिस्थितियों के द्वारा घटनाओं का नियोजन होता है। प्राकृतवादी उपन्यासकार एक वैज्ञानिक की भाँति निरपेक्ष और तटस्थ दृष्टिकोण रखता है। नीति, मर्यादाओं और सामाजिक नियमों के प्रति भी वह उदासीन रहता है, प्राकृतवादी शुद्ध रूप से भौतिकवादी रहता है। वह सृष्टि को चलानेवाली किसी सत्ता को स्वीकार नहीं करता। उसके मतानुसार सारी सृष्टि अपने-आप चल रही है, किसी बाहरी या ईश्वरीय सत्ता द्वारा संचालित नहीं है। एमिली ज़ोला के अनुसार जिस प्रकार भौतिकवादी प्रकृति के तत्त्वों का अध्ययन

करता है उसी प्रकार साहित्यकार को मनुष्य का अध्ययन भी करना चाहिए। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण एक वैज्ञानिक के दृष्टिकोण के समान है।

प्राकृतवाद स्वच्छन्दतावादी भावुकता और आदर्शवाद का विरोधी है। प्राकृतवादी कलाकार ऐसे तथ्यों की खोज में रहता है जो मनुष्य की निम्नस्तरीय और पाशविक मनोवृत्तियों को जगा सकें। अच्छे और बुरे का खयाल किये बिना वह जो देखता है उन सबका चित्रण करता है। प्राकृतवादी साहित्य में प्रायः विकृतियों और अश्लीलतापूर्ण दृश्यों का अधिक चित्रण रहता है। प्राकृतवादी कलाकार का उद्देश्य अच्छे और बुरे का निर्णय देना नहीं, वरन् जीवन को यथार्थ रूप में देखना, समझना और समझाना होता है। वह अपने पात्रों को आदर्शरूप में उपस्थित करने का प्रयत्न नहीं करता और न उसको त्यागता है जिसे कुरूप और कुत्सित कहा जाता है।

प्राकृतवाद की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित रूप में देखी जा सकती हैं :

1. प्राकृतवादी सृष्टि को स्वतःपूर्ण एवं अपने नियमों से स्वतःचालित मानते हैं, किसी बाहरी या अलौकिक शक्ति से संचालित नहीं।
2. प्राकृतवादी साहित्यकार अपने चरित्रों को, सामाजिक परिवेश में यथार्थ रूप में चित्रित करता है।
3. प्राकृतवादी साहित्यकारों की रचनायें यथार्थवादी होती हैं, पर उनमें रचनाकार तटस्थ नहीं रहता; वरन् उसका व्यक्तित्व रचनाओं में उभरकर आ जाता है।
4. प्राकृतवादी कलाकार यह मानता है कि मनुष्य की सत्ता और जीवन के स्वरूप को बनानेवाला उसका सामाजिक परिवेश है।
5. प्राकृतवादी साहित्य में जीवन के कुरुचिपूर्ण, कुत्सित और अश्लील अंश ज्यों के त्यों चित्रित होते हैं, उनका त्याग नहीं किया जाता।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राकृतवाद मानव-जीवन के उदात्त, आदर्श और प्रेरक स्वरूप का चित्रण न करके उसके कुरुचिपूर्ण और जघन्य पक्ष को ही उजागर करता है जिससे घृणा और कुत्सा का अवांछनीय प्रचार होता है। परिणामस्वरूप प्राकृतवाद न तो कोई उत्कृष्ट चरित्र ही प्रदान कर सका और न जीवन की उदात्त प्रेरणा ही दे सका।

9. अतियथार्थवाद

अतियथार्थवाद का प्रारम्भ फ्रान्स में बीसवीं शताब्दी के शुरू में हुआ। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् फ्रान्स में एक साहित्यिक प्रतिक्रिया के रूप में यथार्थवाद का जन्म हुआ। सन् 1916 ई. में ज्यूरिच राष्ट्रों के साहित्यकारों ने 'दादावाद' नामक साहित्यिक आन्दोलन का प्रवर्तन किया। इसमें प्रमुख हाथ ज्याँ आर (Jean Arpe) और उनके साथियों का था। जीवन से निराश युवाओं ने एकत्र होकर यह कहा कि उनके साथ जिन्दगी ने दगा किया है इसलिए वे उसके अनैतिक कारनामों का भण्डाफोड़ करेंगे। कला के क्षेत्र में इन्होंने नई धारा प्रवाहित की। उन्होंने परम्परागत संस्कृति का उपहास

किया। इसका विशेष सम्बन्ध चित्रकला से था। इसमें वैचित्र्यवाद का विशेष स्थान है। यही दादावाद था। दादावाद के प्रधान चित्रकार 'ज्याँ आर' और अर्न्स्ट माक्स थे। दादावाद विद्रोह की भावना पर आधारित था। इसमें निराशावादी भावनाओं का अतिशय समावेश है। इस कारण यह वाद अधिक समय तक नहीं चल सका। वहुत से साहित्यकार साहित्य को नये परिप्रेक्ष्य में देखने को उत्सुक थे। इसी कारण 1920 ई. में अतियथार्थवादी विचारधारा का जन्म हुआ। आन्द्रेब्रेताँ ने सन् 1924 ई. में घोषणा-पत्र प्रकाशित किया जिससे अतियथार्थवादी आन्दोलन का आरम्भ हुआ। उसका सैद्धान्तिक रूप इन्हीं के दूसरे घोषणा-पत्र में प्रकट हुआ है जो 1930 में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद यह साहित्यिकवाद सारे विश्व में फैल गया। फ्रान्स के उपरान्त इस वाद का सबसे अधिक प्रचार इंग्लैण्ड में हुआ। यह बात सन् 1936 ई. में इंग्लैण्ड में आयोजित अतियथार्थवादी कला की एक विशाल प्रदर्शनी से सिद्ध हो जाती है। इस ऐतिहासिक प्रदर्शनी में हर्बर्ट रीड ने अतियथार्थवादी सिद्धान्त का विस्तृत परिचय दिया था।

अतियथार्थवाद एक प्रकार की ऐसी स्वतःचालित क्रिया का परिचायक है जिस पर सामाजिक, बौद्धिक अथवा नैतिक किसी प्रकार के अंकुश नहीं होते। वास्तव में अतियथार्थवाद की मूल धारणा 'फ्रायड' के अचेतन मन की अवधारणा पर आधारित है। अचेतन मन में हमारी इच्छायें और वासनाएँ अपने मूल रूप में विद्यमान रहती हैं। उसकी क्रियाएँ भी उन्मुक्त और स्वचालित होती हैं। अतियथार्थवादी साहित्य का मूलाधार, यही अचेतन मन है। इस प्रकार अतियथार्थवाद एक विशुद्ध स्वतःचालित क्रिया थी, जिसके द्वारा विचारों के मूलरूप को मौखिक, लिखित या अन्य रूप में प्रकट किया जाता है। इसमें बुद्धि, नीति, या सामाजिक नियमों और मर्यादाओं का नियन्त्रण नहीं रहता। अतियथार्थवादी लेखकों का विचार है कि जब कवि बुद्धि या तर्क की सहायता के बिना अवचेतन की झंकार को शब्दमय अभिव्यक्ति देता है तो श्रेष्ठ कविता का जन्म होता है क्योंकि ऐसी दशा में अनुभूति और लेखन के बीच कोई व्यवधान नहीं रहता। साथ ही साथ अभिव्यक्ति सहज, नैसर्गिक और तात्कालिक होती है। इसका मूल लक्ष्य चेतन और अचेतन मन के बीच की दीवारों को हटाना है तथा कविता को सामाजिक या अन्य नियन्त्रणों से मुक्ति दिलाना है और इस प्रकार एक ऐसे अतियथार्थ का निर्माण करना है जहाँ सत् और असत् तथा चिन्तन और कार्य के बीच कोई अन्तराल नहीं, जहाँ दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। अतियथार्थवादी आन्दोलन ने काव्य और कला को अधिकाधिक सहज और स्वाभाविक बनाने में मन की गहराइयों में छिपी वासनाओं को सीधी अभिव्यक्ति देने में तथा चेतन और अचेतन मन के बीच के व्यवधान को समाप्त करने में प्रभावशाली योगदान किया। इंग्लैण्ड में अतियथार्थवादी आन्दोलन के प्रमुख समर्थक हर्बर्ट रीड थे। उन्होंने मिशनरी ढंग से इस विचारधारा का प्रचार-प्रसार किया और इस साहित्यिक आन्दोलन को सुनियोजित गति प्रदान की। उन्होंने इसका विरोध करनेवालों को संयत और प्रभावशाली उत्तर भी दिया। उन्होंने कहा कि इतनी अधिक अपरिचित विशेषताओं से युक्त

आन्दोलन का महत्त्व समझने में असमर्थ समाचारपत्रों ने इसका मजाक किया है। इसको समझने पर निश्चय ही विरोध बन्द हो जायेगा।

अतियथार्थवादी विचारधारा अपने से बाहर किसी भी प्रतिबन्ध को स्वीकार नहीं करती। उसमें नैतिक उपदेश, सामाजिक रूढ़ियाँ या सांस्कृतिक परम्पराएँ अर्थहीन मानी गयी हैं क्योंकि वे काव्य से बाहर के तत्त्व हैं। हर्बर्ट रीड ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि अतियथार्थवादी के हृदय में उस नैतिकता के लिए कोई सम्मान का भाव नहीं हो सकता जो एक ओर घोर गरीबी और दूसरी ओर अतिशय अमीरी का पोषण करे। जो भूखे अथवा अधभूखे मनुष्यों के होते हुए भी धरती की उपज नष्ट कर दे। जो एक ओर विश्व-शान्ति का परिचय दे और दूसरी ओर युद्ध की विभीषिका उपस्थित करे जिसका परिणाम भयंकर विनाश हो। वह नैतिकता जो काम-वासना को इतना विकृत कर दे कि सैकड़ों उत्तेजित स्त्री-पुरुष पागल बन जायें। वह नैतिकता जिसके कारण असंख्य व्यक्ति दुःख का बोझ उठायें अथवा उसके प्रपंच से मस्तिष्क को विकृत कर लें। ऐसी नैतिकता के लिए अतियथार्थवादियों के हृदय में घृणा और अनादर के सिवा और कोई भाव नहीं होता। अतियथार्थवाद स्वतन्त्रता और प्रेम पर आधारित है, परन्तु वह यह भी नहीं मानता कि मनुष्य अपने-आपमें सर्वथा कलंकरहित और पूर्ण हो सकता है। उसके अनुसार मनुष्य के साथ त्रुटियाँ और अपूर्णता सदैव जुड़ी हैं। मनुष्य की पूर्णता उसकी अपूर्णता में और उसका आदर्श उसकी बुराइयों में छिपा रहता है। नियन्त्रण और प्रतिबन्ध मनुष्य के वास्तविक रूप और सहज जीवन को विकृत कर देते हैं। अतियथार्थवाद वास्तव में स्वच्छन्दतावाद का ही एक अतिरेकी रूप है और उसकी प्रकृति विद्रोहात्मक है।

अतियथार्थवादी रचना का सम्बन्ध मुख्य रूप से स्वप्नों और मन की अवचेतन अवस्थाओं से है। वह स्वतःचालित लेखन है। इसका सम्बन्ध दैवी प्रेरणा से नहीं है। स्वतःचालित लेखन वह है जिसमें अभिव्यक्ति तत्काल और नैसर्गिक रूप में होती है। यह व्यवस्था का विरोधी है, क्योंकि इससे मनुष्य की अन्वेषण-वृत्ति में बाधा पहुँचती है। यह अनीश्वरवाद पर आधारित जीवन-दर्शन है और इसमें अव्यवस्था की भावना को प्रश्रय दिया गया है। मोटे तौर से अतियथार्थवाद की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. प्राचीन और परम्परागत रूढ़ियों और व्यवस्थाओं को नष्ट कर देना अतियथार्थवादी आन्दोलन का मुख्य ध्येय है।
2. अतियथार्थवाद प्रचलित नैतिक मान्यताओं के विरुद्ध है। इसके अनुसार आधुनिक नैतिकता एकदम खोखली है। अतियथार्थवाद के अपने मूल्य स्वतन्त्रता और प्रेम पर आधारित हैं।
3. अतियथार्थवाद कला को अत्यधिक बौद्धिक बनाने का विरोधी है। जीवन का एकान्त काल्पनिक पक्ष ही उसे अधिक प्रिय है। व्यक्तित्व के आन्तरिक विरोधों का चित्रण करना उसका मुख्य उद्देश्य है।

4. अतियथार्थवादी कलाकार की अभिव्यक्ति में पूर्ण स्वच्छन्दता का समर्थक है, क्योंकि वह स्वप्न और अवचेतन मन से सामग्री ग्रहण करता है जिसके क्रिया-कलाप के अनेक रूप हो सकते हैं। अतः अतियथार्थवादी कला में भी अभिव्यक्ति की अनेक भंगिमाएँ देखी जा सकती हैं।

अतियथार्थवाद इस प्रकार नई साहित्यिक रचनाओं और कला-सर्जनाओं के लिए आधुनिक युग में एक विश्वव्यापी प्रेरक आन्दोलन के रूप में आया तथा उसने अभिव्यक्ति की नई-नई सम्भावनाओं के मार्ग प्रशस्त किये।

सहायक अध्ययन-सामग्री

(क) अंग्रेजी

Abercrombie Lascelles	:	*Principles of Literary Criticism*
Aristotle	:	*Poetics*
Arthur Compton Rickett	:	*A History of English Literature*
Arnold Matthew	:	*Essays in Criticism*
Bowra C.M.	:	*The Creative Experiment* *The Heritage of Symbolism*
Bosanquet Bernard	:	*A History of Aesthetics*
Blackham H.J.	:	*Six Existentialist Thinkers*
Butcher S.H.	:	*Aristotle's Theory of Poetry and Fine Arts*
Bradley A.C.	:	*Oxford Lectures on Poetry*
Caudwell Christopher	:	*Illusion and Reality, Studies in a Dying Culture*
Carrit E.F.	:	*The Theory of Beauty*
Croce	:	*Aesthetics*
	:	*The Essence of Aesthetics*
Devies H.S.	:	*Surrealism of the Time and Place*
David Daiches	:	*Critical Approaches to Literature*
Eliot T.S.	:	*Selected Poems of Ezra Pound*
	:	*Literary Essays of Ezra Pound*
	:	*The Sacred Wood*
	:	*The Use of Poetry and the Use of Criticism*
Freud Sigmund	:	*Introductory Lectures in Psycho-analysis*
Gorky Maxim	:	*Life and Literature*
Herbert Read	:	*The Meaning of Art*
	:	*The True Voice of Feeling*
	:	*Collected Essays in Literary Criticism*

Hulme T.E. : Speculations
Hegel : Philosophy of Fine Arts, Vol. IV
Ingram Bywater : Aristotle on Art of Poetry
Jung : Contribution of Analytical Psychology
James R. Kreuzer : *Element of Poetry*
Kenneth C. Barnes : *The Creative Imagination*
Karl Marx and others : *Literature and Arts*
Lucas E.L. : *Psychology and Literature*
Lucacs George : *Studies in European Realism*
Lewis C. Day : *The Poetic Image*
Louice Makneice : *Modern Poetry*
Poe, Edgar Allan : *Complete Works*
Richards I.A. : *Principles of Literary Criticism*
: *Practical Criticism*
Relph Fox : *The Novel and the People*
Renewellek : *A History of Modern Criticism*
Renewellek & Austin Warren : *Theory of Literature*
Ronald Peacock : *The Art of Drama*
Sartre Jean Paul : *Existentialism and Humanism*
Saintsbury George : *A History of English Criticism*
: *History of Criticism and Literary Taste in Europe*
Scott James : *The Making of Literature*
Talstoy Leo : *What is Art and other Essays*
W. Wimsatt & Cleanth Brooks : *Literary Criticism : A Short History*
Worsfold : *Judgment in Literature*
: *Principles of Literary Criticism*
Walter Pater : *Appreciations*

(ख) हिन्दी

डॉ. कृष्णदेव शर्मा : *समीक्षा-सिद्धान्त*
डॉ. गंगाधर झा : *आधुनिक मनोविज्ञान और हिन्दी-साहित्य*

डॉ. देवराज उपाध्याय : *रोमाण्टिक साहित्यशास्त्र*

प्रो. देवेन्द्रनाथ शर्मा : *पाश्चात्य काव्यशास्त्र*

सं. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा : *हिन्दी साहित्य-कोश*

डॉ. नरेन्द्रदेव वर्मा : *आधुनिक पाश्चात्य काव्य और समीक्षा के उपादान*

डॉ. नगेन्द्र : *अरस्तू का काव्यशास्त्र*

डॉ. नगेन्द्र (सं.) : *पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धान्त और वाद*

नरोत्तम नागर (अनु.) : *दर्शन, साहित्य और आलोचना*

डॉ. प्रेमशंकर : *स्वच्छन्दतावादी साहित्य-चिन्तन*

डॉ. प्रतापनारायण टण्डन : *पाश्चात्य समीक्षा की रूपरेखा*

डॉ. तारकनाथ बाली : *पाश्चात्य काव्यशास्त्र का इतिहास*

डॉ. मथुरेशनन्दन कुलश्रेष्ठ : *टिलियर्ड का वक्रोक्ति-सिद्धान्त*

डॉ. एन. रमन नायर : *होरेस की काव्य-कला*

डॉ. राजेन्द्र वर्मा : *साहित्य-समीक्षा के पाश्चात्य मानदण्ड*

रेनेवेलेक और आस्टिन वारेन (अनु. बी.एस. पालीवाल) : *साहित्य-सिद्धान्त*

डॉ. राजेन्द्रप्रताप सिंह : *सौन्दर्यशास्त्र की पाश्चात्य परम्परा*

डॉ. रवीन्द्रसहाय वर्मा : *पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव*

लीलाधर गुप्त : *पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त*

शरद देवड़ा (संकलनकर्त्ता) : *युग-चिन्तन*

डॉ. श्यामबिहारीलाल शर्मा : *पाश्चात्य नव्यालोचन*

डॉ. शिवकरण सिंह : *आलोचना के बदलते मानदण्ड और हिन्दी-साहित्य*

: *स्वच्छन्दतावाद और छायावाद का तुलनात्मक अध्ययन*

डॉ. शिवकुमार मिश्र : *मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन*

डॉ. हरद्वारीलाल : *सौन्दर्यशास्त्र*

डॉ. त्रिभुवन सिंह : *हिन्दी आलोचना और यथार्थवाद*

अनुक्रमणिका

(क) लेखक

अ

आ

इ

ई

ए

ऐ

क

ह

त्र

(ख) ग्रन्थ

साहित्य शास्त्र, भाषा शास्त्र, साहित्य समीक्षा

आधुनिक हिन्दी आलोचना : संदर्भ एवं दृष्टि
(पारिभाषिक शब्दावली का साक्ष्य) — डॉ० रामचन्द्र तिवारी
आलोचक का दायित्व — डॉ० रामचन्द्र तिवारी
कबीर और भारतीय संत साहित्य — डॉ० रामचन्द्र तिवारी
हिन्दी गद्य : प्रकृति और रचना सन्दर्भ — डॉ० रामचन्द्र तिवारी
कृति चिन्तन और मूल्यांकन सन्दर्भ — डॉ० रामचन्द्र तिवारी
हिन्दी का गद्य-साहित्य
(पूर्णतया संशोधित तथा परिवर्धित चतुर्थ संस्करण) — डॉ० रामचन्द्र तिवारी
कथा राम कै गूढ़ — डॉ० रामचन्द्र तिवारी
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल — डॉ० रामचन्द्र तिवारी
काव्यरस : चिन्तन और आस्वाद — डॉ० भगीरथ मिश्र
नया काव्यशास्त्र — डॉ० भगीरथ मिश्र
काव्यशास्त्र — डॉ० भगीरथ मिश्र
गोरखनाथ : नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में — डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय
भये कबीर कबीर — डॉ० शुकदेव सिंह
हिन्दी संत काव्य : समाजशास्त्रीय अध्ययन — प्रो० वासुदेव सिंह
हिन्दी नवजागरण — डॉ० गजेन्द्र पाठक
आलोचना की संस्कृति — डॉ० गजेन्द्र पाठक
क्रान्तिकारी कवि निराला — डॉ० बच्चन सिंह
हिन्दी काव्य में हनुमत् चरित्र — डॉ० मीनाकुमारी गुप्त
तुलसीकृत विनयपत्रिका का काव्यशास्त्रीय अध्ययन — डॉ० रामअवतार पाण्डेय
मुक्तिबोध की कविता — डॉ० ब्रजबाला सिंह
प्रगतिशील काव्यधारा और त्रिलोचन — डॉ० हरिनिवास पाण्डेय
प्रगतिशील आलोचना की परम्परा और डॉ० रामविलास शर्मा — डॉ० राजीव सिंह
आधुनिक हिन्दी कविता का वैचारिक पक्ष — डॉ० रतनकुमार पाण्डेय
सौन्दर्यबोध और हिन्दी नवगीत — डॉ० माधवेन्द्रप्रसाद पाण्डेय
हिन्दी व्यंग्य साहित्य और हरिशंकर परसाई — डॉ० मदालसा व्यास
फणीश्वरनाथ रेणु और उनका कथा साहित्य — डॉ० रागिनी वर्मा

विश्वविद्यालय प्रकाशन
पो०बॉ० 1149, विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
Phone & Fax : (0542) 2413741, 2413082
e-mail : sales@vvpbooks.com

Rs. 80.00
ISBN 81-7124-435-1
9788171244355
www.vvpbooks.com